॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्

६८

॥ श्रीः ॥

संस्कृत-व्याकरण

[बिहार के विश्वविद्यालयों की विभिन्न परीक्षाओं

प्रो० श्री जयमन्त मिश्र

एम्० ए०, गोल्डमेडलिस्ट,

व्याकरणाचार्य, साहित्याचार्य, प्राध्यापक—लङ्ग

बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

चौखम्बा विद्याभ

वाराणसी २२१००१

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
६८

॥ श्रीः ॥

संस्कृत-व्याकरणोदयः

[बिहार के विश्वविद्यालयों की विभिन्न परीक्षाओं में पाठ्य-स्वीकृत]

प्रो० श्री जयमन्त मिश्र
एम्० ए०, गोल्डमेडलिस्ट,
व्याकरणाचार्य, साहित्याचार्य, प्राध्यापक—लङ्गटसिंह कालेज,
बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी २२१००१

प्रकाशक
चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)
पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१
दूरध्वनि : ६३०७६

तृतीय संस्करण १९८६
Rs. 34-

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक एवं वितरक)
के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन
पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१
दूरध्वनि : ५५३५७

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
३८ यू० ए०, जवाहरनगर, बंगलो रोड
दिल्ली ११०००७

मुद्रक—
श्रीजी मुद्रणालय
वाराणसी

Foreword

..nskrit-Vyakaranodaya in Hindi by Shri Jayamanta Mishra, . A. (*Goldmedalist*), Vyakaranacharya, Sahityacharya, a former ·upil and now a Colleague of mine, is a welome publication n view of the fact that suitable books available to the students ıre not too many. The author has taken pains to explain ıdequately the grammatical concepts in consonance with the radition of Panini's school. I think it is its forte. It quotes ›opiously from the masters.

As for the matter, it strikes a middle path, being neither ›xhaustive nor elementary.

It is an endeavour of the author in the right direction and leserves encouragement.

R. N. Sharma

20th. Oct. 1955.

Prof. & Head of the Department of Sanskrit, Bihar University,
L. S. College,
MUZAFFARPUR

द्वितीय संस्करण के सम्बन्ध में

किसी रचना के सम्बन्ध में विद्वज्जन का परितोष ही उस विशेषताओं का प्रबल प्रमाण है। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है 'संस्कृत-व्याकरणोदय' द्वितीय संस्करण आपके समक्ष है जो आपके परि का परिचायक है। इस नवीन संस्करण में तीन परिशिष्ट जोड़े गये परिशिष्ट (क) में उन प्रयोगों का समाधान किया गया है जो छात्रों अत्यन्त कठिन प्रतीत होते हैं। इससे एम. ए. परीक्षा के भी छात्र अ लाभान्वित होंगे। परिशिष्ट (ख) में वैदिक व्याकरण का संक्षेप विवेचन किया गया है जो ऑनर्स के छात्रों के लिये अत्यन्त उपादे परिशिष्ट (ग) में प्रतिष्ठा परीक्षा के पाठ्यक्रम [illegible] सोदाहरण व्याख्या की गयी है जो सभी प्रकार के छात्रों के आवश्यक है।

आशा है, इस द्वितीय संस्करण से सभी प्रकार के छात्रों का उपक होगा, जिससे मेरा श्रम सफल होगा।

विनीत

लेखक

दो शब्द

छात्रों और शिक्षकों के समक्ष इस पुस्तक को उपस्थित करते हुए मुझे सीम आनन्द के साथ उसी मात्रा में संकोच भी हो रहा है। अध्यापन-कार्य ारम्भ करने के साथ ही एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता प्रतीत होने लगी ो आई. ए. तथा बी. ए. छात्रों की परमावश्यकता की पूर्ति कर सके। काले होदय का संस्कृत-व्याकरण सर्वाङ्गपूर्ण होने पर भी अंग्रेजी माध्यम से प्रति-ादित होने के कारण वर्तमान छात्रों के लिए उपयुक्त नहीं जँचता। उस पर अप्राप्य होने के कारण वह छात्रों का यत्किञ्चित् भी उपकार नहीं कर [illegible]। यह 'व्याकरणोदय' छात्रों की आवश्यकताओं को पूरा कर निश्चय ही नम [illegible] deavour of the [illegible] असीम आनन्द का कारण है। हम ास रूप में इसे देखना चाहते थे, वह प्रतिकूल परिस्थिति के कारण नहीं हो का। इसलिए इस रूप में उपस्थित करते हुए संकोच हो रहा है।

'इसमें सन्देह नहीं कि अंग्रेजी और हिन्दी माध्यम से प्रकाशित अभी तक संस्कृत व्याकरणों में यह व्याकरण अपना खास स्थान रखता है' यह मैं पने मित्रों की उक्तियों को ही लिपिबद्ध कर रहा हूँ। यद्यपि कारक, समास ादि प्रकरणों को पढ़कर इसकी यथार्थता में सन्देह नहीं रह जाता तो भी ापरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोग-विज्ञानम्' वाली बात भूली नहीं जा कती।

मुझे विश्वास है कि संस्कृत-व्याकरण में जिनका बिलकुल प्रवेश नहीं है के लिए भी यह परम उपकारक होगा। इसलिए कुछ ऐसे विषय भी ारम्भ में आ गये हैं, जो कालेज-छात्रों को आपाततः अनावश्यक प्रतीत हों।

परीक्षार्थियों की सुविधा को ध्यान में रखकर कुछ 'स्त्री-प्रत्ययान्त शब्द' त कतिपय 'अनेक शब्दों के लिए एक शब्द' दे दिये गये हैं।

पुस्तक बहुत हड़बड़ी में लिखी गई तथा प्रकाशित हुई है। इसलि कतिपय उपयुक्त विषय भी पुस्तक का आकार बहुत बढ़ जाने के भय से छ देने पड़े हैं। इतनी शीघ्रता में सम्पादित होने पर भी, स्वनामधन्य पूज्यप पं० श्री जीवनाथराय जी के पथ-प्रदर्शन तथा शुभाशीर्वाद के परिणामस्व ही यह पुस्तक आपके सामने इस रूप में आ सकी है। जीवन्मुक्तावस्था में र हुए भी उन्होंने जो राय दी है वह शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती

'प्रथम संस्करण में मुद्रण बिल्कुल शुद्ध नहीं होता' प्रेस वालों धारणा से जो उपेक्षाएँ होती हैं उनसे छपाई में बहुत त्रुटियाँ रह गई हैं। पर भी लेखक और प्रेस के बीच में पचासों मील की दूरी होने के 'प्रूफ' का संशोधन समुचित रूप से नहीं हो सका है। काँटे की भूलें तो हृद काँटे-सी चुभती हैं किन्तु दृष्टि-दोष से या अदृष्ट दोष से इसका सहन तो द्वि संस्करण तक करना ही पड़ेगा।

यदि इस पुस्तक से विश्वविद्यालय के छात्रों तथा अन्यान्य छात्रों उपकार हुआ तो मैं अपने समय तथा परिश्रम को सफल समझूँगा।

विनीत

लेखक

विषयानुक्रमणिका

॥ श्रीः ॥

संस्कृत-व्याकरणोदय

विधाय कृष्णाङ्घ्रि-सरोज-वदनं
निधाय चित्ते च मुनित्रयं मुदा ।
विभाव्य तत्-साधु-वचश्च सादरं
विधीयते व्याकरणोदयो मया ॥

संज्ञा-प्रकरण

"व्याक्रियन्ते व्यत्पाद्यन्ते शब्दाः अनेन इति व्याकरणम्" जिसके द्वारा शब्दों की व्युत्पत्ति की जाय, अर्थात् उनकी सिद्धि और बनावट का ज्ञान हो, उसे व्याकरण कहते हैं। व्याकरण के द्वारा ही शुद्धि-अशुद्धि का ज्ञान होता है। यह निश्चित है कि जब तक व्याकरण का पूरा ज्ञान नहीं होता है, तब तक संस्कृत साहित्य को समझने में बड़ी कठिनाई होती है। इसलिए व्याकरणशास्त्र वेद के भी सभी अङ्गों में प्रधान माना गया है—"मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।" चाहे वैदिक संस्कृत हो या लौकिक संस्कृत, उनके अर्थ करने में वही व्यक्ति निःसन्देह रहता है, जिसे व्याकरण का ठोस ज्ञान है।

प्रत्याहार-सूत्र

व्याकरणशास्त्र के आधारभूत ये ही अधोलिखित चतुर्दश सूत्र हैं, जिनसे लगभग ४४ प्रत्याहार बनते हैं। प्रत्याहार शब्द का अर्थ है—"प्रत्याह्रियन्ते संक्षिप्यन्ते वर्णाः अस्मिन् इति

प्रत्याहारः ।" जिसमें वर्णों का संक्षेप किया जाय, उसे प्रत्याहार कह हैं। अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ और औ, इतने वर्ण यदि कह हैं तो केवल 'अच्' कहने से काम चल जाता है। इसी प्रका अच्, अक्, अण्, यण् आदि संज्ञाशब्दों को प्रत्याहार कह हैं। ये प्रत्याहार 'अइउण्' इत्यादि सूत्रों के आधार पर बनते हैं ये सूत्र ये हैं—

(१) अइउण् । (२) ऋऌक् । (३) एओङ् । (४) ऐऔच् । (५) हयवरट् । (६) लण् । (७) ञमङणनम् । (८) झभञ् । (९) घढधष् । (१०) जबगडदश् । (११) खफछठथचटतव् । (१२) कपय् । (१३) । शषसर् । (१४) हल् ।

ये चतुर्दश सूत्र माहेश्वर सूत्र कहलाते हैं, क्योंकि ये महेश्व की कृपा से महर्षि पाणिनि को उनसे प्राप्त हुए थे। इन सूत्रों अन्तिम वर्ण केवल प्रत्याहार बनाने के लिए प्रयुक्त हैं। प्रत्याहार में अन्तिम वर्णों का ग्रहण नहीं होता है।

प्रत्याहार बनाने की रीति :—'अइउण्' के अकार और 'ऐऔच के चकार को लेकर 'अच्' प्रत्याहार बनता है। 'अ' से लेकर 'च पर्यन्त अन्तिम वर्ण (जैसे ण्, क्, ङ् और च्) को छोड़कर जित वर्ण हैं, 'अ इ उ, ऋ ऌ, ए ओ, ऐ औ' इन सबों का अच् से ग्रह होता है। इसी तरह 'अक्, इक्, उक्, यण, अण आदि प्रत्याहा तत्तत् सूत्रों के आदि या मध्य तथा अन्त के वर्णों को लेकर बन हैं। ऐसे ही सुप् और तिङ् भी प्रत्याहार हैं। 'सुप्' कहने से सु लेकर सुप पर्यन्त २१ विभक्तियाँ संग्रहीत होती हैं। तिङ् के अन्तर्ग 'तिप्' से लेकर 'महिङ्' पर्यन्त १८ विभक्तियाँ आती हैं। व्याकरण शास्त्र में इन प्रत्याहार-सूत्रों से बने हुए निम्नलिखित प्रत्याहार का व्यवहार होता है। अतः छात्रों को चाहिए कि इनका पूरा ज्ञा

कर लें। आगे इन प्रत्याहारों का ही उपयोग किया जायगा। जैसे—

'अइउण्' के 'ण्' से १—'अण्'।
'ऋऌक्' के 'क्' से ३—अक्, इक्, उक्।
'एओङ्' के 'ङ्' से १—एङ्।
'ऐऔच्' के 'च्' से ४—अच्, इच्, एच्, ऐच्।
'हयवरट्' के 'ट्' से १—अट्।
'लण्' के 'ण्' से ३—अण्, इण्, यण्।
'ञमङणनम्' के 'म्' से ४—अम्, यम्, ञम्, ङम्।
'झभञ्' के 'ञ् से १—यञ्।
'घढधष्' के 'ष्' से २—झष्, भष्।
'जबगडदश्' के 'श्' से ६—अश्, हश्, वश्, झश्, जश्, बश्।
'खफछठथचटतव्' के 'व्' से १—छव्।
'कपय्' के 'य्' से ५—यय्, मय्, झय्, खय्, चय्।
'शषसर्' के 'र्' से ५—यर्, झर्, खर्, चर्, शर्।
'हल्' के 'ल्' से ६—अल्, हल्, वल्, रल्, झल्, शल्।

'लण्' के ल के बाद 'अ' से भी एक होता है 'र' प्रत्याहार, जिसमें 'र् ल्' दो वर्ण होते हैं। इन्हीं ४४ प्रत्याहारों का सन्धि के सूत्रों में उपयोग हुआ है।

यहाँ पर अ, इ, उ आदि ह्रस्व वर्णों से दीर्घ और प्लुत भी समझना चाहिए। एक मात्रा जिसमें हो उसे ह्रस्व, दो मात्राएँ जिसमें हों उसे दीर्घ और तीन मात्राएँ जिसमें हों उसे प्लुत कहते हैं। व्यञ्जन में आधी मात्रा होती है।

एकमात्रो भवेद् ह्रस्वः, द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।
त्रिमात्रश्च प्लुतो ज्ञेयः, व्यञ्जनं चार्धमात्रिकम्॥

जैसे—'सुशील३' शब्द में तीनों स्वर उ, ई, अ क्रमसे ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत हैं। 'ऌ' का दीर्घ नहीं होता है।

(ग) वर्णों के उच्चारण-स्थान और प्रयत्न

	स्थान	स्वर		व्यञ्जन				
		ह्रस्व	दीर्घ	स्पर्श		अन्तःस्थ	ऊष्म	अयोगवाह
अ कु ह विसर्जनीयानां ...	कण्ठः	अ	आ	क् ख् ग् घ्	ङ्		ह्	(:) विसर्ग
इ चु य शा नां	तालु:	इ	ई	च् छ् ज् झ्	ञ्	य्	श्	
ऋ टु र षा णां	मूर्धा	ऋ	ॠ	ट् ठ् ड् ढ्	ण्	र्	ष्	
ऌ तु ल सा नां	दन्ताः	ऌ		त् थ् द् ध्	न्	ल्	स्	
उपूपध्मानीयानाम्	ओष्ठौ	उ	ऊ	प् फ् ब् भ्	म्	व्		⌣⌢ उप-
यकारस्य	दन्तोष्ठम्							ध्मानीय
एदैतोः	कण्ठ-तालु		ए, ऐ		ञमङणनानां०			
ओदौतोः	कण्ठोष्ठम्		ओ, औ					⌣⌢ जिह्वा-
जिह्वामूलीयस्य	जिह्वामूलम्							मूलीय
अनुस्वारस्य	नासिका							(ं)
प्रयत्नः		विवृतम् स्वराणाम्		स्पृष्टं प्रयत्नं स्पर्शानाम्		ईषत्स्पृष्टम् अन्तःस्थानाम्	ईषद्विवृतम् ऊष्मणाम्	

नोट—कु चु टु तु पु से क्रम से कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग समझना चाहिए।

कुछ आवश्यक संज्ञाएँ

१. सवर्ण-संज्ञा—"तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" (पाणिनीयसूत्रम्)

जिस वर्ण के कण्ठ, तालु आदि स्थान और स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट आदि प्रयत्न जिस वर्ण के साथ तुल्य होते हैं, वे दोनों वर्ण परस्पर 'सवर्ण' कहलाते हैं। जैसे—अ और आ, इ और ई, क और ख आदि सवर्ण हैं। किन्तु 'अ' और 'इ' सवर्ण नहीं हैं, क्योंकि इनके विवृत प्रयत्न एक होने पर भी स्थान एक नहीं हैं। इसी तरह 'अ' और 'ह' का कण्ठ स्थान एक होने पर भी प्रयत्न भिन्न होने के कारण दोनों सवर्ण नहीं हैं। किन्तु 'ऋ' और 'लृ' का स्थान भिन्न होने पर भी दोनों विशेष विधान से सवर्ण हैं।

२. वृद्धिसंज्ञा—"वृद्धिरादैच्" (पा० सू०)

आ और ऐच् (ऐ और औ) को 'वृद्धि' कहते हैं।

३. गुणसंज्ञा—"अदेङ्गुणः" (पा० सू)

अ और एङ् (ए और ओ) का नाम 'गुण' है।

४. संयोगसंज्ञा—"हलोऽनन्तराः संयोगः" (पा० सू०)

अच् से रहित अनेक हल् को 'संयोग' कहते हैं। जैसे 'इन्द्र' में 'न्द्र' संयोग है।

५. लघुसंज्ञा—"ह्रस्वं लघु" (पा० सू०)

ह्रस्व अक्षर को 'लघु' कहते हैं। इसमें एक मात्रा होती है। जैसे 'इह' लघु है।

६. गुरुसंज्ञा—"संयोगे गुरु" "दीर्घं च" (पा० सू०)

संयोग से पूर्व ह्रस्व भी 'गुरु' कहलाता है और दीर्घ स्वर की 'गुरु'संज्ञा होती है। जैसे—'इन्द्र' में 'इ' गुरु है। और 'ईश' में 'ई' गुरु है।

७. विभक्तिसंज्ञा—"विभक्तिश्च" (पा० सू०)

सुप् और तिङ् को 'विभक्ति' कहते हैं।

८. पदसंज्ञा—"सुप्तिङन्तं पदम्" (पा० सू०)

सुबन्त और तिङन्त को (अर्थात् जिसके अन्त में सुप् अथव तिङ् हों उन्हें) 'पद' कहते हैं। जैसे रामः, कृष्णेन, पठतु, चलतु आदि पद हैं।

९. धातुसंज्ञा—"भूवादयो धातवः" (पा० सू०)

क्रियावाचक भू, कृ, गम् आदि को 'धातु' कहते हैं।

१०. परस्मैपदसंज्ञा—"लः परस्मैपदम्" (पा० सू०)

लकार के स्थान में 'तिप्' से लेकर 'मस्' पर्यन्त ९ प्रत्यय औ 'शतृ' प्रत्यय आयें तो उनको 'परस्मैपद' कहते हैं।

११. आत्मनेपदसंज्ञा—"तङानावात्मनेपदम्" (पा० सू०)

त, आताम् से लेकर महिङ् पर्यन्त ९ विभक्तियों तथा आ (शानच्, कानच् आदि) को आत्मनेपद कहते हैं।

१२. उपसर्ग और गतिसंज्ञा—"उपसर्गाः क्रियायोगे" "गतिश्च" (पा० सू०)

प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ् नि, अधि, अपि, अति, सु, उत्, अभि, प्रति, परि, उप—इनक 'प्रादि' कहते हैं। ये प्रादि जब क्रिया के साथ आते हैं, तब उनकी 'उपसर्ग' संज्ञा और 'गति' संज्ञा होती है। इनका प्रयोग लोक धातु से अव्यवहित पूर्व होता है। जैसे अनुभवति, आगच्छति आदि में धातु से पूर्व उपसर्ग हैं।

१३. विभाषासंज्ञा—"न वेति विभाषा" (पा० सू०)

निषेध और विकल्प को 'विभाषा' कहते हैं।

१४. संहितासंज्ञा—"परः सन्निकर्षः संहिता" (पा० सू०)

वर्णों का जो अत्यन्त सामीप्य हो, उसे 'संहिता' कहते हैं। संहित रहने पर ही सन्धि होती है। जैसे—मधु+अरिः=मध्वरिः में 'उ' और 'अ' में संहिता है।

१५. उपधासंज्ञा—"अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा" (पा० सू०)

अन्त्य 'अल्' से पूर्व वर्ण को 'उपधा' कहते हैं। जैसे—'राजन्' में अन्त्य 'न्' से पूर्व 'अ' उपधा है।

१६. घसंज्ञा—"तरप्तमपौ घः" (पा० सू०)

तरप् और तमप् की संज्ञा 'घ' है। जैसे—पट्वितरा, पट्वितमा।

१७. सर्वनामस्थानसंज्ञा—"सुट् सर्वनामस्थानम्" (पा० सू०) 'शि सर्वनामस्थानम्" (पा० सू०)

सु, औ, जस्, अम्, औट् और शि को 'सर्वनामस्थान' कहते हैं।

१८. सर्वनामसंज्ञा—"सर्वादीनि सर्वनामानि' (पा० सू०)

सर्व, विश्व, उभ, तद्, यद्, युष्मद्, अस्मद्, किम् आदि ३५ शब्दों का नाम 'सर्वनाम' है।

१९. टिसंज्ञा—'अचोऽन्त्यादि टि' (पा० सू०)

अच् समुदाय के बीच जो अन्तिम अच् और उस अच् सहित उसके आगे का जो हल् वर्ण उसे 'टि' कहते हैं। जैसे—'शक' में 'क' के बाद 'अ' और 'मनस्' में 'न' के बाद 'अस्' 'टि' है।

२०. नदीसंज्ञा—"यूस्त्र्याख्यौ नदी" "ङिति ह्रस्वश्च"— (पा० सू०)

दीर्घ ईकारान्त और दीर्घ ऊकारान्त नित्य स्त्रीलिङ्ग शब्द 'नदी'संज्ञक हैं और ह्रस्व इकारान्त तथा ह्रस्व उकारान्त भी नित्य स्त्रीलिङ्ग शब्द 'नदी' संज्ञक हैं। जैसे—गौरी, वधू और मति, धेनु आदि शब्द।

२१. घिसंज्ञा—"शेषोध्यसखि" (पा० सू०)

नदीसंज्ञक से भिन्न तथा सखि शब्द को छोड़कर ह्रस्व इकारान्त और उकारान्त शब्दों की 'घि' संज्ञा होती है। जैसे—कवि, हरि, आदि। किन्तु 'पति' शब्द केवल समास ही में 'घि' संज्ञक है। जैसे—श्रीपति, भूपति, सेनापति आदि।

इसके अतिरिक्त भी 'घु' 'भ' 'अवसान' 'उपपद' आदि अनेक संज्ञाएँ हैं।

सन्धि-प्रकरण

सन्धि (Euphonic Combination of Letters)

संहिता रहने पर जब दो स्वर या दो व्यञ्जन या दो स्वर व्यञ्जन आपस में मिलकर एक तृतीय विकृत रूप धारण करते हैं तब उसे 'सन्धि' कहते हैं। इस सन्धि में कहीं दोनों वर्णों की जगह एक तीसरा वर्ण हो जाता है। जैसे—गिरि+इन्द्रः=गिरीन्द्र (इ+इ=ई), तत्+शिवः=तच्छिवः (त्+श=च्छ) और कहीं दो में से एक के स्थान में दूसरा वर्ण हो जाता है। जैसे—इति+आदि=इत्यादि (इ+आ=या), जगत्+ईशः=जगदीश (त्+ई=दी)।

जिस संहिता के रहने पर सन्धि होती है, वह संहिता कहीं तो नित्य, अर्थात् अनिवार्य है और कहीं ऐच्छिक है। जैसे—

संहितैकपदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे, वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥

अर्थात्—एकपद में, धातु और उपसर्ग में तथा समास में संहिता अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त वाक्य में संहिता ऐच्छिक है। जैसे—'कवये अध्येतुं नरेन्द्रः पुस्तकं ददाति'—यहाँ पर 'कवये' की जगह 'कवेए', 'अध्येतुम्' की जगह 'अधिएतुम्' 'नरेन्द्रः' की जगह 'नरइन्द्रः' लिखना या बोलना अशुद्ध है। यहाँ संहिता अनिवार्य है, अतः 'कवये' 'अध्येतुम्' तथा 'नरेन्द्रः' ऐसा ही लिखना या बोलना होगा। किन्तु 'पुस्तकं ददाति' की जगह 'पुस्तकम् ददाति' ऐसा भी लिखा या बोला जा सकता है।

संस्कृत भाषा में सन्धि और समास के द्वारा सौन्दर्य बढ़ता है, अतः इनका ज्ञान अच्छी तरह से अपेक्षित है।

सन्धि के भेद

(१) अच्सन्धि, (२) प्रकृतिभाव, (३) हल्सन्धि, (४) विसर्ग-सन्धि और (५) स्वादिसन्धि के भेद से पाँच भेद करते हैं।

[१] अच्-सन्धि

जब स्वर के साथ स्वर की सन्धि होती है, उस सन्धि को स्वर-सन्धि या अच्-सन्धि कहते हैं। जैसे—

दधि+अत्र=दध्यत्र आदि यण सन्धि,
मुर+अरिः=मुरारिः आदि दीर्घ सन्धि,
हरे+ए=हरये आदि अयादि सन्धि,
रमा+ईशः=रमेशः आदि गुण सन्धि,
कृष्ण+एकता=कृष्णैकता आदि वृद्धि सन्धि,
प्र+एजते=प्रेजते आदि पररूप सन्धि,
हरे+अव=हरेऽव आदि पूर्वरूप सन्धि।

अच् सन्धि में ये उपर्युक्त सन्धियाँ मुख्य हैं। इनमें और जो कुछ विशेष सन्धियाँ होती हैं, उनका विवेचन भी इनके साथ-साथ किया जायगा।

(१) यण्सन्धि

"इको यणचि" (पा० सू०)

इक् (इ उ ऋ ऌ) के बाद यदि अच् (अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ए औ) का कोई असवर्ण स्वर हो तो इक् की जगह क्रम से य् व् र् तथा ल् हो जाते हैं। यहाँ ह्रस्व स्वर से दीर्घ स्वर भी समझना चाहिए या यों समझिये—

(क) यदि ह्रस्व इ या दीर्घ ई के बाद इ, ई को छोड़कर अन्य कोई स्वरवर्ण हो तो इ या ई की जगह य् होता है और वह 'य्' आगे के स्वर से मिल जाता है। जैसे—

(१) इ का य्; जैसे—यदि+अपि=यद्यपि, दधि+अत्र=दध्यत्र, इति+आदि =इत्यादि, अति+आचारः=अत्याचारः, अति+

उत्तमः=अत्युत्तमः, प्रति+ऊहः=प्रत्यूहः, प्रति+ऋचम्=प्रत्यृचम्, प्रति+एकम्=प्रत्येकम्, अति+ऐश्वर्यम्=अत्यैश्वर्यम्, प्रति+ओषधि=प्रत्योषधि, मति+औत्सुक्यम्=मत्यौत्सुक्यम् आदि।

(२) ई का य्; जैसे—नदी+अत्र=नद्यत्र, नदी+आवेगः=नद्यावेगः, नदी+उद्धारः=नद्युद्धारः, सखी+ऊहः=सख्यूहः, बली+ऋणी=बल्यृणी, देवी+एका=देव्येका, देवी+ऐश्वर्यम्=देव्यैश्वर्यम्, नदी+ओकः=नद्योकः, वाणी+औचित्यम्=वाण्यौचित्यम्।

(ख) उ तथा ऊ के बाद उ, ऊ को छोड़कर यदि कोई स्वर आगे रहे तो उ, ऊ की जगह व् हो जाता है।

(१) उ की जगह व्; जैसे—अनु+अयः=अन्वयः, सु+आगतम्=स्वागतम्, मधु+इदम्=मध्विदम्, मधु+ईशः=मध्वीशः, मधु+ऋते=मध्वृते, मधु+एव=मध्वेव, साधु+ऐश्वर्यम्=साध्वैश्वर्यम्, पचतु+ओदनम्=पचत्वोदनम्, ददातु+औषधम्=ददात्वौषधम्।

(२) ऊ की जगह व्; यथा—सरयू+अम्बु=सरय्वम्बु, वधू+आसनम्=वध्वासनम्, वधू+इच्छा=वध्विच्छा, तनू+ईशः=तन्वीशः, वधू+ऋणम्=वध्वृणम्, वधू+एधितम्=वध्वेधितम्, वधू+ऐश्वर्यम्=वध्वैश्वर्यम्, वधू+ओकः=वध्वोकः, वधू+औदार्यम्=वध्वौदार्यम्।

(ग) ऋ तथा ॠ के बाद ऋ, ॠ और ऌ को छोड़कर किसी स्वर के रहने पर ऋ, ॠ के स्थान में 'र्' हो जाता है। यथा—पितृ+अनुमतिः=पित्रनुमतिः, मातृ+आदेशः=मात्रादेशः, भ्रातृ+इच्छा=भ्रात्रिच्छा, पितृ+ईहा=पित्रीहा, मातृ+एषणा=मात्रेषणा, भ्रातृ+ऐश्वर्य=भ्रात्रैश्वर्यम्, स्वसृ+ओकः=स्वस्रोकः, दुहितृ+औदासीन्यम्=दुहित्रौदासीन्यम्।

(घ) ऌ के बाद ऋ, ॠ और ऌ को छोड़कर कोई स्वर हो तो ऌ का 'ल्' हो जाता है। यथा ऌ+आकृतिः=लाकृतिः।

"अचो रहाभ्यां द्वे" (पा० सू०)

"अच्" से आगे यदि रेफ या हकार हो तो उससे परे 'यर्' (हकार को छोड़कर सभी व्यञ्जनों) को विकल्प से द्वित्व हो जाता है। जैसे—अर्क्कः, अर्कः, कार्य्यम्, कार्यम्, वीर्य्यम्, वीर्यम्, सूर्य्यः, सूर्यः, ब्रह्म्मा, ब्रह्मा आदि।

"अनचि च" (पा० सू०)

'अच्' से परे 'यर्' को विकल्प से द्वित्व होता है, यदि उसके आगे 'अच्' न हो। जैसे—दद्ध्यत्र, दध्यत्र, मद्ध्वरिः, मध्वरिः, आदि। किन्तु दीर्घ से परे यदि यर् हो तो कुछ आचार्यों के मत में द्वित्व नहीं होता है। जैसे—दात्रम्, पात्रम्, सूत्रम् आदि।

(२) दीर्घसन्धि

"अकः सवर्णे दीर्घः' (पा० सू०)

अक् (अ इ उ ऋ ऌ) के बाद यदि सवर्ण अच् हो तो दोनों की जगह दीर्घ हो जाता है या यों समझिये—यदि ह्रस्व या दीर्घ 'अ' के बाद ह्रस्व या दीर्घ 'अ' हो तो दोनों मिलकर आ, ह्रस्व या दीर्घ 'इ' के बाद ह्रस्व या दीर्घ 'इ' हो तो दोनों मिलकर ई, ह्रस्व या दीर्घ उकार के बाद ह्रस्व या दीर्घ उकार हो तो दोनों मिलकर ऊ तथा ऋ, ॠ, ऌ के बाद ऋ ॠ या ऌ हो तो दोनों मिलकर ॠ हो जाते हैं।

(क) अ+अ=आ, जैसे—मुर+अरिः=मुरारिः।
अ+आ=आ, ,, देव+आलयः=देवालयः।
आ+अ=आ, ,, लता+अत्र=लतात्र।
आ+आ=आ ,, विद्या+आलयः=विद्यालयः।

नोट—अ+अ कुछ जगहों में आ नहीं भी होते हैं, दोनों मिलकर 'अ' हो जाते हैं जैसे—मार्त+अण्डः=मार्तण्डः, कुल+अटा=कुलटा, शक+अन्धुः=शकन्धुः, कर्क+अन्धुः=कर्कन्धुः आदि। देखिए पररूपसन्धि।

(ख) इ+इ=ई, जैसे—गिरि+इन्द्रः=गिरीन्द्रः।
इ+ई=ई, जैसे गिरि+ईशः=गिरीशः।
ई+इ=ई, यथा—देवी+इच्छा=देवीच्छा।
ई+ई=ई, यथा—मही+ईशः=महीशः।

नोट—इसका अपवादसूत्र "ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" ध्यान में रखना चाहिए, इस सूत्र से हरी ईशौ=हरी ईशौ आदि में दीर्घ नहीं होता है।

(ग) उ+उ=ऊ, यथा—विधु+उदयः=विधूदयः।
उ+ऊ=ऊ, ,, गुरु+ऊहः=गुरुहः।
ऊ+उ=ऊ, ,, चमू+उत्साहः=चमूत्साहः।
ऊ+ऊ=ऊ, ,, वधू+ऊहनम्=वधूहनम्।

नोट—इस नियम का पूर्वोक्त अपवादसूत्र ध्यान में रखना चाहिए जहाँ पर विष्णू—उमेशौ में दीर्घ नहीं होता है।

(घ) १. ऋ+ऋ=ॠ, यथा—मातृ+ऋणम्=मातॄणम् पितृ+ऋद्धिः=पितॄद्धिः।

२. ऋ+ऌ=ॠ, यथा—होतृ+ऌकारः=होतॄकारः।

(३) अयादिसन्धि

"एचोऽयवायावः" (पा० सू०)

एच् (ए ओ ऐ औ) के आगे यदि कोई स्वर वर्ण हो तो क्रम से ए के स्थान में अय्, ओ के स्थान में अव्, ऐ की जगह आय् और औ की जगह आव् हो जाते हैं। जैसे :—

(क) ए+अ=अय्, यथा—शे+अनम्=शयनम्। कवे+ए=कवये, ने+अनम्=नयनम्।

(ख) ओ+अ=अव्, यथा—भो+अनम्=भवनम्। भानो+ए=भानवे।

(ग) ऐ+अ=आय्, यथा—नै+अकः=नायकः।

(घ) औ+अ=आव्, यथा—पौ+अकः=पावकः।

"वान्तो यि प्रत्यये" (पा० सू०)

यकारादि प्रत्यय आगे रहने पर ओ और औ को क्रम से अव् और आव् आदेश हो जाता है। जैसे—गो+य=गव्य—गव्यम्। नौ+य=नाव्य—नाव्यम् आदि।

गो शब्द के आगे 'यूति' शब्द रहने पर ओ को अव् हो जाता है। जैसे—गो+यूतिः=गव्यूतिः।

"क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे" (पा० सू०)

शक्य अर्थ रहने पर यकारादि प्रत्यय से पूर्व 'क्षे' और 'जे' को अय् हो जाता है। जैसे—क्षे+यम्=क्षय्यम् (क्षेतुं शक्यम्)। जे+यम्=जय्यम् (जेतुं शक्यम्)।

शक्यार्थ से भिन्न में 'क्षेयम्' और 'जेयम्' होता है। इसी तरह बेचने के लिए प्रसारित वस्तु के लिए 'क्रय्यम्' (क्रे+यम्=क्रय्यम्) होता है। अन्यत्र 'क्रेयम्' होगा।

"लोपः शाकल्यस्य" (पा० सू०)

अवर्ण (अ, आ) से आगे पदान्त यकार और वकार का विकल्प से लोप हो जाता है यदि उसके आगे अश् (वर्ग के प्रथम, द्वितीय तथा श् ष् स् को छोड़कर कोई) वर्ण हो। जैसे—हरे+एहि=हरय्+एहि=हरएहि हरयेहि। विष्णो+इह=विष्णव्+इह=विष्ण इह विष्णविह। श्रियै+उद्यतः=श्रियाय्+उद्यतः=श्रिया उद्यतः, श्रियायुद्यत्तः। गुरौ+उत्कः=गुराव्+उत्कः=गुरा उत्कः, गुरवुत्कः इत्यादि। किन्तु हरे+ए=हरये ही होगा न कि 'हरए' भी, क्योंकि यहाँ यकार पदान्त नहीं है।

(४) गुणसन्धि

"आद्गुणः" (पा० सू०) (गुण=अ ए ओ)

अ अथवा आ के बाद यदि इ या ई हो तो दोनों की जगह 'ए', अ या आ के बाद यदि उ या ऊ हो तो दोनों की जगह 'ओ', अ या आ के बाद यदि ऋ या ॠ हो तो दोनों के स्थान में 'अर्' और अ अथवा आ के बाद यदि ऌ हो तो दोनों की जगह 'अल्' हो जाते हैं। जैसे–

(क) अ+इ=ए, यथा—देव+इन्द्रः=देवेन्द्रः।
अ+ई=ए, यथा—नर+ईशः=नरेशः।
आ+इ=ए जैसे—रमा+इन्द्रः=रमेन्द्रः।
आ+ई=ए, जैसे—गङ्गा+ईशः=गङ्गेश।

(ख) अ+उ=ओ, जैसे—चन्द्र+उदयः=चन्द्रोदयः।
अ+ऊ=ओ, जैसे—एक+ऊनविंशः=एकोनविंशः।
आ+उ=ओ, यथा—गङ्गा+उदकम्=गङ्गोदकम्।
आ+ऊ=ओ, जैसे—यमुना+ऊर्मिः=यमुनोर्मिः।

(ग) अ+ऋ=अर्, यथा—राज+ऋषिः=राजर्षिः।
आ+ऋ=अर्, यथा—महा+ऋषिः=महर्षिः।

(घ) अ+ऌ=अल्, जैसे—तव+ऌकारः=तवल्कारः।

(५) वृद्धिसन्धि

"वृद्धिरेचि" (पा० सू०) (वृद्धि=आ ऐ औ)

अवर्ण (अ, आ) के बाद यदि एच् (ए ओ ऐ औ का कोई वर्ण) हो तो दोनों की जगह वृद्धि (ऐ, औ) हो जाती है। अर्थात् अ या आ के बाद यदि ए या ऐ हो तो दोनों मिलकर ऐ हो जाते हैं। इसी तरह अ या आ के बाद यदि ओ या औ हो तो दोनों की जगह औ हो जाता है, जैसे—

(क) अ+ए=ऐ, यथा—तव+एव=तवैव,
अद्य+एव=अद्यैव।
अ+ऐ=ऐ, यथा—तव+ऐश्वर्यम्=तवैश्वर्यम्
मत+ऐक्यम्=मतैक्यम्।
आ+ए=ऐ, यथा—सदा+एव=सदैव,
तथा+एव=तथैव।
आ+ऐ=ऐ, यथा—महा+ऐश्वर्यम्=महैश्वर्यम्,
सदा+ऐक्यम्=सदैक्यम्।

(ख) अ+ओ=औ, यथा—तव+ओकः=तवौकः,
जल+ओघः=जलौघः।

अ + औ = औ, यथा—तव + औदार्यम् = तवौदार्यम्,
कृष्ण + औत्कण्ठचम् = कृष्णौत्कण्ठचम् ।

आ + ओ = औ, यथा—महा + औषधिः = महौषधिः
महा + ओकः = महौकः ।

आ + औ = औ, यथा—महा + औत्सुक्यम्—महौत्सुक्यम्,
महा + औदार्यम् = महौदार्यम् ।

"एत्येधत्यूठ्सु" (पा० सू०)

अवर्ण से आगे एकारादि 'इण्' धातु और 'एध्' धातु के रहने पर तथा ऊठ् सम्बन्धी ऊकार के रहने पर दोनों के स्थान में वृद्धि हो जाती है। जैसे—उप + एति = उपैति, उप + एधते = उपैधते, अव + एषि = अवैषि, अव + एधसे = अवैधसे, परा + एमि = परैमि, परा + एधे = परैधे, प्रष्ठ + ऊहः = प्रष्ठौहः आदि ।

यहाँ पर 'उपैति' इत्यादि में पररूप नहीं होता है और 'प्रष्ठौहः' 'विश्वौहः' इत्यादि में गुण नहीं होता है ।

'अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्' (कात्यायनवार्तिकम्)

अक्ष शब्द के बाद ऊहिनी शब्द रहने पर 'अ' और 'ऊ' की जगह वृद्धि हो जाती है। जैसे अक्ष + ऊहिणी = अक्षौहिणी ।

'स्वादीरेरिणोः' (का० वा०)

स्व शब्द के आगे ईर, ईरिन् या ईरिणी शब्द रहने पर 'अ + ई' के स्थान में वृद्धि हो जाती है। जैसे—स्व + ईरः = स्वैरः, स्व + ईरी = स्वैरी, स्व + ईरिणी = स्वैरिणी ।

'प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु' (का० वा०)

प्र उपसर्ग से परे 'ऊह', ऊढ', 'ऊढि', 'एष', 'एष्य', शब्द रहने पर अ, ऊ आदि दोनों की जगह वृद्धि हो जाती है। जैसे—प्र + ऊहः = प्रौहः, प्र + ऊढः = प्रौढः, प्र + ऊढिः = प्रौढिः, प्र + एषः = प्रैषः, प्र + एष्यः = प्रैष्यः ।

'ऋते च तृतीयासमासे' (का० वा०)

तृतीया समास में अवर्ण से आगे ऋत शब्द रहने पर 'अ ऋ' दोनों की जगह वृद्धि-एकादेश हो जाता है। जैसे—(सुखेन ऋतः) सुख+ऋतः=सुखार्तः, (दुःखेन ऋतः) दुःख+ऋतः=दुखार्तः आदि, किन्तु (परमः ऋतः) परम+ऋतः=परमर्तः, न कि परमार्तः।

'प्र-वत्सतर-कम्बल-वसनार्ण-दशानामृणे' (का० वा०)

प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण, दश इन शब्दों के आगे 'ऋण' शब्द रहने पर अ+ऋ की जगह वृद्धि होती है। जैसे—प्र+ऋणम्=प्रार्णम्, वत्सतर+ऋणम्=वत्सतरार्णम्, कम्बल+ऋणम्=कम्बलार्णम्, वसन+ऋणम्=वसनार्णम्, ऋण+ऋणम्=ऋणार्णम्, दश+ऋणः=दशार्णः (देशः) दशार्णा (नदी) आदि।

"उपसर्गादृति धातौ" (पा० सू०)

यदि अकारान्त या आकारान्त उपसर्ग से परे ऋकारादि धातु हो तो वृद्धि एकादेश होता है। जैसे—प्र+ऋच्छति=प्रार्च्छति, उप+ऋच्छति=उपार्च्छति।

(६) पररूपसन्धि

"एङि पररूपम्" (पा० सू०)

अवर्णान्त उपसर्ग से परे यदि एङादि धातु हो (अर्थात् ऐसा धातु जिसके आदि में एकार या ओकार हो तो) उपसर्ग का अन्तिम अ या आ धातु के आदि एकार या ओकार में मिल जाता है, अर्थात् उसे पररूप होता है।

जैसे—प्र+एजते=प्रेजते, अप+एजते=अपेजते।
प्र+ओषति=प्रोषति, उप+ओषति=उपोषति,
परा+एजते=परेजते, परा+ओषति=परोषति।

'एवे चानियोगे' (का० वा०)

अवर्ण से परे एव का अनियोग (अनिश्चय) अर्थ रहने पर दोनों के स्थान में पररूप एकादेश होता है। जैसे—क्व+एव=क्वेव।

किन्तु एव का निश्चय अर्थ रहने पर वृद्धि ही होती है। जैसे—अद्यैव, तवैव इत्यादि।

'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' (का० वा०)

शकन्ध्वादि गण में जितने शब्द हैं उनकी सिद्धि के लिए 'शक' आदि के 'टि' और अन्धु आदि के अकार के स्थान में पररूप एकादेश होता है। जैसे—शक+अन्धुः=शकन्धुः, कर्क+अन्धुः=कर्कन्धुः, कुल+अटा=कुलटा, मृत+अण्डः=मृतण्डः (जिसका अपत्य मार्तण्डः), सीमन्+अन्तः=सीमन्तः (केश-वेश अर्थ में), पतत्+अञ्जलिः=पतञ्जलिः, मनस्+ईषा=मनीषा, हल+ईषा=हलीषा, लाङ्गल+ईषा=लाङ्गलीषा, सार+अङ्गः=सारङ्गः (पशु-पक्षी अर्थ में), (इससे भिन्न अर्थ में साराङ्गः) इत्यादि।

'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' (का० वा०)

अवर्ण से परे ओतु और ओष्ठ शब्द के रहने पर समास में पूर्व और पर दोनों स्वरों की जगह विकल्प से पररूप एकादेश हो जाता है। जैसे—स्थूल+ओतुः=स्थूलोतुः, स्थूलौतुः, बिम्ब+ओष्ठः=बिम्बोष्ठः, विम्बौष्ठः, कण्ठ+ओष्ठम्=कण्ठोष्ठम्, कण्ठौष्ठम् इत्यादि। समास से भिन्न में तवौतुः, तवौष्ठ इत्यादि।

"ओमाङोश्च" (पा० सू०)

अवर्ण से परे यदि 'ओम्' और आङ् (आ) रहें तो दोनों की जगह पररूप एकादेश हो जाता है। जैसे—शिवाय+ओं नमः=शिवायों नमः, शिव+आ+इहि=शिवेहि, अव+आ+इहि=अवेहि इत्यादि।

(७) पूर्वरूप सन्धि

"एङः पदान्तादति" (पा० सू०)

यदि किसी पद के अन्त में ए या ओ हो और उसके आगे ह्रस्व अकार हो तो ह्रस्व अकार उसी ए या ओ में मिल जाता है, अर्थात् इसे पूर्वरूप हो जाता है। उस अकार की जगह (ऽ) ऐसा चिह्न रखा जा सकता है। जैसे—

हरे+अव=हरेऽव, मुने+अत्र=मुनेऽत्र, कवे+अत्र=कवेऽत्र, विष्णो+अव=विष्णोऽव, साधो+अत्र=साक्षोऽत्र, भानो+अत्र=भानोऽत्र।

"अवङ् स्फोटायनस्य" (पा० सू०)

अच् के परे रहने पर पदान्त गो शब्द को विकल्प से 'अव (ङ्) आदेश होता है। अर्थात् गो शब्द में ओ की जगह अव हो जाता है। इसके बाद सवर्ण दीर्घ हो जाता है। जैसे गो+अग्रम्=गव+अग्रम्= गवाग्रम्, विकल्प में प्रकृतिभाव भी विकल्प से होता है, अतः गोअग्रम् और गोऽग्रम्। गो अक्षः—'गवाक्षः' यहाँ नित्य ही 'अवङ् होता है।

'इन्द्रे च (पा० सू०)

गो शब्द से आगे इन्द्र शब्द के रहने पर गो शब्द के ओकार को 'अव (ङ्)' आदेश होता है। अवङ् आदेश करने के बाद गुण हो जायगा। जैसे—गो+इन्द्रः=गव+इन्द्रः=गवेन्द्रः।

---

[२] प्रकृतिभाव-सन्धि

"प्लुत-प्रगृह्या अचि नित्यम्" (पा० सू०)

अच् परे रहने पर प्लुतसंज्ञक और प्रगृह्य संज्ञक शब्दों को प्रकृति भाव हो जाता है। अर्थात् वहाँ कोई स्वरसन्धि नहीं होती है। वे शब्द वैसे ही रह जाते हैं।

निम्नलिखित परिस्थितियों में शब्द 'प्लुत' होते हैं—

"दूराऽह्वाने च गाने च रोदने च प्लुतो मतः।"

(क) दूर से सम्बोधन करने में जो वाक्य प्रयुक्त होता है। उस सम्बोधन पद के 'टि' को अर्थात् अन्तिम अच् को 'प्लुत' कहते हैं। जैसे—'अयि बालका३ अत्रागच्छ' यहाँ पर 'बालका३' में अन्तिम 'आ' प्लुत होता है और पूर्व सूत्र से प्रकृतिभाव हो जाता है, अतः सवर्ण दीर्घ नहीं होता है।

(ख) 'हे' और 'है' शब्द के प्रयोग रहने पर सम्बोधन में 'हे' और 'है' ये ही प्लुत होते हैं। जैसे—हे ३ राम ! राम है ३ !

(ग) द्विजातियों में पुरुषों में विधिवत् अभिवादन के बाद विधिवत् आशीर्वचन प्रयुक्त होता है उसमें आशीर्वाद वाक्य का अन्ति

र्ण प्लुत होता है। जैसे—'अभिवादये देवदत्तोऽहम् भोः' ऐसे अभि-
वादन वाक्य के बाद जो 'आयुष्मान् एधि देवदत्ता ३" ऐसा प्रत्यभि-
वादन (आशीर्वाद) वाक्य प्रयुक्त होता है उसमें 'देवदत्ता३' का
अन्तिम 'आ' प्लुत है।

निम्नलिखित शब्द प्रगृह्य संज्ञक होते हैं। जैसे—

"ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" (पा० सू०)

यदि द्विवचनान्त ई, ऊ या ए के बाद कोई स्वर हो तो वहाँ सन्धि
नहीं होती है। वहाँ प्रगृह्य संज्ञा होती है और प्रकृतिभाव हो जाता है।
अर्थात् वे द्विवचनान्त ईकार, ऊकार और एकार ज्यों के त्यों रह जाते
हैं। जैसे—हरी+एतौ=हरी एतौ, मुनी+इमौ, विष्णू+आसाते=
विष्णू आसाते, गुरू+आगच्छतः=गुरू आगच्छतः, लते+एते=लते
एते, रमे+आसाते=रमे आसाते, एधेते+इमौ=एधेते इमौ इत्यादि।

"अदसोमात्" (पा० सू०)

'अदस्' शब्दावयव मकार से परे यदि दीर्घ ईकार या ऊकार हो
तो उसे प्रगृह्य संज्ञा हो जाती है। जैसे—अमी+ईशाः=अमी ईशाः,
अमी+अन्धाः=अमी अन्धाः, अमू+अश्वौ=अमू अश्वौ, अमू+आसाते=
अमू आसाते इत्यादि। यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा के बाद प्रकृतिभाव होता है।

"निपात एकाजनाङ् (पा० सू०)

'आङ्' को छोड़कर जो एक अच् रूप निपात (आ, इ, उ आदि)
हो उसे प्रगृह्य संज्ञा होती है। जैसे—इ+इन्द्रः=इ इन्द्रः, उ+उमेशः=
उ उमेशः, आ+एवं किल तत्=आ एवं किल तत्।

यदि 'आ' क्रिया के साथ प्रयुक्त हो या उसका ईषत्, मर्यादा, अभि-
विधि अर्थ हों तो उस आ को ङित् अर्थात् आङ्, समझना चाहिए।
इनसे भिन्न अर्थों में 'आ' को अङित्—शुद्ध शमझना चाहिए। 'आ'
जहाँ पर ङित् होगा, अर्थात् ईषत् आदि उपर्युक्त अर्थों में रहेगा, वहाँ
प्रगृह्य संज्ञा नहीं होगी। जैसे-ईषद्-उष्णम् इस अर्थ में आ+उष्णम्=
ओष्णम्, क्रिया योग में आ+इहि=एहि न कि आ इहि, आ+उदधि=
ओदधि न कि आ उदधि इत्यादि।

"ओत्" (पा० सू०)

ओदन्त निपात की प्रगृह्य संज्ञा होती है। जैसे— अहो + ईशा अहो ईशाः इत्यादि।

यहाँ सभी जगह प्रगृह्य संज्ञा या प्लुत संज्ञा होने के बाद " प्रगृह्या अचि नित्यम्" सूत्र से प्रकृति भाव हो जाता है।

"ऋत्यकः" (पा० सू०)

पदान्त अक् से आगे ह्रस्व ऋकार हो तो प्रकृतिभाव विकल होता है। यदि वह अक् दीर्घ हो तो उसे ह्रस्वता भी हो जाती जैसे—

ब्रह्मा + ऋषिः = ब्रह्म ऋषिः विकल्प में ब्रह्मर्षिः, सप्त + ऋ णाम् = सप्तऋषीणाम् और सप्तर्षीणाम् इत्यादि।

---

[३] हल्सन्धि या व्यञ्जनसन्धि

(१) "स्तोः श्चुना श्चुः" (पा० सू०)

सकार या तवर्ग (त् थ् द् ध् न्) के साथ शकार या चवर्ग छ् ज् झ् ञ्) का योग रहने पर सकार के स्थान में शकार और त की जगह चवर्ग हो जाता है। या यों समझिये—यदि दन्त्य सका साथ तालव्य शकार या चवर्ग का योग हो तो दन्त्य 'स्' तालव्य हो जाता है और यदि तवर्ग का चवर्ग के साथ या शकार के साथ हो तो तवर्ग के स्थान में क्रम से चवर्ग होता है। जैसे—

हरिस् + शेते = हरिश्शेते, शिवस् + शोभते = शिवश्शोभते। रा + चिनोति = रामश्चिनोति, पयस् + छविः = पयश्छविः। सत् + चरि = सच्चरित्रम्, सत् + चित् = सच्चित्, महत् + छत्रम् = महच्छत्रम्, + छाया = बृहच्छाया, महत् + छत्रम् = महच्छत्रम्, महत् + जल महज्जलम्, सत् + जनः = सज्जनः, तत् + झञ्झावातः = तज्झञ्झाव तत् + झनत्कारः + तज्झनत्कारः, महान् + जयः = महाञ्जयः, रा + जयः = राजञ्जयः। तत् + शिवः = तच्-शिवः = तच्छिवः।

नोट—तालव्य श् के बाद तवर्ग का चवर्ग नहीं होता है। जैसे—श्+नः=विश्नः, प्रश्+नः=प्रश्नः। यहाँ न् की जगह ञ् नहीं हुआ।

(२) "ष्टुना ष्टुः" (पा० सू०)

यदि सकार या तवर्ग के साथ षकार या टवर्ग का योग हो तो कार के स्थान में षकार और तवर्ग के स्थान में टवर्ग हो जाता है। र्थात् सकार के साथ षकार या टवर्ग हो तो सकार की जगह षकार ता है और तवर्ग के साथ यदि टवर्ग या षकार हो तो तवर्ग की ाह टवर्ग होता है। जैसे—रामस्+षष्ठः=रामष्षष्ठः, शिवस्+ ठः=शिवष्षष्ठः। तत्+टीका=तट्टीका, उत्+टङ्कनम्=उट्टङ्कनम्, हत्+ठक्कुरः=बृहट्ठक्कुरः, उत्+डयनम्,=उड्डयनम्, बृहत्+ ण्डिमः=बृहड्डिण्डिमः, बृहत्+ढक्का=बृहड्ढक्का, बृहत्+ढक्कनम् ड्ढक्कनम्, बृहत्+णकारः=बृहण्णकारः।

नोट—पदान्तटवर्ग से आगे यदि नाम्, नवति और नगरी शब्द को ड़कर कोई तवर्ग या सकार हो तो तवर्ग की जगह टवर्ग नहीं होता । जैसे—षट्+सन्तः=षट्सन्तः, षट्+ते=षट्ते। किन्तु षट्+ म्=षण्णाम्, षट्+नवतिः=षण्णवतिः, षट्+नगर्यः=षण्णगर्यः।

(३) "झलां जशोऽन्ते" (पा० सू०)

पद के अन्त में यदि झल् वर्ण हों (अर्थात् वर्ग के प्रथम, द्वितीय, ीय, चतुर्थ तथा श् ष् स् ह् हों) और उसके आगे वर्ग के प्रथम, तीय तथा श् ष् स् को छोड़कर कोई वर्ण हो तो झल् की जगह जश् ज् ब् ग् ड् या द्) हो जाते हैं। जैसे—दिक्+इयम्=दिगियम्, क्+ईशः=वागीशः, दिक्+गजः=दिग्गजः, वाक्+दानम्= ग्दानम्, धुक्+जटिलः=धुग्जटिलः, वाक्+भरणम्=वाग्भरणम्। च्+अन्तः=अजन्तः, अच्+आदिः=अजादिः, अच्+झल्=अज्झल्, त्+एति=उदेति, महत्+एव=महदेव, महत्+दानम्=महद्दानम्, म्राट्+अयम्=सम्राडयम्, विभ्राट्+गच्छति=विभ्राड्गच्छति, प्+जम्=अब्जम्, अप्+इन्धनम्=अबिन्धनम्।

(४) "झलां जश् झशि" (पा० सू०)

झल् (वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा श् ष् स् ह्) व
के आगे यदि 'झश्' का (वर्ग के तृतीय तथा चतुर्थ का) कोई अ
हो तो 'झल्' का जश् (ज् ब् ग् ड् द्) हो जाता है। जैसे—दो
धा=दोग्धा, बोध्+धा=बोद्धा, लभ्+धः=लब्धः, धुढ्+भ्याम
धुड्भ्याम् इत्यादि।

(५) "खरि च" (पा० सू०)

यदि झल् के आगे खर् वर्ण (वर्ग का प्रथम, द्वितीय तथा श
स् में से) कोई हो तो झल् के स्थान में चर् (उसी वर्ग का प्रथम अ
च् ट् त् क् प्) हो जाता है। जैसे-विपद्+कालः=विपत्कालः, स
+समयः=सम्पत्समयः, सम्पद्+फलम्=सम्पत्फलम्, ककुभ्+प्रा
ककुप्प्रान्तः, तज्+शिवः=तच्शिवः आदि।

(६) "शश्छोऽटि" (पा० सू०)

यदि पद के अन्त में 'झय्' वर्ण (वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृत
तथा चतुर्थ वर्ण) हों तो उससे परे श् का छ् विकल्प से होता है,
उसके (श् के) बाद अट् (स्वर तथा ह् य् व् र्) वर्ण में से
वर्ण आया हो। जैसे—तत्+शिवः=तच्छिवः या तच्शिवः, मह
शकटम्=महच्छकटम् या महच्शकटम्, महत्+शिला=महच्छिला
महच्शिला, तत्+शरणम्=तच्छरणम् या तच्शरणम्, तत्+श्रु
तच्छ्रुत्वा, सत्+श्रवणम्=सच्छ्रवणम् इत्यादि।

(७) "झयो होऽन्यतरस्याम्" (पा० सू०)

यदि झय् वर्ण (वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ व
के बाद हकार आवे तो ह के स्थान में उसी वर्ग का चतुर्थ अ
विकल्प से हो जाता है। अर्थात् जिस वर्ग के अक्षरों के बाद ह अ
है उसी वर्ग का चतुर्थ अक्षर ह के स्थान में हो जाता है और ह के
वर्ण के स्थान में उसी वर्ग का तृतीय अक्षर हो जाता है। जैसे—

वाक्+हरिः=वाग्घरिः, या वाग्हरिः, वणिज्+हननम्=व

ननम्, लिट् + हसति = लिड्ढसति, उत् + हतः = उद्धतः, महत् + सनम् = महद्धसनम्, अप् + हारः = अब्भारः आदि।

(८) "तोर्लि" (पा० सू०)

तवर्ग के आगे यदि ल् हो तो तवर्ग के स्थान में ल् हो जाता है और के बाद यदि ल् हो तो न् के स्थान में सानुनासिक ल् होता है। जैसे—

तत् + लयः = तल्लयः, तत् + लीनता = तल्लीनता, जगत् + लयः = गल्लयः, महान् + लाभः = महाँल्लाभः, विद्वान् + लिखति = विद्वाँल्-लिखति, महान् + लोभी = महाँल्लोभी इत्यादि।

उद् से आगे यदि स्था और स्थम्भ हो तो उनके सकार की जगह र्वसवर्ण थकार होता है। और उस 'थ्' का वैकल्पिक लोप भी होता । जैसे—उद् + स्थानम् = उत्थानम् या उत्थ्थानम्, उद् + स्तम्भनम् = उत्तम्भनम् इत्यादि।

(९) "यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा" (पा० सू०)

यदि पद के अन्त में यर् अर्थात् हकार को छोड़ कर कोई व्यञ्जन र्ण हो और उसके आगे अनुनासिक, अर्थात् वर्ग का पञ्चम (ञ् म् ङ् ण् न्) वर्ण रहे तो पूर्व वर्ण के स्थान पर उसी वर्ग का पञ्चम वर्ण विकल्प से हो जाता है। जब पञ्चम वर्ण नहीं होता है तो वर्ग का तृतीय वर्ण हो जाता है। जैसे—

दिक् + नागः = दिङ्नागः, प्राक् + मुखः = प्राङ्मुखः, अच् + नेदम् = अञ्नेदम्, उत् + नयनम् = उन्नयनम्, जगत् + नाथः = जगन्नाथः मधु-लिट् + नास्ति = मधुलिण् नास्ति, अप् + मयम् = अम्मयम् आदि। विकल्प में दिग्नागः, उद्नयनम् इत्यादि।

(१०) "मोऽनुस्वारः" (पा० सू०)

यदि पद के अन्त में मकार हो और उसके आगे कोई व्यञ्जन वर्ण हो तो म् के स्थान में अनुस्वार हो जाता है। जैसे —

हरिम् + वन्दे = हरिंवन्दे, वशम् + वदः = वशंवदः, शीघ्रम् + याति = शीघ्रं याति, जलम् + वहति = जलं वहति, दुःखम् + सहति = दुखं सहति, गृहम् + गच्छति = गृहं गच्छति, अयम् + चलति = अयं चलति आदि।

यदि पदान्त म् के आगे कोई स्पर्श या अन्तस्थ वर्ण हो तो म्
स्थान में अनुस्वार होता है या जिस वर्ग का वर्ण आगे में रहे उसी
का पञ्चम वर्ण हो जाता है। जैसे—किम्+करोति=किं करो
किङ्करोति, नगरम्+गच्छति=नगरं गच्छति, नगरङ्गच्छति, शत्रुम्
जयति=शत्रुं जयति, शत्रुञ्जयति, नदीम्+तरति=नदीं तर
नदीन्तरति, गुरुम्+नमति=गुरुं नमति, गुरुन्नमति, फलम्+पतति
फलं पतति, फलम्पतति, सत्यम्+ब्रूते=सत्यं ब्रूते, सत्यम्ब्रूते इत्यादि

ऐसे ही सम्+यन्ता=संयन्ता, सय्यँन्ता इत्यादि। किन्तु सम्
राट्=सम्राट् यहाँ म् ही रहता है।

(११) "नश्चापदान्तस्य झलि" (पा० सू०)

यदि न् और म् पद के अन्त में न हों और उनके आगे झल् (व
के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा श ष स ह) वर्ण हों तो नक
और मकार के स्थान में अनुस्वार हो जाता है। जैसे—

यशान्+सि=यशांसि, पयान्+सि=पयांसि, विद्वान्+सौ
विद्वांसौ, हन्+सः=हंसः, धनून्+षि=धनूंषि, नम्+स्यति=नंस्यति

(१२) "ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्" (पा० सू०)

यदि ह्रस्व स्वर के बाद ङ् ण् न् पद के अन्त में हों और उन
आगे कोई स्वर वर्ण हो तो ङ्, ण् और न् का आगम हो जाता है
अर्थात् एक ङ् दो ङ्, एक ण् दो ण्, और एक न् दो न् हो जाते हैं
जैसे—

प्रत्यङ्+आत्मा=प्रत्यङ्ङात्मा, सुगण्+ईः=सुगण्णीशः, तस्मिन्
+एव=तस्मिन्नेव, कस्मिन्+इति=कस्मिन्निति, सन्+अन्तः
सन्नन्तः।

(१३) "छे च" (पा० सू०)

ह्रस्व स्वर के बाद यदि छकार हो तो ह्रस्व के आगे और छक
से पूर्व च चला आता है। जैसे—

शिव+छत्रम्=शिवच्छत्रम्, परि+छेदः=परिच्छेदः, तरु+छा
तरुच्छाया, पितृ+छत्रम्=पितृच्छत्रम् आदि।

नोट—दीर्घ स्वर के बाद भी छ परे रहने से बीच में च् होता है। जैसे—चे + छिद्यते = चेच्छिद्यते। लक्ष्मी + छाया = लक्ष्मीच्छाया।

[1]यदि डकार और नकार के बाद सकार हो तो उस सकार के पहले एक 'त्' विकल्प से हो जाता है। जैसे—षट् + सन्तः = षट्त्सन्तः, षट्सन्तः, सन् + सः = सन्त्सः, सन्सः इत्यादि।

[2]पदान्त नकार के बाद तालव्य शकार के रहने पर न् और श के बीच में विकल्प से 'त्' हो जाता है। जैसे—सन् + शम्भुः = सञ्च्छम्भुः, सञ् शम्भुः, 'च्' के लोप करने पर सञ्छम्भुः इत्यादि।

(१४) "नश्छव्यप्रशान्" (पा० सू०)

प्रशान् को छोड़कर पदान्त नकार को रू (र्) हो जाता है यदि उसके आगे 'छव्' (छ, ठ, थ, च, ट, त) वर्ण हो, किन्तु छव् से आगे केवल 'अम्' (स्वर, यण्, ह तथा वर्ग का पञ्चम) ही वर्ण होना चाहिए। जैसे—

राजन् + छिन्धि = राजँश्छिन्धि (रेफ की जगह विसर्ग और सकार हो गया तथा उसके पूर्व स्वर को अनुनासिक हो गया है), चक्रिन् + त्रायस्व = चक्रिँस्त्रायस्व इत्यादि।

[४] विसर्गसन्धि

विसर्ग के साथ स्वर वर्णों या हल् वर्णों की सन्धि को विसर्गसन्धि कहते हैं।

(१) "विसर्जनीयस्य सः" (पा० सू०)

विसर्ग के बाद यदि खर् (वर्ग के प्रथम, द्वितीय तथा श् ष् स्) का कोई वर्ण हो तो विसर्ग के स्थान में स् हो जाता है। जैसे—

शिवः + तथा = शिवस्तथा, छिन्नः + तरुः = छिन्नस्तरुः, पयः + तत् = पयस्तत्। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि (क) विसर्गस्थानीय स् के बाद यदि च् या छ् रहेगा तो हल्सन्धि के प्रथम सूत्र "स्तोः

---

१. "डः सि धुट्" "नश्च" (पा० सू०)

२. "शि तुक्" (पा० सू०)

श्चुना श्चुः" से तालव्य श् हो जायगा। (ख) यदि स् के बाद ट् य
ठ रहेगा तो "ष्टुना ष्टुः" से मूर्धन्य ष् हो जायगा। जैसे—

(क) नरः + चलति=नरश्चलति, पूर्णः + चन्द्र=पूर्णश्चन्द्रः, वृक्षः + छिन्नः=वृक्षश्छिन्नः, सुन्दरः + छत्री=सुन्दरश्छत्री।

(ख) धनुः + टङ्कारः=धनुष्टङ्कारः, चतुरः + ठक्कुरः=चतुरष्ठक्कु कठिनः + ठकारः=कठिनष्ठकारः।

(२) "वा शरि" (पा० सू०)

विसर्ग के आगे यदि शर् (श् ष् स्) वर्ण हो तो विकल्प से विस का विसर्ग ही रह जाता है। अर्थात् विसर्ग भी रहता है और श् साथ श्, ष् के साथ ष् और स् के साथ स् भी पूर्व नियमों से ह जाते हैं। जैसे—

हरिः + शेते=हरिः शेते, हरिश्शेते, विष्णोः + शयनम्=विष्णो शयनम्, विष्णोश्शयनम्, मत्तः + षट्पदः=मत्तः षट्पदः, मत्तष्षट्पद रामः + षष्ठः=रामः षष्ठः, रामष्षष्ठः, साधुः + सेव्यः=साधुः सेव्य साधुस्सेव्यः, कृष्णः + सेव्यते=कृष्णः सेव्यते, कृष्णस्सेव्यते।

नोट—विसर्ग के बाद शर् हो और उसके बाद खर् हो तो विस का लोप भी हो जाता है। जैसे—रामः + स्थाता=रामस्थाता, बाहुः + स्फुरति=बाहुस्फुरति आदि।

(३) "कुप्वोᳲकᳲपौ च" (पा० सू०)

यदि क, ख या प, फ परे हो तो विसर्ग की जगह क्रम से जिह्वा मूलीय और उपध्मानीय हो जाता है। और विसर्ग भी होता है। जैसे

कᳲकरोति, कः करोति, कᳲखनति, कः खनति, कᳲपठति, क पठति, कᳲफलति, कः फलति इत्यादि।

किन्तु पाश, कल्प, क और काम्य शब्द के परे रहने पर सका स्थानीय विसर्ग की जगह 'स्' होता है। जैसे—पयः + पाशम्= पयस्पाशम्, यशः + कल्पम्=यशस्कल्पम्, यशः + कम्=यशस्कम् यशः + काम्यति=यशस्काम्यति।

(४) "इणः षः" (पा० सू०)

यदि 'इण्' से आगे विसर्ग रहे और उसके आगे पाश, कल्प, क और काम्य शब्द हों तो विसर्ग की जगह मूर्धन्य षकार हो जाता है। जैसे—

सर्पिः + पाशम् = सर्पिष्पाशम्, ऐसे ही सर्पिष्कल्पम्, सर्पिष्कम् और सर्पिष्काम्यति।

[1]नमः और पुरः शब्दों में विसर्ग की जगह सकार हो जाता है यदि उसके आगे करोति, कृत्य आदि शब्द रहते हैं। जैसे—नमः + करोति = नमस्करोति, नमस्कृत्य, पुरस्करोति, पुरस्कृत्य आदि।

[2]जिसकी उपधा में इकार या उकार हो ऐसे अप्रत्यय सम्बन्धी विसर्ग के स्थान में मूर्धन्य षकार हो जाता है यदि उसके आगे में कवर्ग या पवर्ग रहे। जैसे—आविः + कृतम् = आविष्कृतम्, दुः + कृतम् = दुष्कृतम् इत्यादि।

नोट—विसर्ग यदि प्रत्यय सम्बन्धी होगा तो षकार नहीं होगा। जैसे—अग्निः करोति, वायुः करोति इत्यादि।

[3]तिरः के आगे कवर्ग या चवर्ग रहने पर सकार विकल्प से होता है। जैसे—तिरस्कर्ता, तिरः कर्ता आदि।

[4]द्विः, त्रिः तथा चतुः के विसर्ग के स्थान में एवम् 'इस्' और 'उस्' प्रत्ययान्त शब्दों के विसर्ग के स्थान में विकल्प से मूर्धन्य षकार होता है यदि उसके आगे कवर्ग या पवर्ग रहे। जैसे—द्विष्करोति, द्विःकरोति, त्रिष्करोति, त्रिःकरोति, चतुष्करोति, चतुःकरोति, सर्पिष्करोति, सर्पिःकरोति, धनुष्करोति, धनुःकरोति आदि।

[5]अकार से आगे विसर्ग (जो अव्ययसम्बन्धी न हो तथा समास के

---

१. "नमस्पुरसोर्गत्योः" (पा० सू०)

२. "इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य" (पा० सू०)

३. "तिरसोऽन्यतरस्याम्" (पा० सू०)

४. "द्विस्त्रिचतुरिति कृत्वोऽर्थे" "इसुसोः सामर्थ्ये" (पा० सू०)

५. "अतः कृ—कमि—कंस—कुम्भ—पात्र—कुशा—कर्णीष्वनव्ययस्य" (पा० सू०)

उत्तर पद में न हो) के स्थान में 'सकार' हो जाता है यदि उसके आ
कृ धातु से बने शब्द हों तथा कमि, कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा और कर्ण
शब्द हों। जैसे—अयः+कारः=अयस्कारः, अयस्कामः। अयस्कंसः
अयस्कुम्भः अयस्पात्रम्, अयस्कुशा, अयस्कर्णी।

समास में अधः तथा शिरः के विसर्ग को सकार होता है यदि उसके आगे पद शब्द रहता है। जैसे—अधस्पदम्, शिरस्पदम्,। किन्तु परमशिरः पदम्।

कस्कादि गण में जितने शब्द हैं उन में भी विसर्ग की जगह सकार होता है। जैसे—भास्करः आदि।

---

[५] स्वादिसन्धि

'सु' आदि प्रत्यय सम्बन्धी सन्धि को स्वादिसन्धि कहते हैं।

(१) "ससजुषोरुः" (पा० सू०)

पद के अन्तवाले सकार के तथा पदान्त सजुस् के सकार के स्थान में रु (र्) हो जाता है। जैसे—

कविस्+अयम्=कविरयम्, रविस्+एव=रविरेव, भानुस्+अपि=भानुरपि, अग्निस्+इति=अग्निरिति।

(२) "अतो रोरप्लुतादप्लुते" (पा० सू०)

यदि दो ह्रस्व अकारों के बीच में (सकार स्थानीय) र हो तो तीनों की जगह 'ओ' हो जाता है और वहाँ पर (ऽ) यह चिह्न भी रख सकते हैं, या यों कहिये कि दो ह्रस्वाकारों के बीच वाले 'र्' के स्थान में इस सूत्र से उ होता है, पूर्व अकार के साथ गुण करने से 'ओ' हो जाता है और आगे के अकार को 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप हो जाता है। जैसे—

रामः+अयम्=रामोऽयम्, कृष्णः+अर्च्यः=कृष्णोऽर्च्यः, श्यामः+अयम्=श्यामोऽयम्।

नोट—यह स्मरण रखना चाहिये कि 'र्' यदि सकार स्थानीय

नहीं है तो 'ओ' नहीं होगा। जैसे—पुनर्+अयम्=पुनरयम्, न कि शिवोऽयम् इत्यादि की तरह पुनोऽयम् इत्यादि।

(३) "हशि च" (पा० सू०)

यदि ह्रस्व अकार के बाद विसर्ग हो (या यों कहिए कि सकार स्थानीय र् हो) और उसके बाद हश् (वर्ग के तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम तथा ह य् व् र् ल्) वर्ण हो तो विसर्ग या र् के स्थान में 'उ' होता है और पूर्व अकार के साथ गुण होने से 'ओ' हो जाता है। जैसे—

बालः+हसति=बालोहसति, कृष्णः+वन्द्यः=कृष्णोवन्द्यः, मनः+रथः=मनोरथः, मनः+मोदते...मनोमोदते, छात्रः+याति=छात्रोयाति, पयः+लभते=पयोलभते, सुन्दरः+भवति=सुन्दरोभवति, प्रखरः+घर्मः=प्रखरोघर्मः, कर्तव्यः+धर्मः=कर्तव्योधर्मः, शिष्टः+जनः=शिष्टोजनः, तीव्रः+झनत्कारः=तीव्रोझनत्कारः माननीयः+नायक=माननीयोनायकः, सुन्दरः+डमरूः=सुन्दरोडमरूः, बालः+गच्छति=बालोगच्छति, पयः+दीयते=पयोदीयते इत्यादि।

नोट—यदि रेफ या विसर्ग यहाँ भी सकार स्थानीय नहीं है तो ओ नहीं होगा। जैसे—पुनः+वन्द्यः=पुनर्वन्द्यः, न कि पुनोवन्द्यः।

(४) "भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य योऽशि" (पा० सू०)

भो, भगो, अघो तथा अ, आ से परे विसर्ग का (उसके स्थान में यकार होकर) लोप हो जाता है यदि उसके आगे अश् (कोई स्वर वर्ण या वर्ग के तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम तथा ह् य् व् र् ल्) वर्ण हो। जैसे—

भोः+मित्र=भो मित्रः, भगोः+नमस्ते=भगो नमस्ते, अघोः+याहि=अघो याहि, श्यामः+आगतः=श्याम आगतः, श्यामः+इह=श्याम इह, बालः+एव=बाल एव, देवा+इह=देवा इह, नराः+आगच्छन्ति=नरा आगच्छन्ति, अश्वाः+इमे=अश्वा इमे, लोकाः+उद्यताः=लोका उद्यतः, जनाः+एकत्र=जना एकत्र, देवाः+वन्द्याः=देवा वन्द्याः, नराः+यान्ति=नरा यान्ति, सनातनाः+धर्माः=

सनातना धर्माः। वर्णाः+घोषाः=वर्णा घोषाः, जनाः+मोदन्ते= जना मोदन्ते इत्यादि।

नोट—१. दो ह्रस्व अकारों के बीच यदि विसर्ग रहेगा तो लो नहीं होगा। जैसे—रामोऽयम्, यदि ह्रस्व अकार से पर और हश् व के पूर्व विसर्ग रहेगा तो विसर्ग का लोप नहीं होगा। जैसे—रामोहस इत्यादि। अतः "अतो रोरप्लुतादप्लुते" और "हशि च" इन दो सूत्रों को यहाँ ध्यान में रखना चाहिए।

२. यहाँ भी विसर्ग यदि सकार स्थानीय न हो तो उस का लो नहीं होगा। जैसे—पुनः+आगतः=पुनरागतः, प्रातः+इहागतः= प्रातरिहागतः, अन्तः+धानम्=अन्तर्धानम्, मातः+देहि=मातर्दे पितः+आगच्छ=पितरागच्छ, जामातः+आयाहि=जामातराया दुहितः+इहागच्छ=दुहितरिहागच्छ, स्वः+गतः=स्वर्गतः, धातः+ देहि=धातर्देहि इत्यादि।

३. विसर्ग का लोप कर देने पर गुण, वृद्धि सन्धि नहीं होती है जैसे—देवाः+इह=देवा इह न कि देवेह, नराः+एव=नरा ए न कि नरैव इत्यादि।

(५) हलि सर्वेषाम् (पा० सू०)

भो, भगो, अघो तथा अकार से परे विसर्ग (या विसर्ग स्थानी यकार) हो तो उसका लोप हो जाता है, यदि उसके आगे व्यञ्ज वर्ण रहें। जैसे—

भोः+श्रीश !=भो श्रीश !, भोः+देवाः=भो देवाः ! भोः+ लक्ष्मि=भो लक्ष्मि ! भोः+विद्वान्=भो विद्वन् ! भगोः+नमस्ते= भगो नमस्ते ! अघोः+याहि=अघो याहि ! देवाः+नम्याः=दे नम्याः, नरा+यान्ति=नरा यान्ति इत्यादि।

(६) "रो रि" (पा० सू०)

विसर्ग स्थानीय र् के बाद यदि रेफ हो तो पूर्व र् का लोप जाता है। इससे रेफ का लोप हो जाने पर—

(७) "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" (पा० सू०)

यदि रेफ या ढ् का लोप कराने वाला रेफ ढ् आगे हो तो उसके पूर्व के ह्रस्व अ, इ तथा उ को दीर्घ हो जाता है।

इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि रेफ तथा ढ् के लोप हो जाने पर पूर्व अण् को दीर्घ होता है। ऐसा अर्थ करने पर 'करणीयम्' यहाँ पर 'अनीयर्' के रेफ का लोप होने के कारण य के बाद दीर्घ हो जायगा। वैसे ही 'चकार' में च के बाद दीर्घ हो जायगा क्योंकि यहाँ भी रेफ का लोप हुआ है। इसलिए जहाँ पर रेफ के परे रेफ का या ढकार के परे ढकार का लोप होगा वहीं पर इससे दीर्घ होगा। जैसे—

पुनर्+रमते="रो रि" से रेफ का लोप करने के बाद पुन+रमते, तब दीर्घ होकर पुनारमते। ऐसे ही—निः+रसः=नीरसः, पितः+रक्ष=पितारक्ष, निः+रोगः=नीरोगः। भानुः+राजते=भानूराजते, विधिः+राजते=विधीराजते, मातः+रक्ष=मातारक्ष, लिढ्+ढः=लीढः इत्यादि।

(८) "एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ् समासे हलि" (पा० सू०)

यदि व्यञ्जन वर्ण आगे हो तो 'एषः' और 'सः' के विसर्ग का लोप हो जाता है। जैसे—

एषः+रामः=एष रामः, एषः+शिवः=एष शिवः, सः+कृष्णः=स कृष्णः, सः+वन्दनीयः=स वन्दनीयः, एषः+गच्छति=एष गच्छति, सः+पठति=स पठति आदि।

नोट—१. यदि एषः और सः में विसर्ग के पहले 'क' हो तो विसर्ग का लोप नहीं होता है। जैसे—एषकः+रुद्रः=एषको रुद्रः, सकः+रामः=सकोरामः इत्यादि।

२. यदि एषः और सः के पहले क्रम से अन् और अ आवे तो भी विसर्ग का लोप नहीं होता है। जैसे—असः+शिवः=असश्शिवः, अनेषः+शिवः=अनेषश्शिवः।

३. स्वादि सन्धि के सूत्र संख्या ४ तथा ८ से यह फलित हु
कि 'एषः और 'सः' के विसर्ग का लोप हो जाता है, यदि उसके आ
'अ' को छोड़कर कोई भी वर्ण रहे।

(९) "सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम्" (पा० सू०)

अच् परे रहने से 'स' इसके 'सु' का लोप होता है यदि लोप कर
से पाद की पूर्ति होती हो। जैसे—

सैष दाशरथी रामः सैष भीमो महाबलः।
सैष कर्णो महात्यागी, सैष राजा युधिष्ठिरः॥

यहाँ पर स के बाद स का लोप हो जाने पर वृद्धि हो गयी है

सुबन्त-प्रकरण

"अपदं न प्रयुञ्जीत" इस नियम के अनुसार संस्कृत में जो पद [न]हीं है उसका प्रयोग नहीं होता है। जैसे 'बालकः पठति', न कि ['ब]ालक पठति'। 'बालकं पश्यं', न कि 'बालक पश्य' इत्यादि।

"सुप्तिङन्तं पदम्" (पा० सू०) के अनुसार सुबन्त और तिङन्त [क]ो 'पद' कहते हैं। 'सुप्' जिसके अन्त में हो वह 'सुबन्त' है और 'तिङ्' [ज]िसके अन्त में हो वह 'तिङन्त' है।

सु, औ जस् आदि २१ 'सुप्' विभक्तियाँ प्रातिपदिक से तथा [ङ्]यन्त, आबन्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों से आती हैं। अतः 'प्रातिपद्रिक' का [ज्ञ]ान यहाँ अपेक्षित है।

प्रातिपदिक

"अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" (पा० सू०)

अर्थवान् शब्द को प्रातिपदिक कहते हैं, किन्तु वह अर्थवान् शब्द [ध]ातु से भिन्न, प्रत्यय से भिन्न और प्रत्ययान्त तदादि (प्रत्यय अन्त में [ह]ो और उसी प्रत्यय की प्रकृति आदि में हो, जैसे हरिषु, करोषि आदि) [श]ब्दों से भिन्न होना चाहिए। जैसे कृष्ण, दार, जल, नीर, तीर आदि [श]ब्द 'प्रातिपदिक' हैं। किन्तु भू, गम् आदि धातु; तृ, अक आदि प्रत्यय [त]था हरिषु, करोषि, आदि प्रत्ययान्त तदादि शब्दों को प्रातिपदिक [न]हीं कहते हैं। इसलिए हन् धातु के लङ् लकार में 'अहन्' यहाँ पर [न]कार का लोप नहीं होता है। और 'हरिषु' में प्रत्ययों से या प्रत्य-[य]ान्त समुदायों से पुनः स्वादि विभक्ति नहीं होती है।

"कृत्तद्धितसमासाश्च" (पा० सू०)

कृत् प्रत्ययान्त, तद्धित प्रत्ययान्त एवं समास वाले शब्द भी प्राति-[प]दिक होते हैं। जैसे—कृत्प्रत्ययान्त—पाचक, कारक, कर्तव्य, गत, [ग]तवत् आदि; तद्धितप्रत्ययान्त—दाशरथि, शालीय, पितृव्य, मातामह,

आदि समस्त शब्द—राज-पुरुष, पीताम्बर, अहिनकुल, पाणिपाद अ
प्रातिपदिक संज्ञक हैं अतः इनसे सुप् विभक्ति आती है।

विभक्ति (Case affix)

सु, औ, जस् आदि २१ विभक्तियों की प्रथमा, द्वितीया आदि
संज्ञाएँ हैं। प्रथमा, द्वितीया आदि प्रत्येक में तीन-तीन विभक्तियाँ
जिन्हें 'त्रिक' कहते हैं।

वचन (Number)

प्रत्येक प्रथमा विभक्ति आदि में एकवचन, द्विवचन और बहुव
ये तीन वचन (संख्या) होते हैं। एक वस्तु के लिए एकवचन का प्र
होता है। जैसे—एक बालक के लिए 'बालकः'। दो पदार्थ के लि
द्विवचन का प्रयोग होता है। जैसे— दो लड़कों के लिए 'बालकौ'। त
या तीन से अधिक में बहुवचन होता है। जैसे—तीन या तीन से अ
लड़कों के लिए 'बालकाः'।

नोट—कुछ शब्दों के वचन नियत हैं। जैसे-एक शब्द नित्यए
वचनान्त है। द्वि, उभ, अश्विन, रोदसी, द्यावापृथिवी आदि शब्द नि
द्विवचनान्त हैं। त्रि से लेकर अष्टादशन् शब्द तक सभी संख्यावा
शब्द, अप्, दार, बहु, कति, आदि शब्द नित्यबहुवचनान्त हैं।

सुप् विभक्तियों की आकृतियाँ

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सु (स्)	औ	जस् (अस्)
द्वितीया	अम्	औट् (औ)	शस् (अस्)
तृतीया	टा (आ)	भ्याम्	भिस्
चतुर्थी	ङे (ए)	भ्याम्	भ्यस्
पञ्चमी	ङसि (अस्)	भ्याम्	भ्यस्
षष्ठी	ङस् (अस्)	ओस्	आम्
सप्तमी	ङि (इ)	ओस्	सुप् (सु)

लिङ्ग (Gender)

तीन वचनों की तरह प्रातिपदिक में तीन लिङ्ग भी होते हैं—
ङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक या क्लीबलिङ्ग । लिङ्गों का सम्बन्ध
तुतः शब्द के ही साथ होता है। अर्थ में भेद नहीं रहने पर भी
ङ्ग में भेद हो जाता है। जैसे—दार शब्द पुंलिङ्ग, स्त्री शब्द स्त्री-
ङ्ग और कलत्र शब्द नपुंसक। यहाँ तीनों के अर्थ समान ही हैं किन्तु
ङ्ग तीनों के भिन्न हैं। इसलिए पुरुष वाचक शब्द पुंलिङ्ग स्त्रीवाचक
द स्त्रीलिङ्ग और निर्जीव वस्तु बोधक शब्द नपुंसक यह कहना
ङ्गत है; क्योंकि घट, पट, आदि शब्द पुंलिङ्ग और अप्, तटी,
कला शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं। हिन्दी में स्त्रीलिङ्ग में व्यवहृत 'पुलिस'
द भी इसी का परिचायक है।

[१] अजन्तपुंलिङ्ग शब्द

अकारान्त 'राम' शब्द

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
मा	रामः	रामौ	रामाः
तीया	रामम्	रामौ	रामान्
ीया	रामेण	रामाभ्याम्	रामैः
ुर्थी	रामाय	रामाभ्याम्	रामेभ्यः
चमी	रामात्, रामाद्	रामाभ्याम्	रामेभ्यः
ठी	रामस्य	रामयोः	रामाणाम्
तमी	रामे	रामयोः	रामेषु
म्बोधन	राम	रामौ	रामाः

देव, कृष्ण, बोध, गज, घट, पट, वृक्ष, अनुज, अग्रज, मातुल, माता-
ह, पितामह आदि सभी अकारान्त पुंलिङ्ग शब्दों के रूप 'राम' शब्द
समान होते हैं।

नोट—१. रेफ, ऋकार तथा मूर्धन्य षकार के बाद पदान्त नकार
ो छोड़कर (जैसे—'रामान्' में नकार) अगर नकार हो तो णकार
जाता है। जैसे—चतुर्णाम्, पितृणाम्, यूष्णाम् इत्यादि।

२. यदि रेफ, ऋकार तथा षकार के बाद नकार से पूर्व बी अट्, कवर्ग, पवर्ग, आ, तथा अनुस्वार (ं) में से एक या ए अधिक वर्ण का व्यवधान हो तो भी नकार को णकार होता है रेफ आदि निमित्त तथा 'न' दोनों एक ही पद में हों। जैसे—र रामाणाम्, हरीणाम्, धानुष्काणाम् इत्यादि; किन्तु 'कृष्णानाम्' णत्व नहीं होगा, क्योंकि षकार और नकार के बीच 'ण' का व्य है जो कि पूर्वोक्त अट्, कवर्ग, पवर्ग, आ तथा अनुस्वार से भि

३. इसी तरह 'रामनाम' में भी 'नाम' वाले नकार को ण नहीं होगा, क्यों कि रेफ रूप निमित और नकार एक पद में न दोनों दो पदों में हैं।

४. इण् तथा कवर्ग के बाद आदेश सम्बन्धी या प्रत्यय सम्ब 'सकार' हो तो उसे मूर्धन्य 'षकार' हो जाता है। जैसे—ह भानुषु, धातृषु, रोमेषु, वाक्षु इत्यादि।

शब्दों के रूप बनाने में छात्रों को इन नियमों का पूरा ध्यान र चाहिए।

अकारान्त पुंलिङ्ग होने पर भी 'सर्वादि' गण के शब्दों के स 'राम' शब्द के समान नहीं होते हैं। जैसे—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	सर्वः	सर्वौ	<u>सर्वे</u>
द्वि०	सर्वम्	सर्वौ	सर्वान्
तृ०	सर्वेण	सर्वाभ्याम्	सर्वैः
च०	<u>सर्वस्मै</u>	"	सर्वेभ्यः
प०	<u>सर्वस्मात्</u>	"	"
ष०	सर्वस्य	सर्वयोः	<u>सर्वेषाम्</u>
स०	<u>सर्वस्मिन्</u>	"	सर्वेषु
सम्बो०	सर्व	सर्वौ	सर्वे

रेखांकित रूपों में ही विशेषता है, शेष रूप तो रामवत् हैं।

'सर्वादि' गण में ३५ शब्द हैं। इनके ही रूप 'सर्व' शब्द के समान हैं। वे शब्द ये हैं—

सर्व, विश्व, उभ, उभय, 'डतर, डतम' (ये दोनों प्रत्यय हैं) अन्य, तर, इतर, त्वत्, त्व, नेम, सम, सिम, 'पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, र, अपर, अधर', (ये सातों शब्द व्यवस्था अर्थात् नियमतः अवधि-क्ष अर्थ में और संज्ञा से भिन्न में ही सर्वनाम संज्ञक हैं), 'स्व' ह शब्द आत्मीय और आत्मा अर्थों में ही 'सर्वनाम' है न कि ज्ञाति र धन अर्थों में), 'अन्तर' (शब्द बहिर्योग=बहिर्विद्यमान अर्थात् ह्य अर्थ में तथा, उपसंव्यान=परिधानीय अर्थों में सर्वनाम है), द्, तद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु और म्, ये नौ शब्द त्यदादि कहलाते हैं।

नोट—१. सर्वादि शब्दों का यदि अपना मुख्य अर्थ नहीं रहेगा र्थात् ये यदि किसी की संज्ञा रूप से या उपसर्जन=गौण रूप से प्रयुक्त ो, तो सर्वनाम संज्ञा नहीं होगी। जैसे—किसी का नाम यदि सर्व है वहाँ 'सर्वाय' देहि होगा न कि 'सर्वस्मै'। इसी तरह सर्व को जीतने ला (सर्वान् अतिक्रान्तः अतिसर्वः) अतिसर्व के भी रूप 'अतिसर्वे' तिसर्वस्मै' आदि नहीं होंगे अपितु 'अतिसर्वाः' 'अतिसर्वाय' आदि गे।

२. सर्वादि शब्दों के साथ द्वन्द्व समास करने पर केवल 'जस्' में कल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। जैसे—वर्णाश्रमेतरे, वर्णाश्रमेतराः। ाम्' में 'वर्णाश्रमेतराणाम्'।

३. पूर्वादि नौ शब्दों में जस्, ङसि तथा ङि विभक्तियों में सर्वनाम युक्त कार्य विकल्प से होता है। यथा—पूर्वे-पूर्वाः, पूर्वस्मात्-पूर्वात्, स्मिन्-पूर्वे। ऐसे ही परे-पराः आदि समझना चाहिए।

४. तृतीया समास में भी सर्वनाम संज्ञा नहीं होती है। जैसे—सेन पूर्वाय—मासपूर्वाय, न कि पूर्वस्मै।

५. 'नेम' शब्द को जस् विभक्ति से विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती । जैसे—नेमे-नेमाः। शेषरूप सर्ववत्।

६. प्रथम, चरम, तय प्रत्ययान्त (यथा–द्वितय, तृतय आ
अल्प, अर्घ तथा कतिपय शब्दों की भी प्रथमा बहुवचन (जस्)
विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। जैसे—प्रथमे-प्रथमाः, चरमे-च
इत्यादि। इनके शेष रूप 'राम' की तरह होंगे, न कि 'सर्व' की त

७. 'तीय' प्रत्ययान्त शब्दों को ङे, ङसि, ङि आदि ङित्, विभ
में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। जैसे—द्वितीयस्मै-द्विती
द्वितीयस्मात्-द्वितीयात्, द्वितीयस्मिन्-द्वितीये। इसी तरह तृती
समझना चाहिए।

'निर्जर' शब्द के भी कुछ रूप 'राम' शब्द से भिन्न होते
आजादि विभक्तियों में 'जर' को 'जरस्' विकल्प से हो जात
जैसे—

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र०	निर्जरः	निर्जरसौ	निर्जरसः
द्वि०	निर्जरसम्	निर्जरसौ	निर्जरसः
तृ०	निर्जरसा	निर्जराभ्याम्	निर्जरैः
च०	निर्जरसे	,,	निर्जरेभ्यः
प०	निर्जरसः	,,	,,
ष०	निर्जरसः	निर्जरसोः	निर्जरसाम्
स०	निर्जरसि	निर्जरसोः	निर्जरेषु
सम्बो०	निर्जर	निर्जरसौ	निर्जरसः

पक्ष में राम शब्द के समान ही रूप होते हैं।

पाद, दन्त आदि शब्दों को शस् विभक्ति से लेकर सुप् तक प
आदि आदेश विकल्प से होते हैं। यथा—पदः-पादान्, पदा-
दतः-दन्तान् इत्यादि।

अकारान्त 'विश्वपा' (विश्वपालक) शब्द

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	विश्वपाः	विश्वपौ	विश्वपाः
द्वि०	विश्वपाम्	विश्वपौ	विश्वपः

	एकव०	द्विव०	बहुव०
०	विश्वपा	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभिः
०	विश्वपे	"	विश्वपाभ्यः
०	विश्वपः	"	"
०	"	विश्वपोः	विश्वपाम्
०	विश्वपि	"	विश्वपासु
म्बो०	विश्वपाः	विश्वपौ	विश्वपाः

इसी तरह शङ्खध्मा (शंख फूँकनेवाला), सोमपा, मधुपा, कीला-पा आदि शब्दों के रूप होते हैं।

इकारान्त 'हरि' शब्द

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
०	हरिः	हरी	हरयः
०	हरिम्	हरी	हरीन्
०	हरिणा	हरिभ्याम्	हरिभिः
०	हरये	"	हरिभ्यः
०	हरेः	"	"
०	हरेः	हर्योः	हरीणाम्
०	हरौ	हर्योः	हरिषु
म्बो०	हरे	हरी	हरयः

इसी तरह ह्रस्व इकारान्त पुंलिङ्ग शब्दों के रूप होते हैं। जैसे—विवि, रवि, मुनि, कपि, अग्नि, गिरि, निधि, विधि, आदि। किन्तु पति और सखि शब्दों के रूप हरि के समान नहीं होते हैं। जैसे 'पति' शब्द—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	पतिः	पती	पतयः
द्वितीया	पतिम्	पती	पतीन्
तृतीया	पत्या	पतिभ्याम्	पतिभिः
चतुर्थी	पत्ये	पतिभ्याम्	पतिभ्यः
पञ्चमी	पत्युः	पतिभ्याम्	पतिभ्यः

	एकवचन	द्विव०	बहुव०
षष्ठी	पत्युः	पत्योः	पतीनाम्
सप्तमी	पत्यौ	पत्योः	पतिषु
सम्बोधन	हे पते	हे पती	हे पतयः

नोट—यदि पति शब्द समास के अन्त में आता है, जैसे—श्रीप भूपति, नरपति, सीतापति आदि शब्दों में तो हरि शब्द के समान होते हैं। यथा—

तृतीया एकवचन—भूपतिना
चतुर्थी एकवचन—भूपतये
पञ्चमी और षष्ठी एकवचन—भूपतेः
सप्तमी एकवचन—भूपतौ
शेषरूप समान ही होते हैं।

इकारान्त 'सखि' शब्द

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्रथमा	सखा	सखायौ	सखायः
द्वितीया	सखायम्	सखायौ	सखीन्
तृतीया	सख्या	सखिभ्याम्	सखिभिः
चतुर्थी	सख्ये	सखिभ्याम्	सखिभ्यः
पञ्चमी	सख्युः	सखिभ्याम्	सखिभ्यः
षष्ठी	सख्युः	सख्योः	सखीनाम्
सप्तमी	सख्यौ	सख्योः	सखिषु
सम्बोधन	हे सखे	हे सखायौ	हे सखायः

नोट—सुसखि, अतिसखि, परमसखि, आदि शब्दों के रूप तृती चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी और सप्तमी के एकवचन में सखि शब्द के से भिन्न होते हैं। जैसे—

तृतीया एकवचन—सुसखिना
चतुर्थी एकवचन—सुसखये

पञ्चमी एकवचन—सुसखेः
षष्ठी एकवचन—सुसखेः
सप्तमी एकवचन—सुसखौ

(शेषरूप पूर्ववत्)

परन्तु सखीमति-क्रान्तः (सखी को अतिक्रमण करनेवाला) इस अर्थ में 'अतिसखि' शब्द हो तो 'अतिसखायौ' आदि रूप नहीं होते हैं। इसके रूप अतिसखिः, अतिसखी, अतिसखयः इत्यादि हरि शब्द के समान होते हैं।

दीर्घ ईकारान्त 'प्रधी' शब्द (प्रकृष्टं ध्यायति यः)

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र०	प्रधीः	प्रध्यौ	प्रध्यः
द्वि०	प्रध्यम्	प्रध्यौ	प्रध्यः
तृ०	प्रध्या	प्रधीभ्याम्	प्रधीभिः
च०	प्रध्ये	प्रधीभ्याम्	प्रधीभ्यः
प०	प्रध्यः	प्रधीभ्याम्	प्रधीभ्यः
ष०	प्रध्यः	प्रध्योः	प्रध्याम्
स०	प्रध्यि	प्रध्योः	प्रधीषु
सम्बो०	प्रधीः	प्रध्यौ	प्रध्यः

नोट—प्रकृष्टा धीर्यस्य इस अर्थ में 'प्रधी' शब्द के कुछ भिन्न रूप होते हैं। जैसे—ङे—प्रध्यै, ङसि-ङस्—प्रध्याः, आम्—प्रधीनाम्, ङि—प्रध्याम्, सम्बोधन प्रधि ! शेष पूर्ववत्।

दीर्घ ईकारान्त 'सुधी' शब्द के रूप भिन्न होते हैं।

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र०	सुधीः	सुधियौ	सुधियः
द्वि०	सुधियम्	सुधियौ	सुधियः
तृ०	सुधिया	सुधीभ्याम्	सुधीभिः

	एकव०	द्विव०	बहुव०
च०	सुधिये	सुधीभ्याम्	सुधीभ्यः
प०	सुधियः	सुधीभ्याम्	सुधीभ्यः
ष०	सुधियः	सुधियोः	सुधियाम्
स०	सुधियि	सुधियोः	सुधीषु
सम्बो०	सुधीः	सुधियौ	सुधियः

ह्रस्व उकारान्त 'साधु' शब्द

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र०	साधुः	साधू	साधवः
द्वि०	साधुम्	साधू	साधून्
तृ०	साधुना	साधुभ्याम्	साधुभिः
च०	साधवे	साधुभ्याम्	साधुभ्यः
प०	साधोः	साधुभ्याम्	साधुभ्यः
ष०	साधोः	साध्वोः	साधूनाम्
स०	साधौ	साध्वोः	साधुषु
सम्बो०	साधो	साधू	साधवः

प्रभु, रिपु, शत्रु, विष्णु, भानु, शम्भु, जिष्णु (जीतने वाला), भविष्णु (होनहार), सहिष्णु, गुरु, केतु, राहु, पशु, शिशु आदि शब्दों के रूप साधु के समान होते हैं।

दीर्घ ऊकारान्त 'हूहू' (गन्धर्व) शब्द

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र०	हूहूः	हूह्वौ	हूह्वः
द्वि०	हूहूम्	हूह्वौ	हूहून्
तृ०	हूह्वा	हूहूभ्याम्	हूहूभिः
च०	हूह्वे	हूहूभ्याम्	हूहूभ्यः
प०	हूह्वः	हूहूभ्याम्	हूहूभ्यः
ष०	हूह्वः	हूह्वोः	हूह्वाम्

	एकव०	द्विव०	बहुव०
स०	हूह्वि	हूह्वोः	हूहूषु
सम्बो०	हूहूः	हूह्वौ	हूह्वः

दीर्घ ऊकारान्त 'खलपू' शब्द (खलं पुनाति यः)

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र०	खलपूः	खलप्वौ	खलप्वः
द्वि०	खलप्वम्	खलप्वौ	खलप्वः
तृ०	खलप्वा	खलपूभ्याम्	खलपूभिः
च०	खलप्वे	खलपूभ्याम्	खलपूभ्यः
प०	खलप्वः	खलपूभ्याम्	खलपूभ्यः
ष०	खलप्वः	खलप्वोः	खलप्वाम्
स०	खलप्वि	खलप्वोः	खलपूषु
सम्बो०	खलपूः	खलप्वौ	खलप्वः

इसी तरह सुष्ठुलुनाति यः 'सुलूः', केदारं लुनाति यः 'केदारलूः' इत्यादि शब्दों के रूप खलपू की तरह होते हैं। एवं वर्षासु भवति वर्षाभूः (मेंढक), वर्षाभ्वौ वर्षाभ्वः इत्यादि खलपू की तरह समझना चाहिए।

ह्रस्व ऋकारान्त शब्दों में तृ (तृन्, तृच्) प्रत्ययान्त कर्तृ, हर्तृ आदि शब्दों में तथा स्वसृ (बहन), नप्तृ (नाती), नेष्टृ (सोमयाग के ऋत्विक्), त्वष्टृ (विश्वकर्मा, बढई आदि), क्षतृ (ब्रह्मा, सारथी, दासीपुत्र आदि), होतृ (हवन करने वाला) पोतृ (पोता), प्रशास्तृ (राजा, शासक, सूबेदार आदि) तथा उद्गातृ (यज्ञ में सामवेद का गान करने वाला) शब्दों में उपधा को सम्बुद्धि (सम्बोधन का सु) को छोड़कर सर्वनामस्थान (सु, औ, जस्, अम्, औट्) में दीर्घ हो जाता है। इसके अतिरिक्त पितृ, भ्रातृ जामातृ, आदि शब्दों में दीर्घ नहीं होता है।

ह्रस्व ऋकारान्त 'दातृ' शब्द

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	दाता	दातारौ	दातारः

	एकव०	द्विव०	बहुव०
द्वि०	दातारम्	दातारौ	दातॄन्
तृ०	दात्रा	दातृभ्याम्	दातृभिः
च०	दात्रे	दातृभ्याम्	दातृभ्यः
प०	दातुः	दातृभ्याम्	दातृभ्यः
ष०	दातुः	दात्रोः	दातॄणाम्
स०	दातरि	दात्रोः	दातृषु
सम्बो०	दातः	दातारौ	दातारः

इसी तरह तृन् और तृच् कृत् प्रत्ययान्त ऋकारान्त पुंलिङ्ग शब्द के रूप होते हैं। जैसे—कर्तृ, गन्तृ, विधातृ, श्रोतृ, रक्षितृ, नेप्तृ (नाती) पोतृ (पोता), ज्ञातृ, धातृ, होतृ आदि।

ऋकारान्त 'पितृ' शब्द

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	पिता	पितरौ	पितरः
द्वि०	पितरम्	पितरौ	पितॄन्
तृ०	पित्रा	पितृभ्याम्	पितृभिः
च०	पित्रे	पितृभ्याम्	पितृभ्यः
प०	पितुः	पितृभ्याम्	पितृभ्यः
ष०	पितुः	पित्रोः	पितॄणाम्
स०	पितरि	पित्रोः	पितृषु
सम्बो०	पितः	पितरौ	पितरः

इसी तरह भ्रातृ, जामातृ (दमाद), नृ (मनुष्य), आदि शब्द के रूप होते हैं। मातृ के भी रूप पितृ के समान ही होते हैं केवल द्वितीया बहुवचन में 'मातॄः' होता है। 'नृ' शब्द के षष्ठी बहुवचन दीर्घ विकल्प से होता है। अतः नृणाम् और नॄणाम् दो रूप होते हैं

उकारान्त शब्द होने पर भी 'क्रोष्टु' (सियार) शब्द के रू निम्नलिखित होते हैं।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	क्रोष्टा	क्रोष्टारौ	क्रोष्टारः

	एकव०	द्विव०	बहुव०
द्वि०	क्रोष्टारम्	क्रोष्टारौ	क्रोष्टून्
तृ०	क्रोष्ट्रा, क्रोष्टुना	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभिः
च०	क्रोष्ट्रे, क्रोष्टवे	"	क्रोष्टुभ्यः
प०	क्रोष्टुः, क्रोष्टोः	"	"
ष०	" "	क्रोष्ट्रोः, क्रोष्ट्वोः	क्रोष्टूनाम्
स०	क्रोष्टरि, क्रोष्टौ	" "	क्रोष्टुषु
सम्बो०	क्रोष्टो	क्रोष्टारौ	क्रोष्टारः

दीर्घ ऋकारान्त 'कॄ' शब्द

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र० सम्बो०	कीः, कॄः	किरौ, क्रौ	किरः, क्रः
द्वि०	किरम्, कॄम्	" "	" कॄन्
तृ०	किरा, क्रा	कीर्भ्याम्, कॄभ्याम्	कीर्भिः, कॄभिः
च०	किरे, क्रे	" "	कीर्भ्यः, कॄभ्यः
प०	किरः, क्रः	" "	" "
ष०	किरः, क्रः	किरोः, क्रोः	किराम्; क्राम्
स०	किरि, क्रि	" "	कीर्षु, कॄषु

ऐसे ही 'तॄ' शब्द के रूप होते हैं।

ऌकारान्त 'गम्ऌ' शब्द

	एकव०	द्वि०	बहुव०
प्र०	गमा	गमलौ	गमलः
द्वि०	गमलम्	"	गमॄन्
तृ०	गम्ला	गम्ऌभ्याम्	गम्ऌभिः
च०	गम्ले	"	गम्ऌभ्यः
प०	गमुल्	"	"
ष०	"	गम्लोः	गम्ऌणाम्
स०	गमलि	"	गम्ऌषु
सम्बो०	गमल्	गमलौ	गमलः

इसी तरह 'शक्ऌ' शब्द के रूप होते हैं।

एकारान्त 'से' (सकाम) शब्द

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र०	सेः	सयौ	सयः
द्वि०	सयम्	,,	,,
तृ०	सया	सेभ्याम्	सेभिः
च०	सये	,,	सेभ्यः
प०	सेः	,,	,,
ष०	सेः	सयोः	सयाम्
स०	सयि	,,	सेषु
सम्बो०	से	सयौ	सयः

ऐकारान्त 'रै' (धन) शब्द

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र०	राः	रायौ	रायः
द्वि०	रायम्	,,	,,
तृ०	राया	राभ्याम्	राभिः
च०	राये	,,	राभ्यः
प०	रायः	,,	,,
ष०	रायः	रायोः	रायाम्
स०	रायि	,,	रासु
सम्बो०	राः	रायौ	रायः

ओकारान्त 'गो' (गाय या बैल) शब्द

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र० सम्बो०	गौः	गावौ	गावः
द्वि०	गाम्	,,	गाः
तृ०	गवा	गोभ्याम्	गोभिः
च०	गवे	,,	गोभ्यः
प०	गोः	,,	,,

	एकव०	द्विव०	बहुव०
ा०	गो	गवोः	गवाम्
ा०	गवि	गवोः	गोषु

ऐसे ही 'स्मृतो' 'सुद्यो' आदि शब्दों के रूप होते हैं।

औकारान्त 'ग्लौ' (चन्द्र) शब्द

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
ा० सम्बो०	ग्लौः	ग्लावौ	ग्लावः
द्वि०	ग्लावम्	"	"
ृ०	ग्लावा	ग्लौभ्याम्	ग्लौभि
ा०	ग्लावे	"	ग्लौभ्य
०	ग्लावः	"	ग्लौभ्यः
०	"	ग्लावोः	ग्लावाम्
ा०	ग्लावि	"	ग्लौषु

स्त्रीलिङ्ग 'नौ' शब्द के रूप ग्लौ की तरह होते हैं।

---

[२] अजन्तस्त्रीलिङ्ग शब्द

आकारान्त 'रमा' शब्द

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
थमा	रमा	रमे	रमाः
द्वितीया	रमाम्	रमे	रमाः
तीया	रमया	रमाभ्याम्	रमाभिः
तुर्थी	रमायै	"	रमाभ्यः
ञ्चमी	रमायाः	"	"
ष्ठी	रमायाः	रमयोः	रमाणाम्
प्तमी	रमायाम्	"	रमासु
म्बोधन	रमे	रमे	रमाः

ऐसे ही आकारान्त स्त्रीलिङ्ग दुर्गा, वामा, अबला, कन्या, अजा, शिवा आदि शब्दों के रूप होते हैं। किन्तु अम्बा, अक्क और अल्ला

(माता) शब्दों के सम्बोधन के एकवचन में अम्ब, अक्क और अ
रूप होते हैं। शेष रूप रमा की तरह।

नोट–अम्बाडा, अम्बाला और अम्बिका शब्द की सम्बुद्धि में ह्र
नहीं होता। जैसे—हे अम्बाडे, हे अम्बाले, हे अम्बिके।

'जरा' शब्द के रूप निम्नलिखित होते हैं।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	जरा	जरसौ-जरे	जरसः-जरा
सम्बो०	जरे	,, ,,	,, ,,
द्वि०	जरसम्-जराम्	,, ,,	,, ,,
तृ०	जरसा-जरया	जराभ्याम्	जराभिः
च०	जरसे-जरायै	,,	जराभ्यः
प०	जरसः-जरायाः	,,	,,
ष०	,, ,,	जरसोः-जरयोः	जरसाम्-जराण
स०	जरसि-जरायाम्	,, ,,	जरासु

सर्वनाम आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के भी रूप रमा से भिन्न
हैं। जैसे—

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र०	सर्वा	सर्वे	सर्वाः
सम्बो०	सर्वे	,,	,,
द्वि०	सर्वाम्	,,	,,
तृ०	सर्वया	सर्वाभ्याम्	सर्वाभिः
च०	सर्वस्यै	,,	सर्वाभ्यः
प०	सर्वस्याः	,,	,,
ष०	सर्वस्याः	सर्वयोः	सर्वासाम्
स०	सर्वस्याम्	,,	सर्वासु

इसी तरह विश्वा, अन्या, अन्यतरा आदि शब्दों के रूप होते

नोट—१. उत्तरपूर्वा, दक्षिणपूर्वा आदि शब्दों में विकल्प से
नाम संज्ञा होती है। अतः उत्तरपूर्वस्यै-उत्तरपूर्वायै, उत्तरपूर्व

त्तरपूर्वायाः, उत्तरपूर्वासाम्-उत्तरपूर्वाणाम्, उत्तरपूर्वस्याम्-उत्तर-र्वायाम् इत्यादि रूप होंगे। इसी तरह द्वितीया और तृतीया शब्दों के वल ङे, ङस् और ङि विभक्तियों में द्वितीयस्यै-द्वितीयायै इत्यादि प होते हैं। इनके शेष रूप रमा के समान होते हैं।

२. नासिका और निशा शब्दों के रूप रमा की तरह होते हैं। न्तु शस् विभक्ति से सुप् तक नासिका के स्थान में 'नस्' और निशा । जगह 'निश्' भी विकल्प से होता है। अतः नसः, नसा, नोभ्याम्, ोभिः तथा निशः, निशा, निड्भ्याम्, निड्भिः इत्यादि भी रूप होंगे।

ह्रस्व इकारान्त 'मति' (बुद्धि) शब्द

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	मतिः	मती	मतयः
सम्बो०	मते	"	"
द्वि०	मतिम्	"	मतीः
तृ०	मत्या	मतिभ्याम्	मतिभिः
च०	मत्यै–मतये	"	मतिभ्यः
प०	मत्याः–मतेः	"	"
ष०	" "	मत्योः	मतीनाम्
स०	मत्याम्–मतौ	"	मतिषु

इसी तरह श्रुति, स्मृति, कीर्ति, कान्ति आदि इकारान्त स्त्रीलिङ्ग ब्दों के रूप होते हैं।

दीर्घ ईकारान्त 'गौरी' शब्द

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र०	गौरी	गौर्यौ	गौर्यः
द्वि०	गौरीम्	"	गौरीः
तृ०	गौर्या	गौरीभ्याम्	गौरीभिः
च०	गौर्यै	"	गौरीभ्यः
प०	गौर्याः	"	"

ष०	गौर्याः	गौर्योः	गौरीणाम्
स०	गौर्याम्	”	गौरीषु
सम्बो०	गौरि	गौर्यौ	गौर्यः

ऐसे ही वाणी, काली, नदी, सखी, राज्ञी, पत्नी आदि शब्द रूप होते हैं ।

नोट—अवी (रजस्वला), तन्त्री (वीणा के तार), तरी (नौ लक्ष्मी, धी (बुद्धि), ह्री (लज्जा) और श्री (लक्ष्मी) शब्दों के प्रथमा एकवचन में विसर्गान्त-अवीः, तन्त्रीः आदि होते हैं ।

दीर्घ ईकारान्त 'स्त्री' शब्द

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र०	स्त्री	स्त्रियौ	स्त्रियः
सम्बो०	स्त्रि	”	”
द्वि०	स्त्रियम्-स्त्रीम्	”	स्त्रियः-स्त्री
तृ०	स्त्रिया	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभिः
च०	स्त्रियै	”	स्त्रीभ्यः
प०	स्त्रियाः	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभ्यः
ष०	”	स्त्रियोः	स्त्रीणाम्
स०	स्त्रियाम्, स्त्रियि	”	स्त्रीषु

स्त्रियम् अतिक्रान्ता इस अर्थ में स्त्रीलिङ्ग 'अतिस्त्रि' शब्द के 'टा' में अतिस्त्रिया, 'ङे' में अतिस्त्रियै–अतिस्त्रये । 'ङसि-ङ अतिस्त्रियाः—अतिस्त्रेः, 'ङि' में अतिस्त्रियाम्-अतिस्त्रौ शेष पुंल्लिङ्ग अतिस्त्रि के समान । केवल 'शस्' में 'अतिस्त्रीन्' की 'अतिस्त्रीः' ।

स्त्रियम् अतिक्रान्तः इस अर्थ में पुंल्लिङ्ग 'अतिस्त्रि' शब्द के

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र०	अतिस्त्रिः	अतिस्त्रियौ	अतिस्त्रिय
सम्बो	अतिस्त्रे	”	”

द्वि०	अतिस्त्रियम्-अतिस्त्रिम्	अतिस्त्रियौ	अतिस्त्रीन्
तृ०	अतिस्त्रिणा	अतिस्त्रिभ्याम्	अतिस्त्रिभिः
च०	अतिस्त्रये	”	अतिस्त्रिभ्यः
प०	अतिस्त्रेः	”	”
ष०	”	अतिस्त्रियोः	अतिस्त्रीणाम्
स०	अतिस्त्रौ	”	अतिस्त्रिषु

'श्री' शब्द

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र०	श्रीः	श्रियौ	श्रियः
सम्बो०	श्रीः	”	”
द्वि०	श्रियम्	”	श्रियः
तृ०	श्रिया	श्रीभ्याम्	श्रीभिः
च०	श्रियै-श्रिये	”	श्रीभ्यः
प०	श्रियाः–श्रियः	”	”
ष०	” ”	श्रियोः	श्रीणाम्–श्रियाम्
स०	श्रियाम्–श्रियि	”	श्रीषु

सुष्ठु धीः इस अर्थ में 'सुधीः सुधियौ, सुधियः' आदि श्रीवत्। ष्ठु ध्यायति, सुष्ठुधीर्वा यस्याः इन अर्थों में 'सुधी' शब्द के रूप ी' के समान और पुंल्लिङ्ग 'सुधी' के समान भी। इसी तरह प्रकृष्टा : 'प्रधीः, प्रध्यौ, प्रध्यः' आदि गौरीवत्। प्रकृष्टं ध्यायति अथवा कृष्टा धीः यस्याः इन अर्थों में 'प्रधी' लक्ष्मीवत् तथा पुंल्लिङ्ग 'प्रधी' समान।

ह्रस्व उकारान्त 'धेनु' शब्द

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र०	धेनुः	धेनू	धेनवः
सम्बो०	धेनो	”	”
द्वि०	धेनुम्	”	धेनूः

तृ०	धेन्वा	धेनुभ्याम्	धेनुभिः
च०	धेन्वै-धेनवे	"	धेनुभ्यः
प०	धेन्वाः-धेनोः	"	"
ष०	" "	धेन्वोः	धेनूनाम्
स०	धेन्वाम्-धेनौ	"	धेनुषु

'क्रोष्टु' के स्त्रीलिङ्ग में क्रोष्ट्री, क्रोष्ट्र्यौ, क्रोष्ट्र्यः आदि गौरी

दीर्घ ऊकारान्त 'वधू शब्द

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र०	वधूः	वध्वौ	वध्वः
सम्बो०	वधु	"	"
द्वि०	वधूम्	"	वधूः
तृ०	वध्वा	वधूभ्याम्	वधूभिः
च०	वध्वै	"	वधूभ्यः
प०	वध्वाः	"	"
ष०	वध्वाः	वध्वोः	वधूनाम्
स०	वध्वाम्	"	वधूषु

श्वश्रू (सास), चमू (सेना), कर्कन्धू (ईरानी बेर, पेड़, या
यवागू (जौ से बनी हुई लप्सी), चम्पू (गद्य-पद्यमयकाव्य)
शब्दों के रूप वधू के समान होते हैं। 'सुभ्रू' शब्द के रूप सुभ्रूः सु
सुभ्रुवः; सुभ्रुवम्, सुभ्रुवौ, सुभ्रुवः आदि 'श्री' शब्द के समान। स
में 'हे सुभ्रूः'। किन्तु 'वर्षाभू' (भेकी या पुनर्नवा) शब्द के रूप व
वर्षाभ्वौ, वर्षाभ्वः, वर्षाभ्वम्, वर्षाभ्वौ, वर्षाभ्वः आदि। शेष रूप
की तरह। इसी तरह 'पुनर्भू' आदि शब्दों के रूप होते हैं।

स्वसृ, तिसृ, चतसृ, ननान्दृ, दुहितृ, यातृ तथा मातृ इन सात
स्वस्रादि कहते हैं। इनमें ङीप् (ई) नहीं होता है। इनमें

बहिन) के रूप स्वसा, स्वसारौ, स्वसारः आदि धातृ के समान। वल 'शस्' में स्वसृः। ननान्दृ या ननन्दृ (पति की बहिन) ननान्दा, नान्दरौ, ननान्दरः, ननान्दरम्, ननान्दरौ, ननान्दृः। शेषरूप धातृवत्। हितृ (कन्या), यातृ (जिठानी और देवरानी), मातृ शब्दों के रूप तृवत् होते हैं केवल 'शस्' में दुहितृः, यातृः तथा मातृः। तिसृ और तसृ शब्दों के रूप संख्यावाचक शब्दों में देखना चाहिए। 'द्यो' शब्द रूप गो शब्द के समान, 'रै' (सम्पत्ति) के रूप पुंलिङ्ग 'रै' के मान, और नौ (नाव) शब्द के रूप 'ग्लौ' के समान होते हैं।

---

[३] अजन्तनपुंसक शब्द

अकारान्त 'फल' शब्द

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	फलम्	फले	फलानि
द्वि०	फलम्	फले	फलानि

शेष रूप राम शब्द के समान। ऐसे ही ज्ञान, धन, वन, मित्र आदि ब्दों के रूप होते हैं।

डतर तथा डतम प्रत्ययान्त कतर एवं कतम शब्द तथा अन्य, अन्य-र और इतर शब्दों के सु, अम् की जगह अदड् (अद्) आदेश होता । अतः कतरत्-कतरद्, कतरे, कतराणि; कतमत् कतमद्, कतमे, तमानि; अन्यत्-अन्यद्, अन्ये, अन्यानि; अन्यतरत्-अन्यतरद्, न्यतरे, अन्यतराणि; इतरत्-इतरद्, इतरे, इतराणि रूप होते हैं। तीया से लेकर शेषरूप सर्व के समान होते हैं।

नोट—'एकतर' से एकतरम्, एकतरे, एकतराणि आदि फल के मान रूप होंगे।

अविद्यमाना जरा यस्य (कुलस्य) तत् अजरम् (कुलम्)। 'अजर' शब्द के रूप निम्नलिखित होते हैं जैसे:—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	अजरम्	अजरसी–अजरे	अजरांसि–अज
सम्बो०	अजर	" "	"
द्वि०	अजरसम्–अजरम्	अजरसी–अजरे	अजरांसि–अज
तृ०	अजरसा–अजरेण	अजराभ्याम्	अजरैः
च०	अजरसे–अजराय	"	अजरेभ्यः
प०	अजरसः–अजरात्	"	"
ष०	अजरसः–अजरस्य	अजरसोः-अजरयोः	अजरसाम्-अजर
स०	अजरसि–अजरे	" "	अज

हृदय, उदक तथा आस्य शब्दों के सुट् में (सु, औ, जस्, अम्, में) फल के समान रूप होते हैं। शसादि विभक्तियों में उनके स में क्रम से हृद्, उदन् तथा आसन् आदेश विकल्प से होता है। इस हृन्दि, हृदा, हृद्भ्याम्, हृद्भिः; उदानि, उद्ना, उद्भ्याम्, उद आसानि, आस्ना, आसभ्याम्, आसभिः इत्यादि और हृदयानि, हृ हृदयाभ्याम्, हृदयैः इत्यादि 'फलवत् भी रूप होंगे। इसी तरह म मांसे, मांसानि, मांसम्, मासे, मासि, मांसानि, मांसेन, मान् मान्भिः–मांसैः इत्यादि रूप होते हैं।

ह्रस्व इकारान्त 'वारि' (जल) शब्द

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र०	वारि	वारिणी	वारीणि
द्वि०	वारि	"	"
तृ०	वारिणा	वारिभ्याम्	वारिभिः
च०	वारिणे	"	वारिभ्यः
प०	वारिणः	"	"
ष०	वारिणः	वारिणोः	वारीणाम्

स०	वारिणि	वारिणोः	वारिषु
सम्बो०	वारे-वारि	वारिणी	वारीणि

जिन शब्दों के पुंलिङ्ग तथा नपुंसक में समान अर्थ होते हैं ऐसे कारान्त नपुंसक शब्दों के तृतीयादि अजादि विभक्तियों में (जैसे टा, ;, ङसि, ङस्, ओस् २, आम्, ङि में) पुंलिङ्ग के समान भी रूप ोते हैं। जैसे—'अनादि' शब्द के ङे में अनादये-अनादिने, ङसि तथा ःस् में अनादेः-अनादिनः, ओस् में-अनाद्योः-अनादिनोः, आम् में केवल ।नादीनाम्, ङि में—अनादौ-अनादिनि। शेष रूप वारि के समान। सी तरह 'सुधि' शब्द के टा में—सुधिया-सुधिना, ङे में सुधिये-ुधिने, ङसि तथा ङस् में—सुधियः-सुधिनः, ओस् में—सुधियोः-ुधिनोः, आम् में—सुधियाम्-सुधीनाम्, ङि में—सुधियि-सुधिनि। ।वशिष्ट रूप 'वारि' की तरह।

'दधि' शब्द के रूप अजादि तृतीयादि विभक्तियों में निम्नलिखित ोते हैं। दध्ना, दध्ने, दध्नः २ दध्नोः २, दध्नाम्, दध्नि-दधनि। शेष ़प वारि की तरह होते हैं। ऐसे ही अस्थि (हड्डी), सक्थि (जांघ), ौर अक्षि (नेत्र) शब्द के रूप दधि के समान होते हैं। जैसेः—

'सक्थि सक्थिनी, सक्थीनि' २, सक्थ्ना, सक्थ्ने सक्थ्नः २, ।क्थ्नोः २, सक्थ्नाम्। सक्थ्नि-सक्थनि शेषरूप वारिवत्। 'अस्थि ।स्थिनी अस्थीनि' २, अस्थ्ना, अस्थ्ने, अस्थ्नः २, अस्थ्नोः २, ।स्थ्नाम्, अस्थ्नि-अस्थनि शेष रूप वारि की तरह। 'अक्षि, अक्षिणी ।क्षीणि' २, अक्ष्णा, अक्ष्णे, अक्ष्णः, अक्ष्णः, अक्ष्णोः २ अक्ष्णाम्, ।क्ष्णि-अक्षणि शेष रूप वारि के समान।

उकारान्त 'मधु' शब्द

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र०	मधु	मधुनी	मधूनि
द्वि०	"	"	"
तृ०	मधुना	मधुभ्याम्	मधुभिः
च०	मधुने	"	मधुभ्यः

प०	मधुनः	मधुभ्याम्	मधुभ्यः
ष०	"	मधुनोः	मधूनाम्
स०	मधुनि	"	मधुषु
सम्बो०	मधो-मधु	मधुनी	मधूनि

सानु (शिखर) शब्द के सुट् में मधुवत् रूप होते हैं। शस्
विभक्तियों में सानु की जगह विकल्प से 'स्नु' भी आदेश होता
अतः—स्नूनि-सानूनि, स्नुना-सानुना, स्नुभ्याम्-सानुभ्याम्, स्नु
सानुभिः, स्नुने-सानुने, स्नुनः-सानुनः २, स्नुनोः-सानुनोः २, स्नू
सानूनाम्, स्नुनि-सानुनि। शेष रूप 'मधु' की तरह।

नोट—स्नु और सानु पुंलिङ्ग भी हैं। इसलिए स्नवे-सानवे, स्
सानोः आदि साधु शब्द के समान भी रूप होंगे।

'प्रियक्रोष्टु' शब्द के सुट् में मधु की तरह रूप होते हैं। तृती
अजादि विभक्तियों में प्रियक्रोष्ट्रा, प्रियक्रोष्ट्रे, प्रियक्रोष्टुः आदि
रूप होते हैं। शेष रूप प्रियक्रोष्टवे-प्रियक्रोष्टुने आदि 'सानु' की त
होते हैं। अम्बु (जल) शब्द के रूप मधुवत्।

ऋकारान्त 'धातृ' (दधाति यत् तत् धातृ) शब्द

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र०	धातृ	धातृणी	धातॄणि
द्वि०	"	"	"
तृ०	धात्रा-धातृणा	धातृभ्याम्	धातृभिः
च०	धात्रे-धातृणे	"	धातृभ्यः
प०	धातुः-धातृणः	"	"
ष०	" "	धात्रोः-धातृणोः	धातॄणाम्
स०	धातरि, धातृणि	" "	धातृषु
सम्बो०	धातः-धातृ	धातृणी	धातॄणि

नोट—१. तृतीयादि अजादि विभक्तियों में प्रथम रूप पुंवद्भाव
पक्ष में हैं। ऐसे ही 'ज्ञातृ' 'कर्तृ' आदि शब्दों के रूप होते हैं।

२. नपुंसक में सभी दीर्घान्त शब्द ह्रस्वान्त हो जाते हैं। जैसे—श्रीपा-श्रीप, सुधी-सुधि, प्ररै-प्ररि, सुनौ-सुनु इत्यादि। अतः इनके रूप अगन्त (अ, इ, उ, ऋ, ऌ वर्णान्त) शब्दों के समान ही होंगे।

---

[४] हलन्तपुंल्लिङ्ग शब्द

हकारान्त 'विश्ववाह्' (सब को धारण करनेवाला, विश्वम्भर)

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र० सम्बो०	विश्ववाट्–विश्वाड्	विश्वाहौ	विश्ववाहः
द्वि०	विश्ववाहम्	"	विश्वौहः
तृ०	विश्वौहा	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भिः
च०	विश्वौहे	"	विश्ववाड्भ्यः
प०	विश्वौहः	"	"
ष०	"	विश्वौहोः	विश्वौहाम्
स०	विश्वौहि	"	विश्ववाट्त्सु–ट्सु

ऐसे ही भारवाह् हव्यवाह् (अग्नि), श्वेतवाह् आदि शब्दों के रूप होते हैं।

'दुह्' शब्द के रूप धुक्-धुग्, दुहौ, दुहः आदि तथा भ्याम् आदि हलादि विभक्तियों में धुग्भ्याम् ३, धुग्भिः धुग्भ्यः २, धुक्षु रूप होते हैं।

अनडुह् (बैल) शब्द

प्र०	अनड्वान्	अनड्वाहौ	अनड्वाहः
सम्बो०	अनड्वन्	"	"
द्वि०	अनड्वाहम्	"	अनडुहः
तृ०	अनडुहा	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भिः
च०	अनडुहे	"	अनडुद्भ्यः
प०	अनडुहः	"	"
ष०	"	अनडुहोः	अनडुहाम्
स०	अनडुहि	"	अनडुत्सु

'सुदिव्' (शोभना द्यौः यस्मिन् स सुदिव् अर्थात्-स्वच्छ आका वाला दिन)

प्र०, सम्बो०	सुद्यौः	सुदिवौ	सुदिवः
द्वि०	सुदिवम्	"	"
तृ०	सुदिवा	सुद्युभ्याम्	सुद्युभिः
च०	सुदिवे	"	सुद्युभ्यः
प०	सुदिवः	"	"
ष०	"	सुदिवोः	सुदिवाम्
स०	सुदिवि	"	सुद्युषु

राजन् शब्द

प्र०	राजा	राजानौ	राजानः
सम्बो०	राजन्	"	"
द्वि०	राजानम्	"	राज्ञः
तृ०	राज्ञा	राजभ्याम्	राजभिः
च०	राज्ञे	"	राजभ्यः
प०	राज्ञः	"	"
ष०	"	राज्ञोः	राज्ञाम्
स०	राज्ञि-राजनि	"	राजसु

नोट—'यज्वन्' (यज्ञ करनेवाला) तथा 'ब्रह्मन्' शब्दों के राजन् के समान होते हैं। केवल शसादि अजादि विभक्तियों में नि लिखित रूप होते हैं।

यज्वनः, यज्वना, यज्वने, यज्वनः २, यज्वनोः २, यज्वन यज्वनि। ब्रह्मणः, ब्रह्मणा, ब्रह्मणे, ब्रह्मणः २, ब्रह्मणोः २, ब्रह्मण ब्रह्मणि। आत्मन्, सुशर्मन् आदि शब्दों के रूप ब्रह्मन् की तरह होते

(वृत्रं हन्ति) 'वृत्रहन्' (इन्द्र) शब्द

प्र०	वृत्रहा	वृत्रहणौ	वृत्रहणः
सम्बो०	वृत्रहन्	"	"
द्वि०	वृत्रहणम्	"	वृत्रघ्नः

तृ०	वृत्रघ्ना	वृत्रहभ्याम्	वृत्रहभिः
च०	वृत्रघ्ने	"	वृत्रहभ्यः
प०	वृत्रघ्नः	"	"
ष०	"	वृत्रघ्नोः	वृत्रघ्नाम्
स०	वृत्रघ्नि-वृत्रहणि	"	वृत्रहसु

ऐसे ही पूषा, पूषणौ, पूषणः, आदि पूषन् (सूर्य) शब्द के तथा अर्यमा, अर्यमणौ, अर्यमणः आदि अर्यमन् (सूर्य) शब्द के रूप होते हैं।

मघवन् (इन्द्र) शब्द

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र०	मघवान्	मघवन्तौ	मघवन्तः
सम्बो०	मघवन्	"	"
द्वि०	मघवन्तम्	मघवन्तौ	मघवतः
तृ०	मघवता	मघवद्भ्याम्	मघवद्भिः
च०	मघवते	"	मघवद्भ्यः
प०	मघवतः	"	"
ष०	मघवतः	मघवतोः	मघवताम्
स०	मघवति	"	मघवत्सु

ऐसे ही भगवत्, धनवत्, गुणवत्, विद्यावत्, रूपवत्, भवत् (आप), यावत्, तावत्, एतावत्, कियत्, इयत्, धीमत्, श्रीमत्, बुद्धिमत्, गोमत् आदि शब्दों के रूप होते हैं। किन्तु 'महत्' शब्द के रूप महान्, महान्तौ, महान्तः, महान्तम्, महान्तौ, महतः शेष रूप पूर्वोक्त मघवत् की तरह। 'मघवन्' शब्द के एक तरह के रूप और होते हैं।

प्र०	मघवा	मघवानौ	मघवानः
सम्बो०	मघवन्	"	"
द्वि०	मघवानम्	"	मघोनः
तृ०	मघोना	मघवभ्याम्	मघवभिः
च०	मघोने	"	मघवभ्यः
प०	मघोनः	"	"

ष०	मघोनः	मघोनोः	मघोनाम्
स०	मघोनि	,,	मघवसु

'युवन्' शब्द

प्र०	युवा	युवानौ	युवानः
सम्बो०	युवन्	,,	,,
द्वि०	युवानम्	,,	यूनः
तृ०	यूना	युवभ्याम्	युवभिः
च०	यूने	,,	युवभ्यः
प०	यूनः	,,	,,
ष०	,,	यूनोः	यूनाम्
स०	यूनि	,,	युवसु

'श्वन्' (कुक्कुर) शब्द

श्वा, श्वानौ, श्वानः, श्वानम्, श्वानौ, शुनः, शुना, श्वभ्या श्वभिः, शुने, शुनः २, शुनोः २, शुनाम्, शुनि । शेष रूप युवन् की तर

इन्नन्त 'गुणिन्' शब्द

प्र०	गुणी	गुणिनौ	गुणिनः
सम्बो०	गुणिन्	,,	,,
द्वि०	गुणिनम्	,,	,,
तृ०	गुणिना	गुणिभ्याम्	गुणिभिः
च०	गुणिने	,,	गुणिभ्यः
प०	गुणिनः	,,	,,
ष०	,,	गुणिनोः	गुणिनाम्
स०	गुणिनि	,,	गुणिषु

ऐसे ही 'इन्' या 'विन्' प्रत्ययान्त, धनिन्, मानिन्, दण्डि शार्ङ्गिन् (विष्णु), मनस्विन्, यशस्विन्, पयस्विन्, मेधाविन्, स्रगि (मालाधारी), मालिन् (माली या मालाधारी), शालिन् (सम्प चमकदार), शस्त्रिन् (शस्त्रधारी), नखिन् (नखवाला), शृङ्गि

(सींगवाला), पुच्छिन् (पूँछवाला), शरीरिन्, देहिन्, प्राणिन्, सहवासिन् आदि शब्दों के रूप होते हैं।

किन्तु 'पथिन्' (मार्ग) शब्द के रूप निम्नलिखित होते हैं।

प्र०, सम्बो०	पन्थाः	पन्थानौ	पन्थानः
द्वि०	पन्थानम्	,,	पथः
तृ०	पथा	पथिभ्याम्	पथिभिः
च०	पथे	,,	पथिभ्यः
प०	पथः	पथिभ्याम्	पथिभ्यः
ष०	पथः	पथोः	पथाम्
स०	पथि	पथोः	पथिषु

ऐसे ही 'मथिन्' (मन्थन दण्ड) शब्द के मन्थाः, मन्थानौ, मन्थानः, मन्थानम्, मन्थानौ, मथः, मथा, मथिभ्याम्, मथिभिः, मथे, मथः २, मथोः २, मथाम्, मथि। शेषरूप पथिन् के समान। एवं 'ऋभुक्षिन्' (इन्द्र) शब्द के ऋभुक्षाः, ऋभुक्षाणौ, ऋभुक्षाणः, ऋभुक्षाणम्, ऋभुक्षाणौ, ऋभुक्षः ऋभुक्षा, ऋभुक्षिभ्याम् ३, ऋभुक्षिभिः, ऋभुक्षे, ऋभुक्षः २, ऋभुक्षोः २, ऋभुक्षाम्, ऋभुक्षि। शेषरूप 'पथिन्' की तरह होते हैं।

जकारान्त 'परिव्राज्' (संन्यासी) शब्द

प्र०,सम्बो०	परिव्राट्-परिवाड्	परिव्राजौ	परिव्राजः
द्वि०	परिव्राजम्	,,	,,
तृ०	परिव्राजा	परिव्राड्भ्याम्	परिव्राड्भिः
च०	परिव्राजे	,,	परिव्राड्भ्यः
प०	परिव्राजः	,,	,,
ष०	परिव्राजः	परिव्राजोः	परिव्राजाम्
स०	परिव्राजि	,,	परिव्राट्त्सु-ट्सु

इसी तरह राट्-राड्, राजौ, राजः, राटत्सु-राट्सु आदि 'राज्' शब्द के तथा विश्वसृट्-विश्वसृड् विश्वसृजौ, विश्वसृजः इत्यादि 'विश्वसृज्' (ब्रह्मा) शब्द के रूप होते हैं।

'ऋत्विज्' (यज्ञ करने वाला) शब्द के रूप निम्नलि
होते हैं।

ऋत्विक्-ऋत्विग्, ऋत्विजौ, ऋत्विजः, ऋत्विजम्, ऋत्वि
ऋत्विजः, ऋत्विजा, ऋत्विग्भ्याम् ३, ऋत्विग्भिः, ऋत्विजे, ऋत्वि
२, ऋत्विजोः २, ऋत्विजाम्, ऋत्विजि, ऋत्विक्षु आदि।

'प्राञ्च्' शब्द

प्र० सम्बो०	प्राङ्	प्राञ्चौ	प्राञ्चः
द्वि०	प्राञ्चम्	,,	प्राचः
तृ०	प्राचा	प्राग्भ्याम्	प्राग्भिः
च०	प्राचे	,,	प्राग्भ्यः
प०	प्राचः	,,	,,
ष०	,,	प्राचोः	प्राचाम्
स०	प्राचि	,,	प्राक्षु

'प्रत्यञ्च्' शब्द के रूप निम्नलिखित होते हैं।

प्रत्यङ्, प्रत्यञ्चौ, प्रत्यञ्चः, प्रत्यञ्चम्, प्रत्यञ्चौ, प्रतीचः, प्रती
प्रत्यग्भ्याम् ३, प्रत्यग्भिः, प्रतीचे, प्रत्यग्भ्यः २ प्रतीचः २, प्रती
२, प्रतीचाम्, प्रतीचि, प्रत्यक्षु।

शतृ (अत्) प्रत्यान्त 'भवत्' (होता हुआ) शब्द

प्र० तथा सम्बोधन भवान्, भवन्तौ, भवन्तः।

द्वि० भवन्तम्, भवन्तौ, भवतः। शेषरूप भगवत् की तरह।

ऐसे ही गच्छत् (जाता हुआ), वदत् (बोलता हुआ), गा
(गाता हुआ), पठत् (पढ़ता हुआ), अदत् (खाता हुआ) आ
शतृ प्रन्ययान्त शब्दों के रूप होते हैं।

नोट– ददत्, दधत्, जुह्वत्, बिभ्यत्, आदि द्वित्ववाले शतृ प्रत्यया
शब्दों में तथा जक्षत्, जाग्रत्, दरिद्रत्, शासत्, चकासत्, दीव्य
और वेव्यत् शब्दों में नुम (न) नहीं होता है। अतः इनके
ददत्–ददद्, ददतौ, ददतः आदि होंगे।

'तादृश्' (वैसा) शब्द

प्र०	तादृक्-तादृग्	तादृशौ	तादृश
द्वि०	तादृशम्	,,	,,
तृ०	तादृशा	तादृग्भ्याम्	तादृग्भिः

शेषरूप तादृशे, तादृग्भ्याम् २, तादृग्भ्यः २, तादृशः २, तादृशोः २, तादृशाम्, तादृशि, तादृक्षु होते हैं। किन्तु 'विश्' के रूप विट्-विड्, विशौ, विशः, विड्भ्याम्, विट्सु आदि होते हैं।

'विद्वत्' शब्द

प्र०	विद्वान्	विद्वांसौ	विद्वांसः
सम्बो०	विद्वन्	,,	,,
द्वि०	विद्वांसम्	,,	विदुषः
तृ०	विदुषा	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भिः
च०	विदुषे	,,	विद्वद्भ्यः
प०	विदुषः	,,	,,
ष०	विदुषः	विदुषोः	विदुषाम्
स०	विदुषि	,,	विद्वत्सु

ऐसे ही जग्मिवस्, जगन्वस् आदि शब्दों के रूप होते हैं।

प्रथमा	सु	औ;	द्वि० शस्, भ्याम्	सुप्
जग्मिवस्—जग्मिवान्	जग्मिवांसौ	जग्मुषः	जग्मिवद्भ्याम्	जग्मिवत्सु
जगन्वस्—जगन्वान्	जगन्वांसौ	जग्मुषः	जगन्वद्भ्याम्	जगन्वत्सु
तस्थिवस्—तस्थिवान्	तस्थिवांसौ	तस्थुषः	तस्थिवद्भ्याम्	तस्थिवत्सु
शुश्रुवस्—शुश्रुवान्	शुश्रुवांसौ	शुश्रुषः	शुश्रुवद्भ्याम्	शुश्रुवत्सु
सेदिवस्—सेदिवान्	सेदिवांसौ	सेदुषः	सेदिवद्भ्याम्	सेदिवत्सु
दाश्वस्—दाश्वान्	दाश्वांसौ	दाशुषः	दाश्वद्भ्याम्	दाश्वत्सु

'पुंस' शब्द

प्र०	पुमान्	पुमांसौ	पुमांसः
सम्बो०	पुमन्	,,	,,
द्वि०	पुमांसम्	,,	पुंसः

तृ०	पुंसा	पुंभ्याम्	पुंभिः
च०	पुंसे	,,	पुंभ्यः
प०	पुंसः	,,	,,
ष०	पुंसः	पुंसोः	पुंसाम्
स०	पुंसि	,,	पुंसु

वेधस् (ब्रह्मा) शब्द

प्र०	वेधाः	वेधसौ	वेधसः
सम्बो०	वेधः	,,	,,
द्वि०	वेधसम्	,,	,,
तृ०	वेधसा	वेधोभ्याम्	वेधोभिः
च०	वेधसे	,,	वेधोभ्यः
प०	वेधसः	,,	,,
ष०	,,	वेधसोः	वेधसाम्
स०	वेधसि	,,	वेधस्सु-वेध

'चन्द्रमस्' शब्द के रूप वेधस् के समान होते हैं।

उशनस् (शुक्र) के रूप उशना, उशनसौ, उशनसः आ वेधस् की तरह होते हैं। केवल सम्बुद्धि में उशनन्-उशन-उश तीन रूप होते हैं।

(Personal Pronouns) अस्मद्, युष्मद्, भवत्।

(क) पुरुषवाचक 'अस्मद्' सर्वनाम (मैं) शब्द। इनके ती लिङ्गों में समान रूप होते हैं।

प्र०	अहम्	आवाम्	वयम्
द्वि०	माम्-मा	आवाम्-नौ	अस्मान्-नः
तृ०	मया	आवाभ्याम्	अस्माभिः
च०	मह्यम्-मे	आवाभ्याम्-नौ	अस्मभ्यम्-न
प०	मत्	,,	अस्मत्
ष०	मम-मे	आवयोः-नौ	अस्माकम्-नः
स०	मयि	,,	अस्मासु

'युष्मद्' (तू, तुम) शब्द । इनके भी तीनों लिङ्गों में समान रूप
ते हैं ।

प्र०	त्वम्	युवाम्	यूयम्
द्वि०	त्वाम्-त्वा	युवाम्-वाम्	युष्मान्-वः
तृ०	त्वया	युवाभ्याम्	युष्माभिः
च०	तुभ्यम्-ते	युवाभ्याम्-वाम्	युष्मभ्यम्-वः
प०	त्वत्	,,	युष्मत्
ष०	तव-ते	युवयोः-वाम्	युष्माकम्-वः
स०	त्वयि	युवयोः	युष्मासु

नोट—१. 'त्यदादि' शब्दों के सम्बोधन नहीं होते । 'त्यदादि' के
लिए 'सर्वादि' देखना चाहिए ।

२. कोष्ठान्तर्गत त्वा, मा आदि शब्दों का प्रयोग किसी शब्द के
ाद में तथा पाद के बीच या अन्त में ही होता है। वाक्य के आदि
तथा श्लोक-पाद के आदि में नहीं होता ।

जैसे—त्वाम् पातु, माम् पातु की जगह त्वा मा पातु नहीं होता
। ऐसे ही 'त्रैलोक्य-पालकः कृष्णः युष्मान् रक्षतु सर्वदा' यहाँ
ुष्मान्' पाद के आदि में है, अतः उसके स्थान में वः आदेश
हीं होता है ।

३. वाक्य में एक ही तिङन्त पद रहने से ये आदेश होते हैं ।
सलिए ओदनं पच तव भविष्यति यहाँ 'तव' की जगह 'ते' नहीं
ोता है ।

४. त्वाम्, माम् आदि शब्दों के बाद च, वा, हा, अह तथा एव
ाब्दों के रहने पर ये त्वा, मा आदि आदेश नहीं होते हैं यथा—

हरिः त्वां मां 'च' रक्षतु, कृष्णः कथं त्वां मां 'वा' न रक्षेत्,
कृष्णो मम 'हा' प्रसीदति, कृष्णः तव 'अह' न प्रसीदति, कृष्णो
मम 'एव' सेव्यः इत्यादि वाक्यों में त्वा, मा आदि आदेश नहीं
होते हैं ।

५. 'भवत्' शब्द के रूप भगवत् के समान होते हैं। यह
बतलाया गया है।

(ख) निश्चय वाचक (Demonstrative Pronouns)
तद्, त्यद्, एतद्, इदम्, और अदस्। इनके तीनों लिङ्गों के
साथ ही दिये जाते हैं। तत् (वह–That or he, she, it)

पुंल्लिङ्ग

प्र०	सः	तौ	ते
द्वि०	तम्	,,	तान्
तृ०	तेन	ताभ्याम्	तैः
च०	तस्मै	ताभ्याम्	तेभ्यः
प०	तस्मात्	,,	,,
ष०	तस्य	तयोः	तेषाम्
स०	तस्मिन्	,,	तेषु

स्त्रीलिङ्ग

प्र०	सा	ते	ताः
द्वि०	ताम्	ते	ताः
तृ०	तया	ताभ्याम्	ताभिः
च०	तस्यै	,,	ताभ्यः
प०	तस्याः	,,	,,
ष०	,,	तयोः	तासाम्
स०	तस्याम्	,,	तासु

नपुंसक में 'तत्, ते, तानि' २ शेषरूप पुंल्लिङ्ग के समान।
त्यद् शब्द के रूप स्यः, त्यौ, त्ये, स्या, त्ये, त्याः, त्यत्, त्ये, त्य
आदि 'तत्' शब्द के समान।

एतद् (यह-This) पुंल्लिङ्ग

प्र०	एषः	एतौ	एते
द्वि०	एतम्-एनम्	एतौ-एनौ	एतान्-एना

तृ०	एतेन-एनेन	एताभ्याम्	एतैः
च०	एतस्मै	,,	एतेभ्यः
प०	एतस्मात्	,,	,,
ष०	एतस्य	एतयोः-एनयोः	एतेषाम्
स०	एतस्मिन्	एतयोः-एनयोः	एतेषु

स्त्रीलिङ्ग

प्र०	एषा	एते	एताः
द्वि०	एताम्-एनाम्	एते-एने	एताः-एनाः
तृ०	एतया-एनया	एताभ्याम्	एताभिः
च०	एतस्यै	,,	एताभ्यः
प०	एतस्याः	,,	,,
ष०	,,	एतयोः-एनयोः	एतासाम्
स०	एतस्याम्	,, -एनयोः	एतासु

क्लीबलिङ्ग में 'एतत्, एते, एतानि' २ तथा द्वितीया में 'एनत् एने, एनानि' भी शेष रूप पुंल्लिङ्ग एतत् शब्द के समान।

इदम् (यह–This) पुंल्लिङ्ग

प्र०	अयम्	इमौ	इमे
द्वि०	इमम्-एनम्	इमौ-एनौ	इमान्-एनान्
तृ०	अनेन-एनेन	आभ्याम्	एभिः
च०	अस्मै	आभ्याम्	एभ्यः
प०	अस्मात्	,,	,,
ष०	अस्य	अनयोः-एनयोः	एषाम्
स०	अस्मिन्	,, ,,	एषु

स्त्रीलिङ्ग

प्र०	इयम्	इमे	इमाः
द्वि०	इमाम्-एनाम्	इमे-एने	इमाः-एनाः
तृ०	अनया-एनया	आभ्याम्	आभिः

च०	अस्यै	अभ्याम्	आभ्यः
प०	अस्याः	,,	,,
ष०	अस्याः	अनयोः-एनयोः	आसाम्
स०	अस्याम्	,, - ,,	आसु

नपुंसक में 'इदम्, इमे, इमानि' २ तथा द्वितीया में 'ए ऐने, एनानि' भी। शेष रूप पुल्लिग के समान।

नोट—इदम् तथा एतद् शब्दों में द्वितीया, टा तथा ओस् वि क्तियों में 'अन्वादेश' रहने पर 'एनम्' आदि वैकल्पिक रूप होते हैं रूप साथ में दिये गये हैं। किसी कथन की द्विरुक्ति को अन्वादेश क हैं। अर्थात् एक बार किसी के बारे में कुछ कहकर फिर से उ बारे में कुछ कहना अन्वादेश कहलाता है। जैसे—अयं व्याक अधीतवान्, एनं साहित्यम् अध्यापय। अनयोः पवित्रं कुलम्, ए प्रभूतं धनम् इत्यादि।

अदस् (वह–That) पुंल्लिङ्ग

प्र०	असौ	अमू	अमी
द्वि०	अमुम्	अमू	अमून्
तृ०	अमुना	अमूभ्याम्	अमीभिः
च०	अमुष्मै	,,	अमीभ्यः
प०	अमुष्मात्	,,	,,
ष०	अमुष्य	अमुयोः	अमीषाम्
स०	अमुष्मिन्	,,	अमीषु

स्त्रीलिङ्ग

प्र०	असौ	अमू	अमूः
द्वि०	अमूम्	अमू	अमूः
तृ०	अमुया	अमूभ्याम्	अमूभिः
च०	अमुष्यै	,,	अमूभ्यः
प०	अमुष्याः	,,	,,
ष०	,,	अमुयोः	अमूषाम्
स०	अमुष्याम्	,,	अमूषु

नपुंसक में 'अदः, अमू, अमूनि' २ शेष रूप पुंल्लिङ्ग 'अदस्'
के समान ।

इदम्, एतद्, अदस् तथा तत् शब्दों के समुचित प्रयोगों के लिए
निम्नलिखित कारिका को ध्यान में रखना चाहिए।

'इदमस्तु सन्निकृष्टं समीपतरवर्ति चैतदो रूपम् ।
अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात् ।।'

अर्थात् 'इदम्' शब्द का प्रयोग समीप की वस्तु या व्यक्ति के विषय में होता है, 'एतत्' शब्द का प्रयोग समीपतर अर्थात् अति समीप की वस्तु या व्यक्ति के बारे में होता है, 'अदस्' शब्द का प्रयोग दूरस्थ विषयों के लिए एवं 'तत्' शब्द का परोक्ष में अर्थात् जो अनुपस्थित है उसमें किया जाता है।

(ग) सापेक्षताबोधक सर्वनाम (Relative Pronoun) यत् (जो-who, which) इसके पुंल्लिङ्ग में यः, यौ, ये आदि, स्त्रीलिङ्ग में या, ये, याः आदि तथा नपुंसक में यत्, ये, यानि आदि के रूप 'तत्' शब्द के समान समझने चाहिए।

(घ) प्रश्नवाचक सर्वनाम (Interrogative Pronoun) किम् (कौन, क्या आदि who, which, what) इसके पुंल्लिङ्ग में कः, कौ, के आदि, स्त्रीलिङ्ग में का, के, काः आदि एवं नपुंसक में किम्, के, कानि आदि रूप 'तत्' के समान ही होते हैं।

(ङ) निजवाचक सर्वनाम (Reflexive Pronoun) है 'स्व'। इसके रूप स्वः स्वौ, स्वे-स्वाः आदि। शेषरूप सर्व की तरह होते हैं। निजवाचक शब्द 'आत्मन्' और 'स्वयम्' भी हैं। जैसे—ते सर्वे आत्मानं रक्षितवन्तः, राजा स्वयं समर-भूमिम् अगच्छत् इत्यादि।

(च) अनिश्चयवाचक सर्वनाम (Indefinite Pronoun)। 'किम्' शब्द से तीनों लिङ्गों में तथा सब विभक्तियों में चित्, चन, अपि, स्वित् जोड़ने के बाद अनिश्चय वाचक सर्वनाम बनता है। जैसे—कश्चित्, काचित्, किञ्चित्, कोऽपि, केचन, कयाचन, काश्चित् इत्यादि। इनके रूप निम्नलिखित होते हैं। कश्चित्,

कौचित् २, केचित्, कञ्चित्, काँश्चित्, केनचित्, काभ्याञ्चि कैश्चित्, कस्मैचित्, केभ्यश्चित् २, कस्माच्चित्, कस्यचित्, श्चित् २, केषाञ्चित्, कस्मिंश्चित्, केषुचित्। ऐसे ही 'चन' लग कश्चन आदि। अपि के साथ–कोऽपि २, कावपि २, केऽपि, का कानपि, केनापि, काभ्यामपि ३, कैरपि, कस्माअपि, केभ्योऽ कस्मादपि, कस्यापि, कयोरपि २, केषामपि, केष्वपि। ऐसे स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक में भी 'चित्', 'चन' 'अपि' आदि लग काचित्, काचन, कापि, किञ्चित्, किञ्चन, किमपि आदि होते हैं।

(छ) सम्बन्धवाचक सार्वनामिक विशेषण (Posses Pronouns) त्यदादि शब्दों में ईय (छ) प्रत्यय लगाकर त यदीय, मदीय, अस्मदीय, युष्मदीय आदि शब्द बनते हैं। यु और अस्मद् शब्दों से अण तथा ईन (ख) प्रत्यय लगाकर ता मामक, यौष्माक, आस्माक एवं यौष्माकीण, आस्माकीन शब्द बनते हैं। ये ही सम्बन्धवाचक सार्वनामिक विशेषण लाते हैं।

(ज) अन्योन्य सम्बन्ध वाचक (Reciprocal Pronou अन्योऽन्य, इतरेतर तथा परस्पर को अन्योन्यसम्बन्ध सूचक सर्व कहते हैं।

---

[५] हलन्तस्त्रीलिङ्ग शब्द

'उपानह' (जूता)

प्र० सम्बो०	उपानत्-उपानद्	उपानहौ	उपानहः
द्वि०	उपानहम्	"	"
तृ०	उपानहा	उपानद्भ्याम्	उपानद्भि
च०	उपानहे	"	उपानद्भ्
प०	उपानहः	"	"

ष०	उपानह	उपानहोः	उपानहाम्
स०	उपानहि	,,	उपानत्सु

'गिर्' (वाणी) शब्द के रूप—गीः, गिरौ, गिरः, गिरम्, गिरौ, गिरः, गिरा, गीर्भ्याम्, गीर्भिः, गिरे, गीर्भ्याम् २, गीर्भ्यः २, गिरः २, गिरोः २, गिराम्, गिरि, गीर्षु होते हैं।

'दिश्' (दिशा) शब्द के रूप—दिक्-दिग्, दिशौ, दिशः, दिशम्, दिशौ, दिशः, दिशा, दिग्भ्याम् ३, दिग्भिः, दिशे, दिग्भ्यः २, दिशः २, दिशोः २, दिशाम्, दिशि, दिक्षु होते हैं।

'वाच्' (बाणी) शब्द के रूप—वाक्-वाग्, वाचौ, वाचः, वाचम्, वाचौ, वाचः, वाचा, वाग्भ्याम् ३, वाग्भिः, वाचे, वाग्भ्यः २, वाचः २, वाचोः २, वाचाम्, वाचि, वाक्षु होते हैं।

नित्यबहुवचनान्त 'अप्' (जल) शब्द के रूप—आपः, अपः, अद्भिः, अद्भ्यः, अपाम्, अप्सु होते हैं।

'आशिष्' शब्द के रूप—आशीः, आशिषौ, आशिषः, आशिषम्, आशिषौ, आशिषः, आशिषा, आशीर्भ्याम् ३, आशीर्भिः, आशिषे, आशीर्भ्यः २, आशिषः २, आशिषोः २, आशिषाम्, आशिषि, आशीःषु, आशीष्षु।

त्यद्, तद् आदि शब्दों के स्त्रीलिङ्ग रूप पुंल्लिङ्ग रूपों के साथ दिये गये हैं।

---

[६] हलन्तनपुंसक शब्द

नकारान्त 'ब्रह्मन्' शब्द

प्र० द्वि०	ब्रह्म	ब्रह्मणी	ब्रह्माणि
सम्बो०	ब्रह्मन्-ब्रह्म	,,	,,
तृ०	ब्रह्मणा	ब्रह्मभ्याम्	ब्रह्मभिः
च०	ब्रह्मणे	,,	ब्रह्मभ्यः
प०	ब्रह्मणः	,,	,,

ष०	ब्रह्मणः	ब्रह्मणोः	ब्रह्मण
स०	ब्रह्मणि	,,	ब्रह्मसु

ऐसे ही कर्मन् के रूप होते हैं।

'अहन्' (दिन) शब्द के रूप—'अहः, अह्नी-अहनी, अहा अह्ना, अहोभ्याम् ३, अहोभिः, अह्ने, अहोभ्यः २, अह अह्नोः २, अह्नाम्, अह्नि-अहनि, अहःसु-अहस्सु होते हैं।

'नामन्' शब्द के रूप—'नाम, नाम्नी-नामनी, नामानि नाम्ना, नामभ्याम् ३, नामभिः, नाम्ने, नामभ्यः २, नाम्न नाम्नोः २, नाम्नाम्, नाम्नि-नामनि, नामसु। सम्बोधन में हे न हे नाम, नाम्नी-नामनी नामानि होते हैं।

ऐसे ही सामन् (सामवेद), व्योमन् (आकाश), धामन् (तेज या गृह) आदि शब्दों के रूप होते हैं।

'दण्डिन्' शब्द के रूप—'दण्डि, दण्डिनी, दण्डीनि' २, पुं 'दण्डिन्' वत् शेषरूप। ऐसे ही 'वाग्मिन्' 'स्रग्विन्' आदि श रूप होते हैं।

(क) 'शतृ' (अत्) प्रत्ययान्त 'भवत्' शब्द के प्र द्वितीया तथा सम्बोधन में भवत्, भवन्ती, भवन्ति। शेषरूप पुं भवत् की तरह। ऐसे ही पचत्, गच्छत्, वदत्, पश्यत्, जि तिष्ठत्, नयत्, दीव्यत्, चोरयत्, चिकीर्षत्, पुत्रीयत् आदि के रूप होते हैं।

(ख) 'तुदत्' के रूप प्र० द्वि० तथा सम्बोधन में 'तुदत्' तु तुदती, तुदन्ति होते हैं। शेषरूप 'भवत्' की तरह। ऐसे ही भान्ती-भाती, भान्ति तथा यात्, दास्यत्, करिष्यत् आदि के रूप होते हैं।

(ग) किन्तु 'अदत्' शब्द के प्र०, द्वि०, सम्बोधन में अदती, अदन्ति। शेष रूप भवत् के समान। ऐसे ही सुन्वत्, त रुन्धत्, क्रीणत् आदि शब्दों के रूप होते हैं।

(घ) 'ददत्' शब्द के रूप प्र०, द्वि०, सम्बो० में ददत्,

ददन्ति-ददति होते हैं। ऐसे ही दधत्, बिभ्यत्, जुह्वत् आदि द्वित्व वाले शब्द तथा जक्षत्, शासत्, जाग्रत्, चकासत्, दरिद्रत्, दीव्यत् और वेव्यत् शब्द के रूप 'ददत्' के समान होते हैं। ये सभी शब्द अभ्यस्त संज्ञक कहलाते हैं।

नोट—१. 'शप्', 'श्यन्' वाले शतृ प्रत्ययान्त शब्दों के शी में तथा नदी में (प्र० द्वि० के द्विवचन में तथा ङीप् करने पर) नित्य नुम् (न्) होता है। इनके उदाहरण (क) में दिये गये हैं।

२. शप् और श्यन् से भिन्न जगहों में जहाँ अवर्ण से आगे अत् (शतृ) रहता है वहाँ 'शी' और 'नदी' में विकल्प से नुम् (न्) होता है, जिनके उदाहरण (ख) में दिये गये हैं।

३. इन से अतिरिक्त जगहों में शी तथा नदी में नुम् नहीं होता है, जो कि (ग) में बतलाया गया है।

४. अभ्यस्त संज्ञक शब्दों से जस् तथा शस् में ('शि' में) विकल्प से नुम् होता है। इनके उदाहरण (घ) में दिये गये हैं।

धनुष् शब्द के प्र०, द्वि० तथा सम्बो० में धनुः, धनुषी, धनूंषि, इसके आगे धनुषा, धनुर्भ्याम् ३, धनुर्भिः, धनुषे, धनुर्भ्यः २, धनुषः २, धनुषोः २, धनुषाम्, धनुषि, धनुष्षु-धनुःषु। ऐसे ही चक्षुष्, हविष्, ज्योतिष् आदि शब्दों के रूप होते हैं।

मनस् शब्द के रूप प्र० द्वि० तथा सम्बो० में मनः, मनसी, मनांसि, आगे मनसा, मनोभ्याम् ३, मनोभिः। मनसे, मनोभ्यः २, मनसः २, मनसोः २, मनसाम्, मनसि, मनस्सु-मनःसु। ऐसे ही नभस्, यशस्, वक्षस्, उरस्, वयस्, पयस्, वचस्, सरस्, चेतस्, प्रेयस् आदि शब्दों के रूप होते हैं।

तद्, यद् आदि शब्दों के रूप पुंलिंग रूपों के साथ ही बतलाये गये हैं।

[७] संख्यावाचक शब्द

(क) संख्या वाचक 'एक' शब्द नित्य एकवचनान्त है। द्विशब्द नित्य द्विवचनान्त तथा 'त्रि' से लेकर अष्टादशन् पर्यन्त शब्द नित्य

बहुवचनान्त हैं। एकोनविंशति से आगे सभी संख्या वाचक शब्द
वचनान्त ही होते हैं।

(ख) इन में एक से लेकर अष्टादश पर्यन्त संख्या केवल सं
अर्थ में, अर्थात् विशेषण रूप में प्रयुक्त होती है। जैसे—एकः छात्रः
छात्राः, न कि छात्रस्य एकः, छात्राणां दश आदि। यथा 'अष्टाद
एकाद्याः संख्याः संख्येय-गोचराः।' किन्तु 'विंशत्याद्याः सदैकत्वे, स
संख्येय-संख्ययोः' एकोनविंशति से लेकर आगे की संख्यायें संख्या
संख्येय दोनों में प्रयुक्त होती हैं। जैसे-विंशतिः छात्राः, छात्रा
विंशतिः आदि।

(ग) एक से अष्टादश पर्यन्त संख्या तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त हो
है। और विंशति से लेकर 'नवनवति' पर्यन्त संख्यायें स्त्रीलिङ्ग
जैसे—विंशतिः बालकाः, विंशतिः बालिकाः तथा विंशतिः फला
इत्यादि।

(घ) विंशत्यादि संख्यायें जब संख्या अर्थ में प्रयुक्त होती हैं
उनसे द्विवचन और बहुवचन भी होते हैं। जैसे—द्वे विंशती (४
तिस्रः विंशतयः (६०) आदि। छात्राणां विंशतिः (२०), छात्रा
विंशती (४०), छात्राणां विंशतयः (६०) इत्यादि गवां शतं,
शतानि इत्यादि।

(ङ) एक-दश-शत-सहस्रायुत-लक्ष-प्रयुत-कोटयः क्रमशः।
अर्बुदमब्जं खर्व-निखर्व-महापद्म-शङ्कवस्तस्मात्॥
जलधिश्चान्तं मध्यं परार्द्धमिति दशगुणोत्तराः संज्ञाः।
संख्यायाः स्थानानां व्यवहारार्थं कृताः पूर्वैः॥

इन में खर्व, निखर्व, पुंल्लिङ्ग और नपुंसक भी ; महापद्म,
तथा जलधि पुंल्लिङ्ग हैं। कोटि स्त्रीलिङ्ग और शत आदि अवशि
शब्द नपुंसक हैं।

संख्या वाचक शब्दों के रूप

एक शब्द

	पुंल्लिङ्ग एकवचन	स्त्रीलिङ्ग एकवचन	नपुंसक लिङ्ग एकवचन
प्र०	एकः	एका	एकम्
द्वि०	एकम्	एकाम्	एकम्
तृ०	एकेन	एकया	एकेन आदि
च०	एकस्मै	एकस्यै	
प०	एकस्मात्	एकस्याः	
ष०	एकस्य	एकस्याः	
स०	एकस्मिन्	एकस्याम्	

जब 'एक' शब्द संख्या से अतिरिक्त अर्थों में प्रयुक्त होता है तब द्विवचन और बहुवचन भी होते हैं। जैसे–एके कथयन्ति, एके सत्पुरुषाः, इत्यादि।

एकशब्द—'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा।
साधारणे समानेऽल्पे संख्यायाञ्च प्रयुज्यते॥

इतने अर्थों में आता है।

'द्वि' शब्द (द्विवचनान्त) इसके पुंल्लिङ्ग में द्वौ २, द्वाभ्याम् ३, द्वयोः २ तथा स्त्रीलिङ्ग एवं नपुंसक में द्वे २, द्वाभ्याम् ३, द्वयोः २, रूप होते हैं। बहुवचनान्त 'त्रि' शब्द के पुंल्लिङ्ग में त्रयः, त्रीन्, त्रिभिः, त्रिभ्यः २, त्रयाणाम्, त्रिषु रूप होते हैं। स्त्रीलिङ्ग में तिस्रः २, तिसृभिः, तिसृभ्यः २, तिसृणाम्, तिसृषु रूप होते हैं। नपुंसक में त्रीणि २, त्रिभिः आदि शेष पुंल्लिङ्गवत्।

बहुवचनान्त 'चतुर्' शब्द

	पुंल्लिङ्ग	स्त्रीलिङ्ग	नपुंसकलिङ्ग
प्र०	चत्वारः	चतस्रः	चत्वारि
द्वि०	चतुरः	चतस्रः	चत्वारि
तृ०	चतुर्भिः	चतसृभ्यः	चतुर्भिः आदि

च०	चतुर्भ्यः	चतसृभ्यः
प०	चतुर्भ्यः	"
ष०	चतुर्णाम्	चतसृणाम्
स०	चतुर्षु	चतसृषु

नोट—"न तिसृचतसृ" (पा० सू०) के अनुसार तिसृ और च
शब्दों के 'आम्' में दीर्घ नहीं होता है।

पञ्चन् के आगे अष्टादशन् तक तीनों लिङ्गों में समान रूप होते
'पञ्चन्' शब्द के रूप—पञ्च २ पञ्चभिः, पञ्चभ्यः २, पञ्चान
पञ्चसु होते हैं। ऐसे ही सप्तन्, नवन्, दशन् आदि शब्दों के रूप
हैं। 'षष्' के रूप—षट् २, षड्भिः षड्भ्यः २ षण्णाम्, षट्सु होते
'अष्टन्' के रूप—अष्टौ २, अष्टाभिः, अष्टाभ्यः २ अष्टान
अष्टासु और अष्ट २, अष्टभिः, अष्टभ्यः २, अष्टानाम्, अष्टसु
होते हैं।

एकः—प्रथमः, द्वितीयः, तृतीयः तथा इनमें 'आ' प्रत्यय लगा
स्त्रीलिङ्ग में एका, प्रथमा, द्वितीया-तृतीया, एवं चतुर्थः-तुरीयः-तु
पञ्चमः, षष्ठः, सप्तमः, अष्टमः, नवमः, दशमः, एकादशः आदि
इनमें 'ई' लगाकर स्त्रीलिङ्ग चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी आदि पूरणा
शब्द (Ordinals) बनते हैं। 'विंशति' से विंशः—विंशतित
'त्रिंशत्' से त्रिंशः-त्रिंशत्तमः, 'चत्वारिंशत्' से चत्वारिंशः-च
रिंशत्तमः, 'पञ्चाशत्' से पञ्चाशः-पञ्चाशत्तमः, 'षष्टि' से षष्टित
'सप्ततिः' से सप्ततितमः, 'अशीति' से अशीतितमः, 'नवति' से नव
तमः, 'शत' से शततमः आदि पूरणार्थक शब्द बनते हैं।

अव्यय-प्रकरण

अव्यय (Indeclinables)

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ।।

अर्थात् जो शब्द तीनों लिङ्गों में, सभी कारकों में (विभक्तियों में) तथा सभी वचनों में सदृश ही—एकप्रकार ही—रहें किन्तु विकृत न हों वे अव्यय (न व्येति=विकारं प्राप्नोति इति अव्ययम्) कहलाते हैं। इनके साधारण पाँच भेद हैं।

१. उपसर्ग (Prepositions), २. क्रियाविशेषण (Adverbs), ३. चादिनिपात (Particles), ४. समुच्चयबोधक (Conjunctions) और ५. विस्मयादिबोधक (Interjections)

(१) उपसर्ग या गति—प्र, परा, अप, सम्, अनु आदि सामान्य प्रकरण में बतलाये गये हैं। ये उपसर्ग नियमतः धातु से पूर्व प्रयुक्त होते हैं। इनमें से कुछ तो धातु के अर्थों को बदल देते हैं, जैसे—गच्छति आगच्छति, क्रीणाति-विक्रीणीते इत्यादि; कुछ धातु के अर्थों का अनुसरण करते हैं, जैसे—गच्छति-अनुगच्छति, सरति-अनुसरति आदि, और कुछ उपसर्ग धातु के अर्थों को और परिवर्द्धित करते हैं, जैसे—भवति-सम्भवति, वदति-प्रवदति आदि। जैसे कहा गया है—

धात्वर्थं बाधते कश्चित् कश्चित् तमनुवर्तते ।
तमेव विशिनष्टयन्यः उपसर्गगतिस्त्रिधा ।।
उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।
प्रहाराहार-संहार-विहार-परिहारवत् ।।

(२) क्रियाविशेषण-रूप—अव्यय क्रिया की विशेषता को बतलाते

हैं। इनमें विना अन्तरा आदि अव्यय कारक विभक्तियों के साथ आ
हैं। कुछ स्थान, काल, परिमाण, रीति आदि के वाचक हैं।

जैसे—स्वः (स्वर्ग), अन्तः (मध्य), प्रातः, पुनः, उच्चैः (ऊँचा ऊपर), नीचैः (नीचे), शनैः (धीरे), ऋते (विना), युगपत् (एक साथ आरात् (दूर या समीप), पृथक्, ह्यः (बीता हुआ कल), श्वः (आने वाला कल), दिवा, रात्रौ, सायं, चिरम् (बहुकाल), ईषत् (अल्प तूष्णीम् (मौन), बहिः (बाहर), समया-निकषा (समीप), स्वय (अपने), वृथा, नक्तम् (रात), न, वत् (पुत्रवत्, छात्रवत्), अन्त (मध्य, विना), अन्तरेण (विना), सहसा (आकस्मिक-अविमर्श नाना, स्वस्ति (मङ्गल), अलम् (भूषण, पर्याप्ति, निवारण आदि मृषा-मिथ्या-मुधा, पुरा (अतीत), मिथो-मिथः (एकान्त, परस्पर प्रायः, मुहुः (पुनः), साकम्-सार्द्धम् (साथ), नमः, धिक् (निन्द भर्त्सना), एव, एवम्, नूनम् (निश्चय) भूयः (पुनः), खलु (निश्चय अथ, सुष्ठु (सुन्दर) आदि तथा यतः, ततः, सर्वतः, उभयतः, यत्र, क तत्र, बहुत्र, यदा, कदा, तदा, सर्वदा, एकदा, इदानीम्, अधुना, तदानी यर्हि, तर्हि, एतर्हि, पुरः-पुरस्तात्, अधः-अधस्तात्, अवः-अवस्तात पश्चात्, दक्षिणा-दक्षिणेन-दक्षिणाहि, उत्तरा-उत्तरेण-उत्तराहि आदि यथा, तथा, कथम्, इत्थम्-आदि सर्वादि से बने हुए तद्धित प्रत्ययान्त शब्द भी अव्यय हैं।

एवं स्मारं, स्मारम् आदि, गन्तुम्, भोक्तुम् आदि, कृत्वा, गत्व आदि कृत्प्रत्ययान्त शब्द तथा अधिहरि, यथाशक्ति, अनुरूपम्-आ अव्ययीभाव समास वाले शब्द अव्यय हैं।

३. चादिनिपात (Particles)—किल, खलु, च, तु, नु, वै, हि चित्, चन्, स्वित्, न (अ-अन्) आदि।

४. समुच्चयबोधक—अव्ययों में अथ, अथो, उत, च, किंच आ संयोजनात्मक (Copulative) हैं, वा अथवा आदि वियोजनात्म (Disjunctive) हैं; आहो, उताहो आदि प्रश्नात्मक (Interrogativ

हैं; यदि, चेत्, नोचेत् आदि सोपाधिक (Conditional) हैं; हि, तत् तेन आदि कारणात्मक (Causal) हैं; तथा 'अथ' और 'इति' क्रमशः आरम्भ और अन्त सूचित करते हैं।

५. विस्मयादि बोधक अव्ययों में अह, अहह, अहो, बत, हा, हाहा आदि आश्चर्य, दुःख आदि प्रगट करते हैं; किम्, धिक्, आदि घृणा प्रगट करते हैं; हन्त से दुख और सुख प्रगट होते हैं; अङ्ग, अये, अयि, ओ, भोः, हे, है, हो आदि आदर, सम्बोधन आदि सूचित करते हैं, अरे, रे, रेरे, अरेरे आदि अनादर सूचित करते हैं।

स्त्रीप्रत्यय-प्रकरण

(Formation or Feminine Bases)

सुबन्त प्रकरण के आरम्भ में यह बतलाया गया है कि 'लिङ्ग' भी वाचक प्रातिपदिक ही है। इसलिए स्वार्थ (प्रातिपदिकार्थ) तरह लिङ्ग भी प्रातिपदिकार्थ ही है। यथा घटः, फलम्, इत्यादि 'विसर्ग' और 'अम्' से क्रमशः पुंस्त्व और नपुंसकत्व द्योतित होता वैसे ही कुछ स्त्रीत्व के भी द्योतक-प्रकाशक प्रत्यय हैं। इन्हीं प्रत्य के योग से स्त्री प्रत्ययान्त शब्द बनते हैं। वे प्रत्यय हैं—

आ (टाप्, डाप्, चाप्), ई (ङीप्, ङीष्, ङीन्), ऊ (ऊङ् और ति।

टाप् (आ)—"अजाद्यतष्टाप्" (पा० सू०)

अजादि गण पठित अज, एडक आदि प्रातिपदिकों से तथा अ प्रातिपदिकों से 'टाप्' (आ) होता है। 'टाप्' होने के बाद प्रातिप के अन्तिम अकार का लोप हो जाता है। जैसे—

अज+आ=अजा, एडका (भेड़ी), अश्वा, चटका (मादा गौरै मूषिका, बाला, सत्फला, सत्पुष्पा, प्राक्पुष्पा, शूद्रा, अमूला, क्रु (क्रौंच पक्षी), ज्येष्ठा, कनिष्ठा, मध्यमा, कोकिला इत्यादि शब्दों 'अजादि' मान कर और खट्व-खट्वा, शयान-शयाना, भुञ्ज भुञ्जाना इत्यादि में अदन्त मानकर टाप हुआ है।

नोट—महाशूद्र से महाशूद्री होता है और शूद्र की स्त्री इस अ भी शूद्री होता है न कि शूद्रा।

डाप् (आ)—"डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्" (पा० सू०)

उसके अन्त में 'मन्' हो उस मन्नन्तप्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग डाप् होता है। जिसके अन्त में अन् हो उस अन्नन्त बहुव्रीहि शब्द 'डाप्' विकल्प से होता है। जैसे :—मन्नन्त—सीमन्+डाप् (आ)

सीमा, दामन्—दामा, इत्यादि। अन्नन्त-बहुव्रीहि-बहुयज्वन्—बहुयज्वा इत्यादि रमा शब्दवत्। डाप् के अभाव में सीमानौ सीमानः बहुयज्वानौ, बहुयज्वानः इत्यादि।

चाप् (आ)—"सूर्याद्देवतायां चाप् वाच्यः" (का० वा०)

यथा सूर्यस्य स्त्री देवता सूर्या।

"यङश्चाप्" (पा० सू०)

यङ्प्रत्ययान्त शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में चाप् होता है। जैसेः—आम्बष्ठ्या, कारीषगन्ध्या।

ङीप् (ई)—"ऋन्नेभ्यो ङीप्" "उगितश्च" (पा० सू०)

ऋदन्त और नकारान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् होता है।

और उगित् अर्थात् उ ऋ तथा ऌ की इत्संज्ञा वाले, प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् होता है। जैसे—

ऋदन्त—कर्तृ—कर्त्री, विधातृ-विधात्री आदि।

नकारान्त—राजन्—राज्ञी, दण्डिन्—दण्डिनी आदि।

उगिदन्त—भवत् (तु)-भवती, विद्वस्—विदुषी।

'शतृ' प्रत्ययान्त शब्दों से भी स्त्रीलिङ्ग में ङीप् इसी सूत्र से होता है। और नुम् (न) का वहाँ आगम हो जाता है यदि शतृ प्रत्यय भ्वादिगणीय, दिवादिगणीय, चुरादिगणीय, ण्यन्त, सन्नन्त, तथा नाम धातुओं से विहित रहता है। जैसे—भवन्ती दीव्यन्ती, चोरयन्ती, गमयन्ती, चिकीर्षन्ती, पुत्रीयन्ती आदि। एवं यदि शतृ प्रत्यय तुदादिगणीय धातुओं से तथा अदादिगण के अकारान्त धातुओं से विहित होता है तो वहाँ नुमागम विकल्प से होता है। जैसे—तुदन्ती-तुदती, पात् से पान्ती-पाती, भात् से भान्ती-भाती, यात् से यान्ती-याती आदि। किन्तु पूर्वोक्त गणों से भिन्न जगहों में नुम् नहीं होता है। जैसे—अदती, सती, ददती, दधती, कुर्वती, तन्वती, सुन्वती, शासती, चकासती इत्यादि।

नोट—यदि उगित् धातु हों तो केवल 'अञ्चु' से ही ङीप् होगा जैसे—प्राच्-प्राची, प्रतीच्-प्रतीची, उदीच्-उदीची आदि।

प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व अकार को इकार हो जाता है यदि उ
(ककार के) आगे आप् (आ) सुप् से परे नहीं हो ।

जैसे—सर्विका, कारिका, अश्विका इसी तरह मामिका, नरि
दाक्षिणात्यिका, इहत्यिका आदि समझना चाहिए ।

नोट—त्यकन् प्रत्ययान्त शब्दों से टाप् करने पर इत्व नहीं ह
है। जैसे उपत्यका (पर्वत के नीचे की भूमि) अधित्यका (पर्व
ऊपर की समतलभूमि)। इसीतरह आशीर्वाद अर्थ में वुन् (अ
प्रत्यय के ककार से पूर्व इत्व नहीं होता है। जैसे जीवका, भ
आदि।

यका, सका आदि में तथा क्षिपका, ध्रुवका, कन्यका, चटका अ
में भी इत्व नहीं होता है[1]। कुछ शब्दों में विकल्प से इत्व होत
जैसे—सूतका-सूतिका, पुत्रका-पुत्रिका, वृन्दारका-वृदारिका इत्यादि

यदि क से पूर्व स्त्रीप्रत्यय सम्बन्धी आकार स्थानीय अकार
या 'क' से आगे रहे तो उसे इत्व विकल्प से होता है[2]। जैसे—आर्य
क=आर्यक+आ=आर्यिका या आर्यका, चटका+क=चटकक+
चटकिका या चटकका।

किन्तु उस स्त्रीप्रत्यय सम्बन्धी आकार स्थानीय अकार से पूर्व
या 'क' यदि धात्वन्त 'य' या 'क' हो तो नित्य ही इत्व होता
जैसे—सुनया+क=सुनयक+आ=सुनयिका, सुपाका+क=सुपा
+आ=सुपाकिका। ऐसे ही सुशयिका, अशोकिका आदि सम
चाहिए।

टित् (टकारेत्संज्ञक), ढ, अण्, अञ्, द्वयसच्, दघ्नच्, मा

---

१. "न यासयोः" पा० सू० "क्षिपकादीनां च" का० वा० "सू
पुत्रिकावृन्दारकाणां वेति वक्तव्यम्" (का० वा०) इससे ककार से पू
को विकल्प से अकार होता है।

२. उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः ।

३. धात्वन्तयकोस्तु नित्यम् ।

तयप्, ठक्, ठञ्, कञ्, तथा क्वरप् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से ङीप् (ई) होता है[1]। जैसे—टित्—कुरुचरी, नदट्—नदी, देवट्—देवी आदि।

ढ—एय—सौपर्णेयी, वैनतेयी, आग्नेयी आदि।

अण्—औपगव—औपगवी, कुम्भकार—कुम्भकारी, चौर—चौरी, छात्र—छात्री आदि।

अञ्—औत्स-औत्सी। इसके बाद ऊरुद्वयसी, ऊरुदघ्नी, ऊरुमात्री, पञ्चतयी, आक्षिकी, लावणिकी, यादृशी, इत्वरी आदि क्रम से समझना चाहिए।

नोट—"कियत्तद्बहुषु कृञोऽज्विधानम्" इसके अनुसार किंकर—किंकरा, यत्करा, तत्करा, और बहुकरा में ङीप् नहीं होता है, क्योंकि यहाँ 'ट' प्रत्यय नहीं है, अच् प्रत्यय हुआ है।

नञ्, स्नञ्, ईकक्, ख्युन् प्रत्ययान्त तथा तरुण एवं तलुन शब्दों से ङीप् होता है। जैसे—स्त्रैणी, पौंस्नी, शाक्तिकी, आढचङ्करणी, तरुणी, तलुनी।

"यञश्च" (पा० सू०)

अपत्य के अधिकार में विहित जो 'यञ्' प्रत्यय तदन्त प्रातिपदिक से ङीप् होता है। ङीप् होने के बाद अकार और यकार का लोप हो जाता है। जैसे—गार्ग्यस्य अपत्यं स्त्री गार्गी, वात्स्यस्य अपत्यं स्त्री वात्सी इत्यादि।

यञ् प्रत्ययान्त से ष्फ (फ) प्रत्यय भी विकल्प से होता है[2]। फ की जगह 'आयन' हो जाता है और षित् होने के कारण ङीष् होता है। जैसे—गार्ग्य + (ष्फ) आयन = गार्ग्यायण + ई (ङीष्) गार्ग्यायणी। इसी तरह वात्स्यायनी इत्यादि।

लोहित, कत आदि यञन्त शब्दों से नित्य ही ष्फ प्रत्यय होता है[3]। लोहितस्य अपत्यं स्त्री लौहित्यायनी, कतस्य अपत्यं स्त्री कात्यायनी इत्यादि।

---

१. "टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः" (पासू००)

२. "प्राचां ष्फ तद्धितः" (पा० सू०)

३. "सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः" (पा० सू०)

कुरोः अपत्यं स्त्री कौरव्यायणी, मण्डूकस्य अपत्यं स्त्री म
कायनी[1]। असुरस्य अपत्यं स्त्री आसुरायणी भी समझना चाहिए।

"वयसि प्रथमे" (पा० सू०) ("वयसि अचरमे इति वा
वा०) चरम अवस्था के अतिरिक्त वय के वाचक शब्दों से ङीप् ह
है। जैसे—कुमारी, किशोरी, वधूटी, चिरण्टी आदि। किन्तु कन्
ङीप् नहीं होता है और वृद्धा, स्थविरा आदि में चरम अवस्था
के कारण ङीप् नहीं होता है।

"द्विगोः" (पा० सू०)

द्विगुसमास में अकारान्त शब्दों में ङीप् होता है। जैसे—त्रिल
पञ्चमूली, सप्तशती, पञ्चाश्वी आदि किन्तु त्रिफला, त्र्यनीका आ
अजादित्वात् टाप् ही होता है।

यदि संख्या और अव्ययादि से परे ऊधस् शब्द बहुव्रीहि समा
हो तो ङीप् होता है[2]। और ऊधस् शब्दान्त बहुव्रीहि को स्त्रीलि
अन्त्यसकार की जगह अनङ् आदेश होता है। यथा—द्वे ऊधसी य
दचूध्नी, अतिशयितम् ऊधः यस्याः अत्यूध्नी। बहुव्रीहि से भिन्न में
होता है। जैसे—ऊधः अतिक्रान्ता अत्यूधाः।

बहुव्रीहि समास में संख्यावाचक शब्द से परे यदि दामन्
हायन शब्द हो तो ङीप् होता है[3]। जैसे—द्वे दामनी यस्याः द्विदा
द्वौ हायनौ यस्याः—द्विहायनी बाला इत्यादि।

नोट—त्रि और चतुर् शब्द से परे हायन शब्द यदि अवस्था व
हो तो ङीप् के साथ णत्व भी होता है। जैसे—त्रयः हायनाः यस
त्रिहायणी, चत्वारः हायनाः यस्याः चतुर्हायणी बाला। अवस
भिन्न में त्रिहायना, चतुर्हायना शाला[4]।

---

१. "कौरव्यमाण्डूकाभ्याञ्च" (पा० सू०)

२. "संख्याव्ययादेर्ङीप्" (पा० सू०) "ऊधसोऽनङ्" (पा० सू०)

३. "दामहायनान्याच्च" (पा० सू०)

४. "त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य णत्वं वाच्यम्" "वयोवाचकस्यैव हायनस्य णत्वं चेष्यते" (का० वा०)

"पत्युर्नो यज्ञसंयोगे" "विभाषा सपूर्वस्य" (पा० सू०)

यज्ञ के साथ सम्बन्ध रूप अर्थ रहने पर पति शब्द को स्त्रीलिङ्ग में नकारान्तादेश होता है। जैसे—वशिष्ठस्य पत्नी। यज्ञसंयोग नहीं रहने पर ग्रामस्य इयं पतिः, सभाया इयं पतिः।

यदि पति शब्द समास के अन्तिम अवयव रूप होकर स्त्रीत्व का वाचक हो तो नकारान्तादेश होता है। तब नान्त मानकर ङीप् होता है। जैसे—गृहस्य पतिः—गृहपत्नी-गृहपतिः।

वृषलस्य पतिः-वृषलपत्नी-वृषलपतिः, सभापत्नी-सभापतिः।

समास में पति शब्द यदि समान, एक, वीर, पिण्ड, भ्रातृ, पुत्र आदि शब्दों के बाद आवे तो नित्य ही नकारान्तादेश होता है[1]। यथा—समानः पतिः यस्याः-सपत्नी, एकपत्नी, वीरपत्नी, भ्रातृपत्नी, पुत्रपत्नी आदि।

पूतक्रतु (इन्द्र) वृषाकपि (शिव-विष्णु), अग्नि, कुसित (सूदखोर या देवविशेष) तथा कुसिद (सूदखोर या देवविशेष) शब्द से पुंयोग अर्थ में ङीप् और ऐकारान्तादेश हो जाता है[2]। यथा-पूतक्रतोः स्त्री-पूतक्रतायी (इन्द्राणी) वृषाकपेः स्त्री-वृषाकपायी (गौरी-लक्ष्मी), अग्नायी कुसितायी (सूदखोर की स्त्री), कुसिदायी (सूदखोर की स्त्री)।

मनु शब्द को पुंयोग में औकार तथा ऐकार आदेश विकल्प से होता है और साथ ही ङीप् भी होता है[3]। जैसे—मनोः स्त्री—मनावी, मनायी, मनुः, ये तीन रूप होंगे।

"वर्णादनुदात्तात् तोपधात् तो नः" (पा० सू०)

अनुदात्तस्वरान्त एवं तकारोपध वर्णवाचक प्रातिपदिक से ङीप् विकल्प से होता है और ङीप् के साथ-साथ उपधा तकार को नकार

---

१. "नित्यं सपत्न्यादिषु" (पा० सू०)

२. "पूतक्रतोरैच्" (पा० सू०) "वृषाकप्यग्निकुसितकुसिदानाम् उदात्तः" (पा० सू०)

३. "मनो रौ वा" (पा० सू०)

हो जाता है। जैसे—रोहिणी-रोहिता (लाल) लोहिनी-लोहिता (ल
एनी-एता (रंग विरंग) किन्तु श्वेत, असित (काला) तथा प
(सफेद) शब्दों से पूर्वोक्त सूत्रानुसार ङीप् होता है। यथा—
असिता, पलिता।

पिशङ्ग (भूरा रंग बोधक) शब्द से ङीप् विकल्प से होता
जैसे—पिशङ्गी-पिशङ्गा।

"अन्यतो ङीष्" (पा० सू०)

अनुदात्तस्वरान्त वर्णवाचक शब्द यदि तकारोपध से भिन्न
तो भी स्त्रीलिङ्ग में ङीष् होता है।

जैसे कल्माष (चित्रवर्णा), सारङ्गी (चितकबरा) आदि
अनुदात्त स्वरान्त न होने से कृष्ण, कपिल आदि से ङीष् नहीं होता
जैसे कृष्णा, कपिला आदि।

"षिद् गौरादिभ्यश्च" (पा० सू०)

षित् (जिसमें षकार की इत्संज्ञा हुई है) प्रातिपदिक से
गौरादि गण में पठित शब्दों से ङीष् होता है। जैसे-षित्-न
रजकी, रञ्जकी, लुण्टाकी, लुण्ठाकी (लूटनेवाली), कु
(काटनेवाली) आदि।

गौरादि—गौरी, पिप्पली, मृगी, हरिणी, मातामही, पिता
मत्सी[२] मनुषी[३], आदि। सुन्दर-सुन्दरी स्त्री तथा पाण्डुर-पाण्डुरी
मनुष्य जाति में। इससे भिन्न में सुन्दरा, पाण्डुरा भूमिः।

"वोतो गुणवचनात्" (पा० सू)

खरु तथा संयोगोपध से भिन्न गुणवाद ह्रस्व उकारान्त श
स्त्रीलिंग में ङीष् विकल्प से होता है[४]। जैसे—मृदु–मृद्वी, मृदुः; प

१. पिशङ्गादुपसंख्यानम्" (का० वा०)
२. मत्स्यस्य ङ्याम् (वा) से मत्स्य में यकार का लोप हो जात
३. "हलस्तद्धितस्य" (पा० सू०) से मनुष्य में यकार का लोप होत
४. 'खरु संयोगोपधान्न' (का० वा०)

ट्वी, पटुः; गुरु—गुर्वी, गुरुः; लघु—लघ्वी, लघुः आदि। किन्तु खरु (पतिंवरा कन्या) से खरुः, पाण्डु से पाण्डुः आदि।

"बह्वादिभ्यश्च" (पा० सू०)

बह्वादिगण पठित शब्दों से तथा 'क्तिन्' प्रत्यय या क्तिन् प्रत्यय के अर्थ में विहित प्रत्ययों से भिन्न जो इकारान्त कृत् प्रत्यय तदन्त प्रातिपदिक से ङीष् विकल्प करके होता है। जैसे—बहु—बह्वी, बहुः; पद्धति—पद्धती, पद्धतिः; उदार—उदारी, उदारा; कृपण—कृपणी, कृपणा; पुराण—पुराणी, पुराणा; यष्टि—यष्टी, यष्टिः। रात्री रात्रिः; अवनी, अवनिः; धरणी, धरणिः; श्रेणी, श्रेणिः; रजनी रजनिः; किन्तु कृतिः गतिः, मतिः में क्तिन्नन्त होने के कारण ङीष् नहीं होगा। ऐसे ही अजननिः यहाँ भी अ+जन्+अनि क्तिन् के अर्थ में है। अतः ङीष् नहीं होगा।

"पुंयोगादाख्यायाम्" (पा० सू०)

जो पुंवाचक शब्द (दाम्पत्य रूप या जन्य-जनक भावरूप) पुंयोग से स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान हो उससे ङीष् होता है। जैसे—गोपस्य स्त्री—गोपी, सूर्यस्य स्त्री—सूरी, अगस्त्यस्य स्त्री —अगस्ती, गणकस्य स्त्री—गणकी आदि। केकयस्य कन्या—केकयी, देवकस्य दुहिता-देवकी आदि। यदि पुंवाचक शब्द के अन्त में 'पालक' शब्द हो तो ङीष् नहीं होता। जैसे—गोपालिका, अश्वपालिका (गोपालक, अश्वपालक की स्त्री)।

"इन्द्र-वरुण-भव-शर्व-रुद्र-मृड-हिमारण्य-यव-यवन-मातुलाचार्या-णामानुक्" (पा० सू०)

इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, हिम, अरण्य, यव, यवन, मातुल तथा आचार्य शब्दों से पुंयोग तथा कुछ अर्थ विशेषों में आनुक् और उसी के साथ ङीष् भी होता है। जैसे—इन्द्रस्य स्त्री इन्द्राणी। ऐसे ही वरुणानी, भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी, मृडानी, मातुलानी तथा आचार्यानी[1] पुंयोग में। हिम और अरण्य से महत्त्व अर्थ में आनुक्

---

१. 'आचार्यादणत्वं च' (का० वा०) आचार्य से स्त्रीलिङ्ग में णत्व नहीं होता है। ऐसे ही जहाँ स्वयं व्याख्यात्री है वहाँ 'आचार्य' से ङीष् नहीं होता है। जैसे आचार्या=स्वयं व्याख्यात्री।

तथा ङीष् होता है। जैसे-महत् हिमं हिमानी, महत् अरण्यम् अरण्यानी
यव से दुष्ट अर्थ में जैसे—दुष्टो यवो यवानी । 'यवन' से लिपि अर्थ
जैसे—यवनानां लिपिः यवनानी, पुंयोग में यवनी ।

'मातुलोपाध्याययोरानुग् वा' (का० वा०)

मातुल और उपाध्याय शब्द से आनुक् (आन) विकल्प से हो
है। जैसे—मातुलानी, मातुली; उपाध्यायानी, उपाध्यायी । किन्तु
स्वयम् अध्यापिका है वहाँ उपाध्याय शब्द से ङीष् विकल्प करके हो
है । जैसे— उपाध्यायी, उपाध्याया ।

ऐसे ही जहाँ स्वयं व्याख्यात्री है वहाँ 'आचार्य' से ङीष् नहीं हो
है। जैसे—आचार्या=स्वयं व्याख्यात्री ।

अर्य (स्वामी या वैश्य) तथा क्षत्रिय शब्द से स्वार्थ में आ
विकल्प से होता है। जैसे—अर्याणी, अर्या (स्वामिनी या वैश्य जा
की स्त्री), क्षत्रियाणी, क्षत्रिया । पुंयोग में अर्यी, क्षत्रियी ।

"स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्" (पा० सू०)

असंयोगोपध (जिसकी उपधा में संयोग न हो ऐसा) तथा उ
सर्जन (विशेषणीभूत अर्थबोधक) जो स्वाङ्गवाचक शब्द तद
(स्वाङ्गान्त) जो अदन्त प्रातिपदिक उससे स्त्रीलिङ्ग में ङीष् विक
करके होता है। यथा—केशान् अतिक्रान्ता—अतिकेशी, अतिके
चन्द्र इव मुखं यस्याः—चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा आदि । किन्तु संयोगो
में सुगुल्फा, सुपार्श्वा इत्यादि । यहाँ 'स्वाङ्ग' का अपना अङ्ग यह
नहीं है। यहाँ कुछ खास अर्थों में यह प्रयुक्त हुआ है । यहाँ तीन त
के स्वाङ्ग लिए जाते हैं। जैसे—

जो अद्रव हो, मूर्तिमत् हो, प्राणियों में स्थित हो एवं अविका
हो[1] (शरीर के विकार से उत्पन्न न हो) उसे स्वाङ्ग कहते हैं।
लिए 'सुस्वेदा' में 'स्वेद' (पसीना) द्रवीभूत होने के कारण, 'सुज्ञा
में 'ज्ञान' अमूर्त होने के कारण, 'सुमुखा शाला' में 'मुख' अप्राणि

---

१. अद्रवं मूर्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थम् अविकारजम् ।

होने के कारण एवं 'सुशोफा' में 'शोफा' विकारज होने के कारण स्वाङ्ग नहीं है, अतः इन शब्दों में ङीष् नहीं होता है।

अप्राणिस्थ होने पर भी यदि वह प्राणी में देखा गया हो[1] तो भी स्वाङ्ग माना जाता है। जैसे—सुकेशी, सुकेशा वा रथ्या यहाँ 'केश' अप्राणिस्थ होने पर भी पूर्व प्राणिस्थ होने के कारण स्वाङ्ग है।

तृतीय स्वाङ्ग का लक्षण यह है कि यदि प्राणिस्थ अवयव विशेष से वह अप्राणि—द्रव्य (प्रतिमादि) में प्राणिद्रव्य की तरह सम्बद्ध हो[2] तो अप्राणियों के अङ्ग स्वाङ्ग हैं। जैसे—सुमुखी, सुमुखा वा प्रतिमा, सुस्तनी, सुस्तना वा मूर्तिः। यहाँ 'मुख' या 'स्तन' अप्राणि—द्रव्य (प्रतिमा) में होता हुआ भी इस में प्राणिद्रव्य (ललनादि) की तरह सम्बद्ध होने के कारण स्वाङ्ग है।

नासिका, उदर, ओष्ठ, जङ्घा, दन्त, कर्ण और शृंग शब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् विकल्प से होता है[3]। जैसे—तुङ्ग-नासिका, कुम्भोदरी, कुम्भोदरा, बिम्बोष्ठी, बिम्बोष्ठा, दीर्घजङ्घी, दीर्घजङ्घा, शुभ्रदन्ती, शुभ्रदन्ता, सुकर्णी, सुकर्णा, सुशृंगी सुशृङ्गा आदि।

पुच्छ, अङ्ग, गात्र तथा कण्ठ शब्दान्त प्रातिपदिक से भी स्त्रीत्व अर्थ में ङीष् विकल्प करके होता है[4]। जैसे-सुपुच्छी, सुपुच्छा, मृद्वङ्गी, मृद्वङ्गा, सुगात्री, सुगात्रा, कोकिलकण्ठी, कोकिलकण्ठा आदि।

कबर, मणि, विष, तथा शर शब्दों से परे जो पुच्छ शब्द एवं उपमान से परे जो पक्ष और पुच्छ शब्द उनसे ङीष् नित्य ही होता है[5]। जैसे—कबर-पुच्छी, मणि-पुच्छी, विष-पुच्छी, शर-पुच्छी, उलूक-पक्षी, उलूक-पुच्छी आदि।

---

१. अतत्स्थं तत्र दृष्टं च।

२. तेन चेत् तत् तथा युतम्॥ इति त्रिविधं स्वाङ्गम्।

३. "नासिकोदरौष्ठ-जङ्घा-दन्त-कर्ण-शृङ्गाच्च"। (पा० सू०)

४. "पुच्छाच्च" 'अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्"। (का० वा०)

५. 'कबर-मणि-विष-शरेभ्यो नित्यम्'।
'उपमानात् पक्षाच्च पुच्छाच्च'।(का० वा०)

क्रोडादिगण पठित स्वाङ्ग शब्दों से तथा बहुत अच् वाले स्वाङ्
शब्दों से ङीष् नहीं होता है। इसी तरह सह, नञ् (अ) तथा विद्यम
पूर्वक स्वाङ्ग शब्दों से एवं संज्ञा में स्वाङ्ग, नख और मुख शब्दों
ङीष् नहीं होता है[1]। जैसे—क्रोडादि-कल्याणक्रोड़ा, सुशफा, सुघो
बह्वच्, सुजघना, सुनयना, चारुदशना, महाललाटा, सकेशा, अके
विद्यमाननासिका, शूर्पणखा, गौरमुखा इत्यादि।

"जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" (पा० सू०)

जातिवाचक जो अनियत स्त्रीलिङ्ग (हय, गवय, मुकय, मनु
और मत्स्य को छोड़कर) अयोपध (जिसकी उपधा में यकार न ह
ऐसा) अदन्त प्रातिपदिक उससे स्त्रीलिङ्ग में ङीष् होता है। जैसे-
तटी, वृषली, औपगवी, कठी आदि।

पारिभाषिक स्वाङ्ग की तरह जाति भी यहाँ पारिभाषिक ही ल
जाती है। यह भी तीन तरह की होती है। जैसे—

आकृति (अवयव सन्निवेश) ही जिसका ग्रहण (व्यञ्जक) है
वह एक जाति है[2]। जैसे तटी आदि।

जिस शब्द का व्यवहार तीनों लिङ्गों में न होता हो तथा केव
एक व्यक्ति में कह देने से और व्यक्तियों में बिना कहे ही जिसका बो
हो वह भी जाति है[3]। जैसे—वृषली, मनुषी आदि। स्त्रिलिङ्ग होने स
'शुक्ला' जाति नहीं है। संज्ञा होने से 'देवदत्ता' आदि शब्द भी जाति
वाचक नहीं है। अतः ङीष् नहीं होता है।

अपत्य प्रत्ययान्त शब्द तथा वेद की शाखाओं के अध्येतृवाची शब्
भी यहाँ जातिवाचक हैं[4]। जैसे—औपगवी, कठी, बह्वृची, चारायणी
इत्यादि।

---

१. "न क्रोडादिबह्वचः" "सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च"
"नखमुखात् संज्ञायाम्" (पा० सू०)

२. आकृति-ग्रहणा जातिः,

३. लिङ्गानां च न सर्वभाक्। सकृदाख्यात-निर्ग्राह्या,

४. गोत्रं च चरणैः सह॥

"इतो मनुष्यजातेः" (पा० सू०)

इदन्त मनुष्य-जातिवाचक शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् होता है। जैसे—दाक्षि-दाक्षी औदमेयी इत्यादि। मनुष्य से भिन्न में तित्तिरिः यहाँ ङीष् नहीं होता है।

"ऊङुतः" (पा० सू०)

यकारोपध से भिन्न मनुष्य जातिवाचक उकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व में ऊङ् होता है। जैसे—कुरूः।

संज्ञा में बाहु शब्दान्त प्रातिपदिक से तथा पङ्गु शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् होता है[1]। जैसे—भद्रबाहूः पङ्गुः।

श्वशुर शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् होता है और साथ ही मध्य उकार तथा अन्त्य अकार का लोप भी हो जाता है। जैसे-श्वशुर-श्वश्रूः।

पूर्वपद उपमानवाचक हो और 'ऊरु' उत्तरपद में हो, ऐसे प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् होता है[2]। जैसे—करभौ इव ऊरू यस्याः सा—करभोरूः, रम्भोरूः आदि।

संहित, शफ, लक्षण तथा वाम एवं सहित और सह शब्दों में से कोई पूर्व पद में हो और ऊरू यदि उत्तर पद में हो तो स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् होता है[3]। जैसे—संहितोरूः, शफोरूः, लक्षणोरूः तथा वामोरूः। एवं सहितोरूः, सहोरूः।

"संज्ञायाम्" (पा० सू०)

संज्ञा में कद्रु और कमण्डलु शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् होता है। जैसे—कद्रूः (नागमाता), कमण्डलूः (मृगविशेष), असंज्ञा में कद्रुः (वर्णविशेष), कमण्डलुः (पात्रविशेष)।

"शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्" (पा० सू०)

जातिवाचक शार्ङ्गरव आदि शब्दों से तथा अञ् प्रत्ययान्त शब्दों

---

१. "बाह्वन्तात् संज्ञायाम्" (पा० सू०)
२. "ऊरूत्तरपदादौपम्ये" (पा० सू०)
३. "संहितशफलक्षणवामादेश्च" (पा० सू०)
"सहितसहाभ्यां चेति वक्तव्यम्" (का० वा)

से स्त्रीलिङ्ग में ङीन् होता है। जैसे—शाङ्गरवी, ब्राह्मणी आदि अञ् प्रत्ययान्त-वैदी, पार्थिवी इत्यादि। नृ और नर शब्दों से ङी और उसके साथ वृद्धि भी होती है। जैसे—नृ-नर—नारी।

"यूनस्तिः" (पा० सू०)

युवन् शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'ति' प्रत्यय होता है। जैसे-युवतिः शतृप्रत्ययान्त युवत् शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'युवती' प्रयोग होता है।

नोट—छात्र स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों के संग्रह को अवश्य पढ़ें। अनेक शब्दों के लिए जो एक शब्द दिये गये हैं उनमें भी बहुत से स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द हैं जिनका विवेचन यहाँ जानबूझ कर छोड़ दिया गया है अतः उन्हें भी ध्यानपूर्वक पढ़ें।

छात्रों की सुविधा के लिए कुछ आवश्यक स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों के रूप दिये जाते हैं। जिनके अर्थों में भेद होता है उनके अर्थ पृथक्-पृथक् बतलाये गये हैं।

प्रातिपदिक	स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द	अर्थ
१ अकेश	अकेशा	केश-रहिता
२ अग्नि	अग्नायी	अग्नि की स्त्री
३ अतिधीवन्	अतिधीवरी	धीवानम् अतिक्रान्ता
४ अतिसुत्वन्	अतिसुत्वरी	सुत्वानम् अतिक्रान्ता
५ अनडुह्	अनड्वाही–अनडुही	गाय
६ अरण्य	अरण्यानी	महत् अरण्यम्
७ अर्य	अर्याणी-अर्या	स्वामिनी या वैश्या
	अर्यी	अर्य (वैश्य) की स्त्री
८ अशिशु	अशिश्वी	शिशुहीना
९ अष्टक	अष्टका	पितृदेवत्य श्राद्ध
	अष्टिका	अष्टाध्यायी
१० आचार्य	आचार्यानी	आचार्य की स्त्री
	आचार्या	स्वयं व्याख्यात्री

११ इन्द्र	इन्द्राणी	इन्द्र की स्त्री
१२ उपाध्याय	उपाध्यानी-उपाध्याया	उपाध्याय की स्त्री
	उपाध्यायी-उपाध्याया	स्वयम् अध्यापिका
१३ एकपति	एकपत्नी	एकः पतिः यस्याः
१४ एत	एनी-एता	चित्रवर्णा
१५ कबर	कबरी	केशवेश-गुथी हुई चोटी
	कबरा	चित्रा-रंगबिरंगा
१६ कामुक	कामुकी	मैथुनेच्छावती
	कामुका	धनादि की इच्छावाली
१७ काल	काली	कृष्णवर्णा
	काला	क्रूरता से युक्त स्त्री या कालकेय माता
१८ कुमार	कुमारी	अविवाहिता कन्या
१९ कुरुचर	कुरुचरी	कुरौ चरति या
२० कुश	कुशी	लौहविकार, फाला
	कुशा	रस्सी, रज्जुः
२१ कुण्ड	कुण्डी	कमण्डलुः-जारजा स्त्री
	कुण्डा	दहनीया
२२ कुर्वत्	कुर्वती	करती हुई
२३ क्रीडत्	क्रीडन्ती	खेलती हुई
२४ क्रीणत्	क्रीणती	खरीदती हुई
२५ किंकर	किंकरा	नौकरानी
	किंकरी	किंकर की स्त्री
२६ कुसित (सूदखोर)	कुसितायी	कुसित की स्त्री
२७ कुसिद (,,)	कुसिदायी	कुसिद की स्त्री
२८ केकय	केकयी	केकयस्य दुहिता
२९ कोकिल	कोकिला	कोयल

३० क्षत्रिय	क्षत्रियाणी, क्षत्रिया	क्षत्रिय जाति की
	क्षत्रियी	क्षत्रियस्य स्त्री
३१ गृहपति	गृहपत्नी, गृहपतिः	गृहस्य स्वामिनी
३२ गोण	गोणी	बोरा (आवपन)
	गोणा	कस्याश्चित् नाम
३३ घट	घटी	क्षुद्र घट
	घटा	समूहार्थे (गजघटा
३४ घटोधस्	घटोध्नी	घट इव ऊधः यस्य
३५ जानपद	जानपदी (ङीष्)	वृत्तिः (जीविका)
	जानपदी (ङीप्)	जनपदवासिनी
३६ जुह्वत्	जुह्वती	हवन करती हुई
३७ तस्थिवस्	तस्थुषी	खड़ी होती हुई
३८ तन्वत्	तन्वती	विस्तार करती हुई
३९ तारक	तारका	नक्षत्र
	तारिका	तारनेवाली
४० तुदत्	तुदन्ती, तुदती	व्यथित करती हुई
४१ ददत्	ददती	देती हुई
४२ दण्डिन्	दण्डिनी	दण्डवाली
४३ दाक्षि	दाक्षी	दक्षस्य अपत्यं स्त्री
४४ दीव्यत्	दीव्यन्ती	खेलती हुई
४५ धीवन्	धीवरी	बुद्धिमती
४६ नरपति	नरपत्नी, नरपतिः	नरस्य रक्षिका
४७ नृ, नर	नारी	
४८ नाग	नागी	स्थूला स्त्री हथिनी की तरह
	नागा	दीर्घ नागिन की त
४९ निषेदिवस्	निषेदुषी	बैठी हुई

५० नील	नीली	गौः, औषधिः
	नीला	शाटी, मेघमाला
५१ पचत्	पचन्ती	पाक करती हुई
५२ पङ्गु	पङ्गूः	पङ्गु स्त्री
५३ पाण्डु	पाण्डुः	पाण्डु वर्ण
५४ पाणिगृहीत	पाणिगृहीती	भार्या
	पाणिगृहीता	अन्या हस्तगृहीता
५५ पुत्र	पुत्री	कन्या
५६ पूतक्रतु	पूतक्रतायी	शची, इन्द्राणी
५७ भव	भवानी	पार्वती
५८ भवत् (शत्रन्त)	भवन्ती	होती हुई
५९ भवत् (सर्वनाम)	भवती	
६० भाज	भाजी	पक्व व्यञ्जन विशेष
	भाजा	अपक्वा
६१ मघवन्	मघोनी, मघवती	इन्द्राणी
६२ मत्स्य	मत्सी	मछली
६३ मनु	मनावी, मनायी, मनुः	मनोः स्त्री
६४ महाराज	महाराजी	महाराज की स्त्री
६५ मातुल	मातुलानी, मातुली	मातुलस्य स्त्री
६६ मृड	मृडानी	रुद्राणी
६७ यव	यवानी	दुष्टो यवः
६८ यवन	यवनानी	यवनस्य लिपिः
	यवनी	यवनस्य स्त्री
६९ यात्	यान्ती, याती	जाती हुई
७० युवत्	युवती	
७१ युवन्	युवतिः	
७२ युवराज	युवराजी	
७३ वर्तक	वर्तका	पक्षि-विशेषः
	वर्तिका	

७४ वर्णक	वर्णका	प्रावरणविशेषः
	वर्णिका	स्तोत्री,स्तुति करनेवा
७५ वृषाकपि	वृषाकपायी	श्री गौरी लक्ष्मी च
७६ राजन्	राज्ञी	
७७ राजसख	राजसखी	
७८ रोहित	रोहिणी, रोहिता	रक्तवर्णा
७९ लोहित	लोहिता	रक्तवर्णा
८० शूद्र	शूद्रा	शूद्रत्व जाति विशिष्ट
	शूद्री	शूद्र की स्त्री
८१ श्वन्	शुनी	कुक्कुरी
८२ श्वेत	श्वेता	श्वेतवर्णा
८३ सकेश	सकेशा	केशेन सह वर्तमाना, केशवाली
८४ सखि	सखी	
८५ सुकेश	सुकेशी, सुकेशा	सुन्दर केशवाली
८६ सुदन्त	सुदन्ता, सुदन्ती	सुन्दर दाँतवाली
	सुदती	(युवती)अवस्था अर्थ
८७ सूर्य	सूर्या	सूर्यस्य देवता स्त्री
	सूरी (कुन्ती)	सूर्यस्य मानुषी स्त्री
८८ स्थल	स्थली	अकृत्रिमा भूमिः
	स्थला	पुरुषादि परिष्कृता कृत्रिमा भूमिः
८९ सारङ्ग	सारङ्गी	चित्रवर्णा
९० हरित	हरिणी, हरिता	हरितवर्णा
९१ हरिण	हरिणी	मृगी
९२ हिम	हिमानी	हिम-संहतिः

कारक-प्रकरण

कारक (Case)

'क्रियाजनकं कारकम्'। अर्थात् क्रिया के जनक या सम्पादक को कारक कहते हैं। 'करोति, क्रियां निर्वर्तयति इति कारकम्' यही कारक पद की सर्वसिद्धान्त व्युत्पत्ति है। इसलिए जो क्रिया या व्यापार का निर्वर्तक या किसी न किसी रूप में साधक नहीं है उसे कारक नहीं कहते हैं। ये कारक संस्कृत में छः हैं। यथा—

(१) कर्ता (२) कर्म च (३) करणं च (४) सम्प्रदान तथैव च।
(५) अपादानम् (६) अधिकरणम् इत्याहुः कारकाणि षट्॥

जैसे—'छात्रः विद्यालये अध्यापकात् ज्ञानाय मनसा पुस्तकं पठति'। यहाँ पठन रूप व्यापार का सम्पादक किसी न किसी रूप में प्रत्येक है, क्योंकि छात्र कर्त्ता होकर विद्यालय आधार होकर, अध्यापक अपादान रूप से, ज्ञान उद्देश्यत्वेन सम्प्रदान होकर, मन प्रकृष्ट उपकारक तथा करण रूप से तथा पुस्तक कर्म रूप से एक ही पठन क्रिया का निष्पादन करते हैं। जो क्रिया का सम्पादक नहीं है उसे कारक नहीं कहते हैं। इसीलिये सम्बन्ध और सम्बोधन संस्कृत में कारक नहीं माने गये हैं;

क्योंकि 'हे बालक (त्वम्) रामस्य वस्त्रं पश्य' यहाँ पर 'देखो' इस व्यापार का कर्ता 'त्वम्' है न कि बालक। और राम केवल वस्त्र का सम्बन्ध बतलाता है न कि व्यापार का सम्पादन करता है इसलिए सम्बन्ध और सम्बोधन कारक नहीं हैं। पूर्वोक्त-कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण-इन छः कारकों में क्रमशः प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी और सप्तमी विभक्ति होतीं हैं। सम्बन्ध में षष्ठी और सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति होती है।

नमः स्वस्ति, विना, नाना, ऋते आदि कुछ अव्यय शब्दों के योग में विभक्तियाँ होती हैं। उन विभक्तियों को उपपदविभक्ति कहते हैं। जहाँ उपपदविभक्ति और कारक विभक्ति दोनों की प्राप्ति रहती है वहाँ

कारक विभक्ति ही होती है। 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीय
जैसे– 'मुनित्रयं नमस्कृत्य' जहाँ नमः के योग में चतुर्थी विभ
बलवती, जो नमस्करण रूप क्रिया के योग में द्वितीया कारक वि
है, वही होती है।

जहाँ एक ही शब्द में दो कारक विभक्तियों की प्राप्ति हो
अधोलिखित क्रम के अनुसार उत्तरोत्तर पर विभक्ति होती है। य

'अपादान-सम्प्रदान-करणाधार-कर्मणाम्।
कर्तुश्चोभय-सम्प्राप्तौ परमेव प्रवर्तते'॥

जैसे—'पश्य बालको गच्छति' यहाँ पर 'पश्य' का कर्म हो
कारण बालक से कर्म-विभक्ति द्वितीया की प्राप्ति है और 'गच्
का कर्त्ता होने के कारण उससे कर्तृ–विभक्ति प्रथमा की भी प्राप्ति
किन्तु यहाँ पर इस पूर्वोक्त क्रम में पर जो कर्तृ विभक्ति प्रथमा है
होती है।

प्रथमा विभक्ति

(First Case ending suffix)

'प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनमात्रे प्रथमा' (पा० सू०)

पातिपदिकार्थश्च लिङ्गं च परिमाणं च वचनं च इति प्र
पदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनानि (इतरेतरद्वन्द्व) तानि एव
प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचन-मात्रम् तस्मिन् प्रथमा स्या
द्वन्द्व समास के अन्त या आदि में श्रूयमाण जो पद रहता है उ
प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होता है[1]। इसलिये यहाँ मात्र पद का सम्
प्रातिपदिकार्थ आदि प्रत्येक शब्द के साथ होगा। अतः इसका अर्थ
प्रातिपदिकार्थ मात्र में, प्रातिपदिकार्थापेक्षया लिङ्गमात्र के आ
में तथा परिमाणमात्र के आधिक्य में एवं वचनमात्र में प्रथमा वि
होती है।

प्रातिपदिक का अर्थ है सत्ता[2] अथवा स्वार्थ और द्रव्य; या स्व

---

१ द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते।

२ प्रातिपदिकार्थः सत्ता।

व्य और लिङ्ग; या स्वार्थ, द्रव्य, लिङ्ग और संख्या; या स्वार्थ, द्रव्य, लिङ्ग, संख्या एवं कारक। जिस प्रातिपदिक के उच्चारण करते ही स्वार्थ, द्रव्य, लिङ्ग, संख्या और कारक इन पाचों में जिसका ज्ञान निश्चित रूप से हो उसे ही यहाँ प्रातिपदिकार्थ कहते हैं[1] इसलिये उच्चैः नीचैः आदि अलिङ्गक एवं सत्तामात्र बोधक अव्यय शब्दों से तथा रामः, सीता एवं ज्ञानम् आदि नियतलिङ्गक शब्दों से प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा विभक्ति होती है।

जिन शब्दों का लिङ्ग निश्चित नहीं है उन शब्दों से लिङ् मात्राधिक्य में प्रथमा होती है। जैसे—तटः, तटी, तटम् तथा कृष्णः, कृष्णा, कृष्णम् इत्यादि विशेषण शब्दों में लिङ्ग मात्राधिक्य में प्रथमा विभक्ति हुई है।

परिमाणमात्रे प्रथमा का उदाहरण है—द्रोणः तण्डुलः, खारी शाली, आढ़कं चूर्णम् इत्यादि। यहाँ परिमाण मात्र में प्रथमा करने से द्रोणरूप परिमाण से परिच्छिन्न (तौला हुआ) तण्डुल ऐसा अभीष्ट अर्थ होता है। यदि प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा होती तो द्रोण रूप तण्डुल ऐसा अर्थ होता जो कि अभीष्ट नहीं है।

वचनमात्रे प्रथमा का उदाहरण है—एकः द्वौ, बहवः आदि। यहाँ पर एकत्व, द्वित्व तथा बहुत्व एक, द्वि और बहु शब्द से क्रमशः उक्त होने पर भी वचनमात्र में प्रथमा विधान करने के कारण प्रथमा विभक्ति होती है। अन्यथा 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इस नियम से यहाँ एकत्व, द्वित्व एवं बहुत्व के द्योतक क्रम से सु, औ और जस् विभक्ति नहीं आती।

"सम्बोधने च" (पा० सू०)

अभिमुखीकृत्य ज्ञापनं सम्बोधनम्। सम्बोधने अधिके गम्येऽपि प्रथमा स्यात्। अर्थात् जो वस्तु पहले से सिद्ध है उसके अभिमुखीकरण

---

१. स्वार्थ-द्रव्य-लिङ्ग-संख्या-कारकाणि इति पञ्चकं प्रातिपदिकार्थः।

यस्मिन् प्रातिपदिके उच्चारिते स्वार्थ-द्रव्य-लिङ्ग-संख्या-कारकेषु मध्ये यस्यार्थस्य नियमेनोपस्थितिः स प्रातिपदिकार्थः।

को सम्बोधन कहते हैं[1] इसलिये सम्बोधन विभक्ति अनुवाद्य विषय होती है न कि विधेय विषय में जैसे—'हे राम ! मां पाहि ।' कि 'राजन् ! सार्वभौमो भव' यहाँ राजा पहले से सिद्ध इसलिये अनुवा होने के कारण सम्बोधन में प्रथमा हुई, किन्तु 'सार्वभौम' विधेय अतः उससे सम्बोधन में प्रथमा नहीं होती है ।

द्वितीया विभक्ति

(Second Case ending)

कर्म कारक (Accusative Case)

"कर्तुरीप्सिततमं कर्म" (पा० सू०)

कर्तुः व्यापारेण प्राप्तुं यत् इष्टतमं तत् कारकम् कर्मसंज्ञं भवति कर्ता के व्यापार के द्वारा प्राप्त करने में अत्यन्त अभीष्ट जो कार उसे कर्म संज्ञा होती है। यह कर्म तीन तरह का होता है। निर्वर्त्य विकार्य और प्राप्य[2] ।

१. उत्पाद्य को निर्वर्त्य कर्म कहते हैं। अर्थात् जो पहले से नहीं क्रिया के द्वारा उत्पन्न होता है। जैसे–घटं करोति। पुत्रं प्रसूते आदि

२. विकार्य कर्म वह है जो प्रकृति का उच्छेद करके अवस्थान्त को प्राप्त करता है। जैसे—काष्ठं भस्म करोति। सुवर्णं कुण्ड करोति। तण्डुलान् ओदनं पचति आदि ।

३. प्राप्यकर्म उसे कहते हैं जिसमें कर्ता की क्रिया से कुछ विशेष

---

१. सिद्धस्याभिमुखीकरणभावं सम्बोधनं विदुः ।

२. यदसञ्जायते पूर्वं जन्मना यत् प्रकाशते । तन्निर्वर्त्यं विकार्यं च क द्वेधा व्यवस्थितम् ।। प्रकृत्युच्छेदसम्भूतं किञ्चित् काष्ठादि भस्मवत् किञ्चि गुणान्तरोत्पत्त्या सुवर्णादिविकारवत् ।। क्रियाकृतविशेषाणां सिद्धिर्यत्र न गम्यते दर्शनादनुमानाद्वा तत् प्राप्यमिति कथ्यते ।।

नहीं होती है। जैसे—ग्रामं गच्छति। चन्द्रं पश्यति। शास्त्रं पठति। धनम् इच्छति आदि।

"कर्मणि द्वितीया" (पा० सू०)

अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। जब सकर्मकधातु से कर्ता में तिङ् या कृत् प्रत्यय होता है तब कर्म अनुक्त रहता है। वहाँ द्वितीया विभक्ति होती है। जैसे—मधुरं खादति। हरिं सेवते। ग्रामं गतवान् इत्यादि। कर्म उक्त होने पर कर्म से प्रथमा विभक्ति होती है। जब सकर्मक धातु से कर्म में तिङ् या कृत् प्रत्यय होता है तब कर्म उक्त हो जाता है वहाँ प्रथमा विभक्ति होती है। जैसे—भक्तेन हरिः सेव्यते। लक्ष्म्या सेवितः विष्णुः इत्यादि। कर्म का अभिधान जैसे तिङ् और कृत् से होता है, वैसे ही तद्धित, समास और निपात से भी होता है। जैसे-शतेन क्रीतः शत्यः अश्वः यहाँ पर 'शत्यः' में तद्धित 'यत्' प्रत्यय से अश्वरूप कर्म उक्त हो गया, अतः द्वितीया नहीं हुई। प्राप्तः आनन्दः यम् स प्राप्तानन्दः पुरुषः। यहाँ पर कर्म रूप अन्य पदार्थ समास से उक्त हो गया है अतः पुरुष से द्वितीया नहीं हुई। निपात से भी कर्म उक्त हो जाने पर द्वितीया नहीं होती है। जैसे—विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्, यहाँ पर असाम्प्रतम् (न युज्यते) इस निपात से कर्म उक्त हो गया है, अतः विषवृक्ष से द्वितीया नहीं होती है। ऐसे 'तं मूर्खं इति मन्यते' यहाँ पर इति से मूर्खरूप कर्म उक्त है अतः मूर्ख से द्वितीया नहीं हुई।

"तथायुक्तं चानीप्सितम्" (पा० सू०)

ईप्सिततमवत् क्रियया युक्तमनीप्सितमपि कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्।

कर्ता के व्यापार में ईप्सिततम के साथ अनीप्सित भी कारक कर्म संज्ञक होता है। जैसे—छात्रः विद्यालयं गच्छन् तृणं स्पृशति यहाँ 'तृण' उपेक्ष्य होने से अनीप्सित है। ओदनं खादन् विषं खादति यहाँ पर 'विष' द्वेष्य होने के कारण अनीप्सित है।

"अकथितं च" (पा० सू०)

अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। अपादान,

सम्प्रदान, अधिकरण आदि से अविवक्षित कारक भी कर्म संज्ञक हो है। यहाँ अकथित का अर्थ 'अनुक्त' नहीं है। अकथित का अर्थ अविवक्षित या अप्रधान या गौण। अर्थात्—

दुह्-याच्-पच्-दण्ड्-रुचि-प्रच्छि-चि-ब्रू-शास्-जि-मथ्-मुषाम्।
कर्मयुक् स्यात् अकथितं तथा स्यात् नी-हृ-कृष्-वहाम्॥

दुह् से लेकर मुष् पर्यन्त बारह धातुओं के तथा नी, हृ, कृष् और वह इन चार धातुओं के मुख्य कर्म से युक्त (सम्बद्ध) जो गौण कर्म है उसे अकथित कर्म कहते हैं। यथा—

गोपः गां दुग्धं दोग्धि। यहाँ गो शब्द में अपादानत्व की अविवक्षा करके कर्मत्व की विवक्षा की गई है।

दरिद्रः धनिकं धनं याचते। यहाँ धनिकात् की जगह 'धनिकं' गौण कर्म है। पाचकः तण्डुलान् ओदनं पचति में 'तण्डुलैः' की जगह 'तण्डुलान्' अकथित कर्म है। राजा चौरान् शतं दण्डयति। यहाँ पर 'चौरेभ्यः' में अपादानत्व की अविवक्षा करके कर्मत्व की विवक्षा की गई है। गोपः व्रजम् गाम् अवरुणद्धि। यहाँ 'व्रजे' की जगह 'व्रजं' हुआ है। शिष्यः गुरुं धर्मं पृच्छति। 'गुरुणा' में करणत्व की अविवक्षा करके यहाँ कर्मत्व की विवक्षा हुई है।

पूजकः वृक्षं पुष्पं चिनोति में 'वृक्षात्' की जगह 'वृक्षं' है। पिता पुत्रं धर्मं ब्रूते। यहाँ 'पुत्राय' में सम्प्रदानत्व की अविवक्षा करके कर्मत्व की विवक्षा की गई है।

शिक्षकः बालं पाठं शास्ति में भी 'बालं' 'बालाय' की जगह है। यज्ञदत्तः देवदत्तं शतं जयति। यहाँ 'देवदत्तात्' के स्थान में 'देवदत्तं' हुआ है।

विष्णुः क्षीरनिधिं सुधां मथ्नाति। यहाँ पर अपादान कारक की जगह 'क्षीरनिधिम्' अकथित कर्म है।

'चौरः देवदत्तं शतं मुष्णाति' में भी अपादानत्व की अविवक्षा और 'देवदत्तम्' यह कर्म की विवक्षा है। गोपः ग्रामं गां नयति, विज स्वगृहं धनं हरति, कृषकः क्षेत्रं हलं कर्षति, भृत्यः ग्रामं भारं वह

आदि में 'ग्रामं', 'स्वगृहं' तथा 'क्षेत्रम्' अधिकरण कारक की जगह कर्मत्वेन विवक्षा करने पर अकथित कर्म हैं।

यहाँ सभी भिन्न आकृति वाले शब्द अकथित कर्म हैं तथा दुग्धम् आदि दूसरे कर्म मुख्य कर्म हैं।

नोट—१. इन पूर्वोक्त सोलह धातुओं के अर्थों में और भी जितने द्विकर्मक धातु हैं उनके भी मुख्य कर्म से सम्बद्ध कर्म को अकथित कर्म कहते हैं। जैसे—वामनः बलिं वसुधां भिक्षते। अध्यापकः शिष्यं धर्मं भाषते, कथयति, वक्ति इत्यादि।

२. अविवक्षित कारक ही अकथित कर्म होता है। इसलिये राज्ञः पुरुषं मार्गं पृच्छति इत्यादि जगहों में 'राज्ञः' के स्थान में 'राजानम् पुरुषम्' नहीं होगा, क्योंकि सम्बन्ध कारक नहीं है।

३. दुहादि बारह धातुओं से कर्मवाच्य में तिङ् या कृत् प्रत्यय गौण कर्म में होता है। इसलिये गौण कर्म ही उक्त होगा और उससे द्वितीया विभक्ति नहीं होगी प्रथमा विभक्ति होगी। और नी, हृ, कृष् तथा वह् से कर्मवाच्य में प्रधान कर्म में प्रत्यय होता है, अतः वही उक्त होगा और उससे द्वितीया नहीं होगी, प्रथमा विभक्ति होगी। जैसे—गोपेन गौः दुग्धं दुह्यते, दीनेन धनिकः धनं याचितः इत्यादि, पुरुषेण ग्रामम् अजा नीयते, गोपेन ग्रामं गौः नीता इत्यादि[1]।

अकर्मक धातुओं के योग में देशवाचक (कुरु आदि) कालवाचक (मास आदि) भाववाचक (गोदोह आदि) तथा गन्तव्य मार्गवाचक (क्रोश आदि) शब्दों से कर्म संज्ञा होती है[2]। जैसे-कुरून्, पाञ्चालान् वा स्वपिति; मासं, वर्षं वा आस्ते; गोदोहम् तिष्ठति; क्रोशं, योजनं वा आस्ते इत्यादि।

"अधिशीङ्स्थासां कर्म" (पा० सू०)

'अधि' (उपसर्ग) पूर्वक शी, स्था और आस् धातुओं के आधार

---

१. गौणे कर्मणि दुह्यादेः, प्रधाने नीहृकृष्वहाम्...लादयो मताः ॥

२. 'अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम्'। [का० वा०]

की कर्मसंज्ञा होती है। जैसे—शय्यामधिशेते, आसनमधितिष्ठ अध्यास्ते वा।

"अभिनिविशश्च" (पा० सू०)

'अभिनि' (पूर्वक) विश् धातु का आधार कर्मसंज्ञक होता जैसे—अभिनिविशते सन्मार्गम्। कहीं इससे कर्मसंज्ञा नहीं भी हो है। जैसे—अभिनिविशते पापे, पापे अभिनिवेशः। यहाँ अधिकरण सप्तमी हुई है।

नोट—यदि विश् धातु से पूर्व 'अभि-नि' सम्मिलित होकर न रहेगा तो कर्म संज्ञा नहीं होगी। जैसे-कुशः पदे निविशते।

"उपान्यध्याङ्वसः" (पा० सू०)

उप, अनु, अधि, आङ्, इनमें से किसी उपसर्ग के आगे वस् धा के रहने पर उसके आधार की कर्मसंज्ञा होती है। जैसे—ह वैकुण्ठम् उपवसति, अनुवसति, अधिवसति, आवसति वा।

नोट—यदि उपपूर्वक वस् धातु का अर्थ उपवास करना (निराह रहना) होगा तो कर्मसंज्ञा नहीं होगी। जैसे—मुनिः वने उप-वसति

उभयतः, सर्वतः, धिक्, उपर्युपरि, अध्यधि, अधोऽधः, अभि परितः, समया, निकषा, हा, प्रति, अन्तरा तथा अन्तरेण शब्दों योग में द्वितीया विभक्ति होती है।[1] जैसे-उभयतः (दोनों तरफ कृष्णं गोपाः, सर्वतः (चारों तरफ) गुरुं छात्राः, धिक् कृष्णाभक्त उपर्युपरि लोकं हरिः, अध्यधि लोकं हरिः, अधोऽधः लोकं हरि अभितः शिक्षकं छात्राः, परितश्च हरिं सुराः, वर्तते समया (समीपे ग्रामम्, निकषा (समीपे) लङ्काम् हनिष्यति, हा मनुजं कृष्णाभक्त

---

१. उभसर्वतसोः कार्याधिगुपर्यादिषु त्रिषु।
द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते॥
'अभितः परितः समया-निकषा-हा-प्रति-योगेऽपि'॥
"अन्तरान्तरेणयुक्ते"। (पा० सू०)

बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्, अन्तरा (मध्ये) त्वां मां च कृष्णः, किं सुखं कृष्णम् अन्तरेण (विना) इत्यादि ।[1]

"काध्वनोरत्यन्तसंयोगे" (पा० सू०)

गुण क्रिया या द्रव से कालवाचक या अध्व (मार्ग) वाचक शब्द का निरन्तर (अविच्छिन्न) संयोग रहने पर कालवाचक और अध्ववाचक शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है । जैसे-गुण के साथ अत्यन्त संयोग में—मासं कल्याणवान्, क्रोशं कुटिलो गिरिः; क्रिया के साथ निरन्तर में—मासम् अधीते, क्रोशम् अधीते; द्रव्य के साथ अविच्छिन्न संयोग में—मासं गुडधानाः, क्रोशं सस्यानि सन्ति इत्यादि । किन्तु अत्यन्त संयोग नहीं रहने पर 'मासस्य द्विरधीते; । 'क्रोशस्य एकदेशे पर्वतः' आदि ।

"कर्मप्रवचनीयाः" (पा० सू०)

कर्म (क्रियां) प्रोक्तवन्तः इति कर्मप्रवचनीयाः । कुछ अनु, प्रति, परि, अपि आदि अव्यय हैं जो तत्काल में क्रिया को नहीं बतलाते हैं किन्तु सुबन्तपदों के साथ मिलकर अर्थविशेष को बतलाते हैं उन्हें कर्मप्रवचनीय कहते हैं, वे उपसर्ग नहीं हैं । इन कर्मप्रवचनीयों के योग में भी द्वितीया विभक्ति होती है ।

लक्षण, तृतीयार्थ तथा हीनार्थ द्योत्य रहने पर 'अनु' कर्म प्रवचनीय है[2] और उसके योग में द्वितीया होती है । जैसे--जपमनु प्रावर्षत् (जप करने के बाद वृष्टि), नदीम् अनु सेना सम्बद्धा (नदी के साथ सेना), अनु हरिं सुराः (हरि से हीन अर्थात् अधम श्रेणी के सुर) इत्यादि ।

---

१. उपर्यादिषु सामीप्ये द्विरुक्तेषु द्वितीया । अर्थात् उपरि, अधि तथा अधः शब्दों में जहाँ "उपर्यध्यधसः सामीप्ये" (पा० सू०) से द्वित्व होगा वहीं द्वितीया विभक्ति होगी । जहाँ वीप्सा में "नित्यवीप्सयोः" (पा० सू०) से द्वित्व होगा वहाँ षष्ठी हो जायगी । जैसे—'उपर्युपरि बुद्धीनां चरन्तीश्वरबुद्धयः' । 'उपर्युपरि सर्वेषामादित्य इव तेजसा' इत्यादि ।

२. "अनुर्लक्षणे" "तृतीयार्थे" "हीने" । (पा० सू०)

हीन और अधिक अर्थ में 'उप' कर्मप्रवचनीय होता है।[1] किन्तु अधिक अर्थ में उसके साथ सप्तमी होती है, जिसका विवेचन आगे किया जायगा। हीनार्थ में--उपहरिं देवाः (हरि से देव न्यून हैं।)

लक्षण, इत्थंभूताख्यान, भाग तथा वीप्सा अर्थों में प्रति परि तथा अनु, भाग से अतिरिक्त पूर्वोक्त तीनों अर्थों में 'अभि', एवं पदार्थ सम्भावना, अन्ववसर्ग, गर्हा तथा समुच्चय अर्थों में 'अपि' कर्मप्रवचनीय-संज्ञक होते हैं[2] जैसे--लक्षण में 'वृक्षं प्रति, परि, अनु वा विद्योतते विद्युत्'। इत्थंभूताख्यान में 'भक्तो विष्णुं प्रति, परि, अनु वा'। भाग में 'लक्ष्मीः हरिं प्रति, परि, अनु वा'। वीप्सा में 'वृक्षं वृक्षं प्रति परि, अनु वा' इत्यादि।

अतिक्रमण तथा पूजा अर्थ में 'अति' कर्मप्रवचनीय-संज्ञक होता है।[3] जैसे--अति देवान् कृष्णः।

"गति-बुद्धि-प्रत्यवसानार्थ-शब्दकर्माकर्मकाणाम् अणिकर्ता सणौ"
(पा० सू०

गत्यर्थक, बुद्धचर्थक, प्रत्यवसानार्थक (भक्षणार्थक), शब्दकर्मक तथा अकर्मक धातुओं के अण्यन्तावस्था के कर्ता की ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा होती है। अर्थात् णिच् करने से पूर्व शुद्ध धातु के कर्ता, जो णिच् करने पर प्रयोज्य कर्ता होते हैं, इन पूर्वोक्त अर्थों में कर्म हो जाते हैं। जैसे गमनार्थक धातु--

उमेशः गृहं गच्छति, याति, व्रजति; रमेशः उमेशं गृहं गमयति यापयति, व्राजयति, आदि। बुद्धचर्थक धातु--शिष्यः धर्मं बुध्यते जानाति, वेत्ति; गुरुः शिष्यम् धर्मं बोधयति, ज्ञापयति, वेदयति आदि

१. "उपोऽधिके च"। (पा० सू०)

२. "लक्षणेत्थंभूताख्यान-भाग-वीप्सासु प्रतिपर्यनवः"। "अभिरभागे" "अपिः पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु" (पा० सू०)

३. "अतिरतिक्रमणे च"। (पा० सू०)

प्रत्यवसानार्थक धातु--शिशुः अन्नं भुङ्क्ते, अश्नाति; माता शिशुम् अन्नं भोजयति, आशयति आदि। शब्दकर्मक धातु छात्रः वेदम् अधीते, पठति; गुरुः छात्रं वेदम् अध्यापयति, पाठयति आदि। अकर्मक धातु-बालकः आस्ते, तिष्ठति, शेते, हसति, निद्राति; माता बालकम् आसयति, स्थापयति, शाययति, हासयति, निद्रापयति इत्यादि।

नोट--१. पूर्वोक्त पाँच ही अर्थों में प्रयोज्य कर्ता की कर्म संज्ञा होती है। इनसे भिन्न अर्थों में प्रयोज्य कर्ता से तृतीया होती है। जैसे पाचकः ओदनं पचति, प्रभुः पाचकेन ओदनं पाचयति इत्यादि।

२. अण्यन्त का कर्ता ही ण्यन्त में कर्म होता है। ण्यन्त का कर्ता फिर ण्यन्त में कर्मसंज्ञक नहीं होता है। जैसे—देवेन्द्रः माधवं ग्रामं गमयति, नरेन्द्रः देवेन्द्रेण माधवं ग्रामं गमयति।

गत्यर्थक धातुओं में ण्यन्त नी और वह् धातु का प्रयोज्य कर्ता कर्मसंज्ञक नहीं होता है।[1] जैसे--भृत्यः भारं नयति, वहति वा, प्रभु भृत्येन भारं नाययति वाहयति वा। किन्तु ण्यन्त वह् धातु का प्रयोजक कर्ता नियन्ता (सारथि) हो तो प्रयोज्य से कर्म संज्ञा होती ही है।[2] जैसे—सूतः वाहान् रथं वाहयति।

भक्षणार्थक धातुओं में ण्यन्त अद्, खाद् तथा अहिंसार्थक भक्ष् के प्रयोज्य कर्ता से कर्म संज्ञा नहीं होती है।[3] जैसे—माता बालकेन अन्नम् आदयति, खादयति, भक्षयति वा। किन्तु हालिकः भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम्। यहाँ हिंसार्थक होने से कर्म संज्ञा होती ही है।

जल्प्, भाष् आदि तथा दृश धातु के अण्यन्त कर्ता ण्यन्त में कर्म-संज्ञक होता है।[4] जैसे—पुत्रो धर्मं जल्पति, भाषते वा; पिता पुत्रं धर्मं जल्पयति, भाषयति वा। भक्ताः हरिं पश्यन्ति, गुरुः भक्तान् हरिं दर्शयति।

---

१. 'नीवह्योर्न'।

२. 'नियन्तृ-कर्तृकस्य वहेरनिषेधः'। (का० वा०)

३. 'आदिखाद्योर्न' 'भक्षेरहिंसार्थस्य न'। (का० वा०)

४. 'जल्पतिप्रभृतीनामुपसंख्यानम्। 'दृशेश्च'। (का० वा०)

शब्दाययति (शब्द + क्यङ् + णिच्=शब्दाययति शब्दं करोति ।) का प्रयोज्य कर्ता कर्म संज्ञक नहीं होता है। जैसे—देवदत्तः शब्दायते, यज्ञदत्तः देवदत्तेन शब्दाययति ।

ण्यन्त हृ और कृधातु तथा आत्मनेपदी ण्यन्त दृश् धातु एवं अभिपूर्वक वद् धातु के अण्यन्त कर्ता णिच् करने पर कर्म विकल्प से होता है।[1] जैसे—भृत्यः कटं हरति, करोति वा, तं प्रेरयति भृत्यं, भृत्येन वा कटं हारयति कारयति वा। भक्तः देवम् अभिवदति, पश्यति वा तं गुरुः प्रेरयति इति गुरुः भक्तं, भक्तेन वा देवम् अभिवादयते, दर्शयते वा।

नोट—ण्यन्त धातुओं से कर्म में प्रत्यय करने पर प्रयोज्य कर्म उक्त होता है।[2] अतः उससे द्वितीया विभक्ति नहीं होती है।

जैसे—सूतः वाहान् रथं वाहयति—कर्तृवाच्य,

सूतेन वाहाः रथं वाह्यन्ते—कर्मवाच्य ।

क्रियाविशेषण से द्वितीया विभक्ति होती है। क्रियाविशेषण सदा नपुंसक और एकवचनान्त होता है। जैसे—मधुरं गायति, सुन्दरं पठति, शीघ्रं गच्छति इत्यादि ।

तृतीया विभक्ति

(Third case affix)

कर्तृकारक (Nominative Case)

"स्वतन्त्रः कर्ता" (पा० सू०)

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितः अर्थः 'कर्ता' स्यात् । किसी (धातुवाच्य) व्यापार में स्वतन्त्र (प्रधान) रूप से विवक्षित जो अर्थ उसे

---

१. "हृक्रोरन्यतरस्याम्" (पा० सू०) 'आभवादि-दृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्'। (का० वा०)

(बुद्धिभक्षार्थयोः शब्द-कर्मकाणां निजेच्छया ।)

२. 'प्रयोज्यकर्मण्यन्येषां ण्यन्तानां लादयो मताः'।

'कर्ता' कहते हैं। या यों कहिये कि 'धात्वर्थव्यापाराश्रयः स्वतन्त्रः', अर्थात् धात्वर्थ व्यापार की विवक्षा जिसमें की जाय उस व्यापार का आश्रय स्वतन्त्र कहलाता है, वही कर्ता है। यह कर्ता जब कर्तृवाच्य में उक्त रहता है तब उससे प्रथमा और जब कर्मवाच्य या भाववाच्य में अनुक्त रहता है तब उससे तृतीया विभक्ति होती है। जैसे—पाचकः काष्ठैः ओदनः पचति। पाचकेन ओदनः पच्यते इत्यादि। किन्तु स्वातन्त्र्य की विवक्षा काष्ठ में की जाय तो 'काष्ठानि पचन्ति' ऐसा भी प्रयोग होता है; क्योंकि 'विवक्षावशात् कारकाणि भवन्ति'।

करण कारक (Instrumental case)

"साधकतमं करणम्" (पा० सू०)

क्रिया-सिद्धौ यत् प्रकृष्टोपकारकं तत् करणसंज्ञं स्यात्।

क्रिया की निष्पत्ति में प्रकृष्ट उपकारक को करण कहते हैं।

अर्थात् क्रिया-फल की निष्पत्ति जिस व्यापार के अव्यवहित उत्तर काल में हो उस साधकतम को करण कहते हैं[1]।

कारकान्तर में कर्ता की विवक्षा की तरह करण कारक की भी विवक्षा की जा सकती है। जैसे—'स्थाल्यां' पचति और 'स्थाल्या' पचति (बटलोई में या बटलोई से पकाता है)।

"कर्तृकरणयोस्तृतीया" (पा० सू०)

अनुक्त कर्ता और करण से तृतीया विभक्ति होती है। जैसे—रामेण बाणेन वाली हतः। यहाँ राम से अनुक्त कर्ता में और बाण से अनुक्त करण में तृतीया हुई है। किन्तु उक्त कर्ता में—हरिः करोति, पाचकः, शाब्दिकः इत्यादि। यहाँ 'ति' 'ण्वुल्' और 'ठक्' प्रत्ययों से कर्ता उक्त है अतः तृतीया नहीं होती है। ऐसे ही (कृतं विश्वं येन) 'कृतविश्वः' प्रजापतिः में समास से कर्त्ता उक्त होने से तथा (जीवन्ति अनेन) 'जीवनम्' जलम् (करणे ल्युट्) यहाँ भी करण उक्त होने से तृतीया नहीं होती है।

---

१. क्रियायाः फलनिष्पत्तिर्यद् व्यापारादनन्तरम्।
विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत् तदा स्मृतम्॥

गम्यमानापि क्रिया कारक-विभक्तौ प्रयोजिका ।

केवल श्रूयमाण ही नहीं गम्यमान (ध्वनित) भी व्यापार रहने पर कारक विभक्तियाँ होती हैं। जैसे—अलं श्रमेण (श्रमेण साध्य नास्ति) यहाँ गम्यमान साधन क्रिया के प्रति 'श्रम' करण है। शतेन शतेन वत्सान् पाययति पयः । यहाँ 'परिच्छिद्य' (छाँट करके) यह क्रिया गम्यमान है । उसके प्रति 'शत' करण है ।

"प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्" (का० वा०)

प्रकृत्यादिगण पठित प्रकृति, प्राय, गोत्र आदि शब्दों से तृतीया विभक्ति होती है। जैसे—प्रकृत्या सुन्दरः, प्रायेण याज्ञिकः, गोत्रेण काश्यपः, नाम्ना दुर्वासाः, चरितेन शान्तः, धान्येन धनवान्, सुखेन याति, दुःखेन गच्छति, समेन एति, विषमेण एति, सेटकेन, द्विद्रोणेन वा धान्यं क्रीणाति इत्यादि ।

"दिवः कर्म च" (पा० सू०)

'दिव' धातु के साधकतम कारक से कर्म संज्ञा और करण संज्ञा होती है। जैसे—अक्षान् दीव्यति और अक्षैः दीव्यति ।

"अपवर्गे तृतीया" (पा० सू०)

अपवर्ग (फल-प्राप्ति) रहने पर अत्यन्त संयोग में कालवाचक और मार्गवाचक शब्दों से तृतीया विभक्ति होती है। अपवर्ग अर्थ में यह "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" का अपवाद है। जैसे—दिनेन, क्रोशेन वा व्याकरणमधीतम् । यहाँ अध्ययन से ग्रहण किया ऐसा अर्थ होता है। जहाँ अपवर्ग नहीं है वहाँ दिनं, क्रोशं वा व्याकरणमधीतम् किन्तु नायातमित्यर्थः ।

"सहयुक्तेऽप्रधाने"

सह, साकं, सार्द्धं, समम् आदि शब्दों के योग रहने पर अप्रधान में तृतीया विभक्ति होती है। क्रिया के साथ जिसका शाब्दिक या साक्षात् सम्बन्ध होगा वह प्रधान है जिसका आर्थिक या परम्परया सम्बन्ध होगा, वह अप्रधान है। इसी अप्रधान से तृतीया विभक्ति होती है। जैसे—छात्रेण सह गुरुः आगच्छति । गुरुणा साकं छात्राः गच्छन्ति इत्यादि ।

नोट—सह आदि शब्द के अभाव में भी सहार्थ रहने पर तृतीया होती है। जैसे—'पिता मात्रा' 'वृद्धो यूना' इत्यादि। ये सूत्रकार के प्रयोग इसमें प्रमाण हैं। अतः मात्रा आगता दुहिता इत्यादि में भी तृतीया होती है।

"येनाङ्गविकारः" (पा० सू०)

येन अङ्गेन विकृतेन अङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततस्तृतीया स्यात्। अङ्गानि सन्ति अस्य इति अङ्गम् (शरीरम्)। यहाँ पर अङ्ग शब्द से मत्वर्थीय 'अच्' प्रत्यय हुआ है। अङ्गस्य विकारः अङ्गविकारः। अर्थात् जिस अङ्ग के विकृत होने पर अङ्गी में विकार मालूम हो उस अङ्गवाचक शब्द से तृतीया होती है। जैसे—नेत्रेण काणः, पादेन खञ्जः, उदरेण तुन्दिलः, पृष्ठेन कुब्जः आदि। अङ्गी का विचार यदि नहीं होगा तो तृतीया नहीं होगी। जैसे—'अक्षि काणम् अस्य' यहाँ अक्षि में (अङ्ग में) विकार है न कि अङ्गी में।

"इत्थम्भूतलक्षणे" (पा० सू०)

अयं प्रकारः इत्थं, तं भूतः = प्राप्तः (भूप्राप्तौ चौरादिकः ततः कर्तरि क्तः) इत्थम्भूतः, तस्य लक्षणे अर्थात् ज्ञापके तृतीया स्यात्। अर्थात् किसी प्रकार-विशेष को जिसने प्राप्त किया है उसके ज्ञापक से तृतीया होती है या वह ऐसा है यह जिससे जान पड़े उसके बोधक शब्द से तृतीया होती है। जैसे—जटाभिः तापसः, दण्डेन सन्यासी आदि। यहाँ तापसत्व रूप प्रकार विशेष को तापस ने प्राप्त किया है, उसके लक्षण (ज्ञापक) जटा से तृतीया विभक्ति हुई है।

सम्पूर्वक 'ज्ञा' धातु के कर्म से तृतीया विभक्ति विकल्प से होती है।[1]

जैसे--पित्रा संजानीते, विकल्प में पितरं संजानीते।

"हेतौ" (पा० सू०)

हेतु, अर्थात् कारण के अर्थ में तृतीया विभक्ति होती है। करण

१. "संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि"। (पा० सू०)

और हेतु में निम्नलिखित भेद हैं, अतः 'करणे तृतीया' से पृथक् 'हेतौ तृतीया' का विधान किया गया है।

(१) केवल क्रिया के जनक में करणत्व रहता है, किन्तु द्रव्य गुण और क्रिया तीनों के जनक में हेतुत्व रहता है[1]। या यों कहिए कि 'करण' केवल क्रिया का उत्पादक है, किन्तु 'हेतु' द्रव्य, गुण और क्रिया तीनों का।

(२) करणत्व केवल व्यापार वाले वस्तुओं में नियमित रूप से रहता है, किन्तु हेतुत्व व्यापार वाले और बिना व्यापार वाले पदार्थ में भी रहता है।

(३) करण कर्त्ता के अधीन होता है। (कर्त्रधीनं करणम्) किन्तु हेतु के अधीन कर्त्ता होता है (हेत्वधीनः कर्त्ता)। द्रव्य के प्रति हेतु का उदाहरण—दण्डेन घटः। यहाँ घट रूप द्रव्य का जनक दण्ड है जो व्यापारवान् होते हुए भी क्रिया का जनक नहीं है। अतः दण्ड करण नहीं है।

गुण के प्रति हेतु यथा—पुण्येन गौरवर्णः। यहाँ गौरवर्ण रूप गुण का जनक पुण्य है, जो क्रिया के जनक न होने के कारण करण नहीं है। क्रिया के प्रति हेतु, यथा—पुण्येन दृष्टो हरिः। यहाँ हरि दर्शन रूप क्रियाजनक पुण्य है, जिसमें व्यापार न होने के कारण करणत्व नहीं है।

फल (उद्देश्य) भी हेतु होता है। जैसे—अध्ययनेन वसति। यहाँ वास का फल अध्ययन है उससे हेतु में तृतीया हुई है।

अशिष्ट व्यवहार में 'संयच्छते' के प्रयोग रहने पर चतुर्थी के अर्थ में तृतीया होती है। जैसे—दास्या संयच्छते कामुकः, किन्तु शिष्ट व्यवहार में भार्यायै संयच्छति, चतुर्थी होती है।

---

१. द्रव्यगुणक्रियानिरूपितं निर्व्यापारसव्यापारवृत्ति च यत् तत् हेतुत्वम् क्रियामात्रनिरूपितं व्यापारवद्वृत्ति च यत् तत् करणत्वम्।

चतुर्थी विभक्ति

(Fourth case affix)

सम्प्रदानकारक (Dative case)

"कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्" (पा० सू०)

सम्यक् प्रदीयते, अस्मै इति सम्प्रदानम्। कर्त्ता दानस्य कर्मणा यम् अभिप्रैति सम्बद्धुम् ईप्सति स सम्प्रदानसंज्ञः स्यात्। अर्थात् कर्त्ता दान-क्रिया के कर्म से जिसको सम्बद्ध करना चाहता है उसे सम्प्रदान कहते हैं। सम्प्रदान में "चतुर्थी सम्प्रदाने" (पा० सू०) से चतुर्थी होती है। जैसे—दरिद्राय धनं ददाति। चतुर्थी भी अनुक्त ही सम्प्रदान में होती है। इसलिये दीयते अस्मै इति दानीयः विप्रः। यहाँ अनीयर् प्रत्यय से सम्प्रदान उक्त है, अतः विप्र से चतुर्थी नहीं होती है।

नोट—'खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटां ददाति' इस भाष्य-प्रयोग से यहाँ 'दा' धातु के मुख्यार्थ में ही आग्रह नहीं है। इसलिए रजकाय वस्त्रं ददाति और शेषत्व विवक्षा में रजकस्य वस्त्रं ददाति ऐसा भी प्रयोग होता है।

"क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्' (का० वा०)

(अकर्मक) क्रिया के उद्देश्य भी सम्प्रदान होते हैं। जैसे—पत्यै शेते, युद्धाय संनह्यते इत्यादि।

यदि एक ही वाक्य में यज् धातु के कर्म और सम्प्रदान रहें तो कर्म से करण संज्ञा और सम्प्रदान से कर्म संज्ञा हो जाती है[1]। जैसे पशुना रुद्रं यजते, पशुं रुद्राय ददाति इत्यर्थः।

"रुच्यर्थानां प्रीयमाणः"

रुचिः अर्थो येषां ते रुच्यर्थाः, तेषां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणः (प्रीत्याश्रयः) सम्प्रदानं स्यात्। अर्थात् रुच्यर्थक धातुओं के योग

---

१. कर्मणः करणसंज्ञा सम्प्रदानस्य च कर्मसंज्ञा। (का० वा०)

में प्रीयमाण (प्रीति का आश्रय अर्थात् वह व्यक्ति जिसे रुचि प्रीति होती है) सम्प्रदानसंज्ञक होता है।

जैसे—हरये रोचते भक्तिः, साधवे रोचते धर्मः, बालाय स्व पूप इत्यादि।

नोट—'रुचि का अर्थ है अन्यकर्तृक अभिलाष, अर्थात् सम सम्बन्ध से जो प्रीति का आश्रय है उससे अन्यकर्तृक अभिलाष लिए 'आदित्यो रोचते दिक्षु' यहाँ दोप्त्यर्थ होने के कारण और ' भक्तिम् अभिलषति' यहाँ प्रीत्याश्रयकर्तृक ही अभिलाष होने कारण 'आदित्य' तथा 'हरि' की सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती है।

श्लाघ् (प्रशंसा करना), ह्नु (छिपाना), स्था (ठहरना तथा शप् (उपालम्भ करना) धातुओं के योग में जिसकी प्र आदि की जाय उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है।[1] जैसे—गोपी का कृष्णाय श्लाघते, ह्नुते, तिष्ठते, शपते वा। किन्तु राजानं श्ला मन्त्री यहाँ चतुर्थी नहीं हुई।

धारि (णिजन्त धृ) धातु के प्रयोग में उत्तमर्ण (जो ऋण है) सम्प्रदानसंज्ञक होता है।[2] जैसे—भक्ताय धारयति मोक्षं ह चैत्राय शतं धारयति मैत्रः। त्वं मह्यं सहस्त्रं धारयसि इत्यादि।

स्पृह् धातु के प्रयोग में ईप्सित (जिसकी इच्छा की जा सम्प्रदानसंज्ञक होता है। जैसे—पुष्पेभ्यः स्पृहयति, धनाय स्पृह आदि।

नोट—ईप्सिततम विवक्षा में कर्मसंज्ञा ही होती है। जैसे पुष्पाणि स्पृहयति।

क्रोध अर्थवाले, द्रोह (अपकार) अर्थ वाले, ईर्ष्या (अक्षम अर्थ वाले तथा असूया (गुण में दोषारोप) अर्थ वाले धातुओं प्रयोग में जिसके प्रति क्रोध, द्रोह आदि हो उसकी सम्प्रदान सं

---

१. "श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः" (पा० सू०)

२. "धारेरुत्तमर्णः" (पा० सू०)

होती है[1]। जैसे—भृत्याय क्रुध्यति, शत्रवे द्रुह्यति, प्रतिवेशिने ईर्ष्यति, प्रतिद्वन्द्विने असूयति इत्यादि। किन्तु भार्याम् ईर्ष्यति (न एनाम् अन्यः अद्राक्षीत्) यहाँ भार्या के प्रति कोप न होने के कारण उसकी सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती है।

यदि क्रुध् और द्रुह् धातु उपसर्गपूर्वक हो तो जिसके प्रति कोप किया जाय उसकी कर्मसंज्ञा होती है।[2] जैसे—क्रूरम् अभिक्रुध्यति, शत्रुम् अभिद्रुह्यति आदि।

राध् और ईक्ष् धातु यदि अदृष्टविषयक शुभ और अशुभ पर्यालोचन के अर्थ में हो तो जिसके विषय में वह विचार किया जाय उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है।[3] जैसे—गर्गः कृष्णाय राध्यति, ईक्षते वा। ज्योतिर्वित् शिशवे राध्यति, देवदत्ताय ईक्षते।

प्रतिज्ञार्थक 'प्रति' या 'आ' पूर्वक 'श्रु' धातु के योग में उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है जो दूसरे को देने के लिए प्रवृत्त करता है[4]। जैसे—दीनाय धनं प्रति शृणोति, छात्राय साहाय्यम् आशृणोति इत्यादि।

'अनु' या 'प्रति' पूर्वक 'गृ' धातु के योग में उसके पूर्व व्यापार के कर्तृभूत कारक की सम्प्रदान संज्ञा होती है[5]। जैसे—अध्वर्युः होत्रे अनुगृणाति, प्रतिगृणाति वा। अर्थात् होता प्रथमं स्तौति तम् अध्वर्युः प्रोत्साहयति।

वेतन आदि के द्वारा नियतकाल तक किसी को कार्य के लिए रखना 'परिक्रयण' कहलाता है। उसमें जिससे परिक्रयण किया जाय उसकी सम्प्रदान संज्ञा विकल्प से होती है[6]। विकल्प में करण में तृतीया विभक्ति होती है। जैसे—शतेन शताय वा परिक्रीतः भृत्यः।

---

१. "क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः"। (पा० सू०)
२. "क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म"। (पा० सू०)
३. "राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः"। (पा० सू०)
४. "प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्त्ता"। (पा० सू०)
५. "अनुप्रतिगृणश्च"। (पा० सू०)
६. "परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्"। (पा० सू०)

'तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या' (का० वा०)

तस्मै कार्याय इदं तदर्थम्=कारणम्। तदर्थस्य भावः तादर्थ्यं तस्मिन् चतुर्थी भवति। अर्थात् जो वस्तु जिसके लिए हो उस (उद्देश्य या कार्य से) चतुर्थी विभक्ति होती है जैसे—बालक मधुरम्। कुण्डलाय कनकम्। यूपाय दारु। काव्यं यशसे भव मुक्तये हरिं भजति इत्यादि।

'क्लृपि सम्पद्यमाने च' (का० वा०)

क्लृप्त्यर्थक (उत्पत्त्यर्थक) धातुओं के योग में उत्पद्यमान से चतु होती है। जैसे—भक्तिः ज्ञानाय कल्पते ज्ञानं सुखाय सम्पद्यते, ध स्वर्गाय जायते, अधर्मः नरकाय भवति, दुग्धं दध्ने परिणमते इत्यादि

'उत्पातेन ज्ञापिते च' (का० वा०)

अशुभसूचक आकस्मिक भूत-विकार को उत्पात कहते हैं ऐसे उत्पात से सूचित अर्थों में विद्यमान शब्द से चतुर्थी होती है जैसे—वाताय कपिला विद्युत्, आतपाय अतिलोहिनी, पीता वर्ष विज्ञेया, दुर्भिक्षाय सिता भवेत्।

हित शब्द के योग में चतुर्थी होती है। जैसे—छात्राय हितम्।

"क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" (पा० सू०)

क्रिया अर्थः (प्रयोजनं) यस्याः सा क्रियार्था, सा क्रियार्था क्रि उपपदं यस्य स क्रियार्थोपपदः तस्य स्थानिनः (अप्रयुज्यमानस्य) तुमु कर्मणि चतुर्थी। अर्थात् किसी क्रिया के निमित्त (जो) क्रिया (वह यदि उपपद हो तो अप्रयुज्यमान (गम्यमान) तुमुन् प्रत्ययान्त कर्म से चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे—फलेभ्यो याति, अर्थ फलानि आहर्तुं याति। यहाँ फलाहरण क्रिया के निमित्त य (गमन) क्रिया है। उसके उपपद रहने से अप्रयुज्यमान (आहर्तुम् का कर्म (फल) से चतुर्थी हुई है। ऐसे ही नृसिंहम् अनुकूलयितुम् मशकाय मशहरी (मशकं निवारयितुमित्यर्थः) आतपाय छ (आतपं निवारयितुम् इत्यर्थः)। पिपासायै पानीयम् (पिपा

निवारयितुमित्यर्थः) ऐसे ही स्वयंभुवे नमस्कृत्य इत्यादि समझना चाहिए ।

"तुमर्थाच्च भाववचनात्" (पा० सू०)

यदि 'तुमुन्' प्रत्यय के अर्थ में विहित भावार्थक 'घञ्' आदि प्रत्यय हों तो भाव प्रत्ययान्त शब्दों से चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे—यागाय याति, यष्टुं याति इत्यर्थः। त्यागाय गृह्णाति, भोजनाय गच्छति इत्यादि ।

"नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च" (पा० सू०)

नमः, स्वस्ति (मङ्गल सूचक), स्वाहा (देवता के उद्देश्य से त्याग सूचक), स्वधा (पितर के उद्देश्य से त्याग सूचक), अलम् (पर्याप्त्यर्थक) तथा वषट् (इन्द्र के उद्देश्य से त्याग सूचक) अव्ययों के योग मेंचतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे—कृष्णाय नमः, प्रजाभ्यः स्वस्ति, अग्नये स्वाहा, पितृभ्यः स्वधा, दैत्येभ्यः अलम् हरिः, इन्द्राय वषट् इत्यादि। किन्तु 'देवान् नमस्करोति'। इसका कारण कारक प्रकरण के आरम्भ में देखना चाहिए ।

नोट—१. 'अलम्' के अर्थ में वर्तमान प्रभुः, समर्थः, शक्तः, आदि शब्दों के योग में भी चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे—कृष्णः कंसाय प्रभुः समर्थः शक्तः इत्यादि ।

२. प्रभु, समर्थ आदि शब्दों के योग में षष्ठी भी होती है। जैसे—प्रभुः बुभूषुः भुवनत्रयस्य, प्रभवति निजस्य कन्याजनस्य महाराजः इत्यादि ।

३. यदि 'स्वस्ति' आशीर्वाद अर्थ में हो तो भी षष्ठी के स्थान में चतुर्थी ही होती है। जैसे—प्रजाभ्यः स्वस्ति भूयात् इत्यादि ।

"मन्य कर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु" (पा० सू०)

'नौ-काकान्न-शुक-शृगाल-वर्ज्येष्विति वाच्यम्' (का० वा०)

नौ, काक, अन्न, शुक तथा शृगाल शब्दों को छोड़कर दिवादिगणीय मन् धातु के अनादर (के) द्योतक कर्म से तिरस्कार अर्थ में

विकल्प से चतुर्थी होती है। यथा—न त्वां तृणाय मन्ये तृणं वा, त्वां शुने मन्ये श्वानं वा इत्यादि। किन्तु न त्वां नावम्, अन्नं, काक शुकं, श्रृगालं वा मन्ये यहाँ चतुर्थी नहीं होती है।

नोट—'मन' धातु यदि तनादि गणीय होगा तो चतुर्थी नहीं हो जैसे—न त्वां तृणं मन्ये।

"गत्यर्थकर्मणि द्वितीया चतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि" (पा० सू०

शारीरिक व्यापार रहने पर गत्यर्थक धातुओं के अध्व आदि शब्दों से भिन्न कर्म से द्वितीया और चतुर्थी विभक्तियाँ हो हैं। जैसे—ग्रामं, ग्रामाय वा गच्छति। किन्तु शारीरिक व्याप रूप चेष्टा न रहने पर 'मनसा हरिं व्रजति'। यहाँ द्वितीया औ चतुर्थी नहीं होगी। अध्वानं, मार्गं, पन्थानं वा गच्छति। यहाँ क अध्व से भिन्न नहीं है, अतः चतुर्थी नहीं होगी केवल द्वितीया होगी।

नोट—जब मार्ग गन्ता से अधिष्ठित होगा, अर्थात् जानेवाले ज रास्ते से चलते रहेंगे, तब ही चतुर्थी नहीं होगी, किन्तु जहाँ रास्त भूल जाने के कारण आदमी उत्पथ से सुपथ पर आना चाहता है व चतुर्थी होती ही है। जैसे—उत्पथेन (गन्तुमशक्तः) पथे गच्छति अर्थात् उत्पथ से गन्तव्य स्थल पर जाने में असमर्थ व्यक्ति गन्तव्य म का अनुसरण करता है।

पञ्चमी विभक्ति

(Fifth case affix)

अपादान कारक (Ablative Case)

"ध्रुवमपायेऽपादानम्" (पा० सू०)

अपायः=विश्लेषः, वियोगः, तस्मिन् अपाये ध्रुवम्—अवधि कारकम् अपादानसंज्ञकं भवति। अर्थात् विश्लेष रहने पर अव भूत कारक की अपादान संज्ञा होती है। यहाँ 'ध्रुव' का अ

केवल स्थिर ही नहीं किन्तु 'अवधिभूत' करना चाहिए। वह चाहे अचल हो या चल हो या उदासीन, सभी प्रकार के अवधिभूत ध्रुव हैं[1]। अपादान में "अपादाने पञ्चमी" (पा० सू०) से पञ्चमी होती है। जैसे—वृक्षात् पत्रं पतति, पर्वतात् पतति, धावतः अश्वात् पतति, पर्वतात् पतितः अश्वात् पतति, परस्परात् मेषौ अपसरतः, मेषात् मेषः अपसरति इत्यादि। किन्तु ग्रामादायाति शकटेन यहाँ शकट ध्रुव नहीं है, और वृक्षस्य पत्रं पतति यहाँ वृक्ष कारक नहीं है, अतः अपादान में पञ्चमी नहीं होती है। पञ्चमी भी अनुक्त ही अपादान में होती है। इसलिए विभेति अस्मादिति भीमः पुरुषः। यहाँ 'म' प्रत्यय से अपादान उक्त है। अतः पञ्चमी नहीं होती है।

"जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्" (का० वा०)

जुगुप्सा (कुत्सा-निन्दा), विराम (अप्रवृत्ति) तथा प्रमाद (अनवधानता) इन अर्थों में जो धातु है उनके योग में अपादान संज्ञा होती है। जैसे—पापात् जुगुप्सते; अधर्मात् विरमति; धर्मात् प्रमाद्यति, स्वाधिकारात् प्रमत्तः इत्यादि।

"भीत्रार्थानां भयहेतुः" (पा० सू०)

भयार्थक और त्राणार्थक धातुओं के योग में भय के हेतु को अपादान कहते हैं। यथा—चोराद् बिभेति, चोरात् त्रायते, त्रायते महतो भयात् इत्यादि।

"पराजेरसोढः" (पा० सू०)

'परा' पूर्वक 'जि' धातु के प्रयोग में असह्य अर्थ की (जिसका सहन न हो सके उसकी) अपादान संज्ञा होती है। जैसे—अध्ययनात् पराजयते, पातात् पराजयते, अर्थात् ग्लायति। असह्य अर्थ न होने पर 'शत्रून् पराजयते' अर्थात् अभिभवति।

---

१. अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाऽचलम्।
ध्रुवमेवातदावेशात् तदपादानमुच्यते ॥
पततो ध्रुव एवासौ यस्मादश्वात् पतत्यसौ।
तस्याप्यश्वस्य पतने कुडचादि ध्रुवमिष्यते ॥

"वारणार्थानामीप्सितः" (पा० सू०)

वारणार्थक (प्रवृत्ति निरोधार्थक) धातुओं के योग में ईप्सि की अपादान संज्ञा होती है। यथा—यवेभ्यः गां वारयति। पापा निवारयति, अग्नेः बालकं वारयति इत्यादि स्थलों में भी अपादा संज्ञा होती है, क्योंकि पाप, अग्नि आदि प्रवृत्ति के कर्त्ता के ईप्सि ही है।

"अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छति" (पा० सू०)

व्यवधान रहने पर यदि कोई अपने को किसी से छिपाना चाहे जिससे छिपाता है उसकी अपादान संज्ञा होती है। जैसे—प्राध्या पकात् निलीयते छात्रः, कष्णः मातुः निलीयते, उपाध्यायात् अन्तर्ध आदि।

"आख्यातोपयोगे" (पा० सू०)

उपयोग (अर्थात् नियमपूर्वक विद्या का ग्रहण) रूप अर्थ र पर आख्याता (अध्यापन करने वाला) अपादानसंज्ञक होता है शिक्षकात् पठति, अध्यापकात् अधीते इत्यादि। किन्तु उपयोग न र पर 'गायकस्य गानं शृणोति'। यहाँ अपादान संज्ञा नहीं होगी।

"जनिकर्तुः प्रकृतिः" (पा० सू०)

जनिः-जननम्-उत्पत्तिः, तस्याः कर्ता, तस्य प्रकृतिः (हेतुः) अ दानं स्यात्। अर्थात् जायमान (उत्पत्त्याश्रय) के हेतु को अपाद कहते हैं। जैसे—ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते, पितुः पुत्रः प्रजायते, अङ्ग अङ्गात् सम्भवति, बीजात् अङ्कुरो जायते, गोमयात् वृश्चिकः उत्पद्य धर्मात् सुखं भवति इत्यादि। उत्पत्यर्थक धातुओं के योग में सप्तमी होती है। जैसे—मेनकायामुत्पन्ना आदि।

"भुवः प्रभवः" (पा० सू०)

भवनम्–भूः, भुवः कर्ता–भूकर्ता तस्य भूकर्तुः प्रभवः (प्रभव प्रथमं प्रकाशते अस्मात्, अस्मिन् वा इति प्रभवः, प्रथम-प्रकाश–स्थान अपादान संज्ञको भवति। अर्थात् भू (होने) के कर्ता का प्रथम

लब्धि-स्थान अपादान संज्ञक होता है। जैसे—हिमवतः गङ्गा प्रभवति, वल्मीकाग्रात् प्रभवति धनुः इत्यादि।

नोट—अभूत के प्रादुर्भाव को जनि (उत्पत्ति) कहते हैं और उत्पन्न के प्रथम उपलम्भ (प्रकाश) को प्रभव। इसलिए 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' और 'भुवः प्रभवः' दो सूत्र किये गये हैं।

"ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च" (का० वा०)

यदि ल्यबन्त शब्द का लोप हो गया हो तो उसके कर्म और अधिकरण से पञ्चमी विभक्ति होती है। जैसे—प्रासादात् पश्यति (प्रासादम् आरुह्य इत्यर्थः), श्वशुरात् लज्जते (श्वशुरं वीक्ष्य इत्यर्थः), आसनात् प्रेक्षते (आसने उपविश्य इत्यर्थः) आदि।

प्रश्नाख्यानयोश्च" (वा०)

प्रश्न और आख्यान रहने पर भी पञ्चमी विभक्ति होती है। जैसे —कस्मात् त्वम् ? नद्याः। यहाँ कस्मात् में प्रश्न में और नद्याः में उत्तर में पञ्चमी विभक्ति है। 'यतश्चाध्वकाल-निर्माणं तत्र पञ्चमी'। 'तदुक्तादध्वनः प्रथमासप्तम्यौ।

"कालात् सप्तमी च वक्तव्या" (का० वा०)

जिस अवधिवाचक शब्द से अध्वा और काल की इयत्ता मालूम हो उससे पञ्चमी होती है और पञ्चम्यन्त पद से युक्त अध्ववाचक शब्द से प्रथमा और सप्तमी तथा कालवाचक शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे- वनाद् ग्रामो योजनं, योजने वा। कार्तिक्याः आग्रहायणी मासे इत्यादि।

"पञ्चमी विभक्ते" (पा० सू०) [अपेक्षार्थे पञ्चमी]

विभक्तम् (विभागः, भेदः) अस्ति अस्मिन् इति विभक्तः (निर्धारणाश्रयः) तत्र पञ्चमी, अथवा निर्धार्यमाण स्य (निर्धारणाश्रयस्य (विभक्ते) (विभागे, भेदे) पञ्चमी। अर्थात् प्रयुक्त शब्दों में जो एक दूसरे के अन्तर्गत न हों ऐसे दो पदार्थों की परस्पर तुलना करने पर जिसकी अपेक्षा अधिकता या न्यूनता दिखायी जाय उससे पञ्चमी होती है। जैसे—रामात् श्यामः सुन्दरतरः, धनात् विद्या

गरीयसी, पाटलिपुत्रकेभ्यः माथुराः आढ्यतराः। जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी इत्यादि।

"अन्यारादितरर्ते दिक् शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहि युक्ते" (पा० सू०)

अन्य, भिन्न, इतर आदि अन्यार्थक शब्द, आरात्, ऋते, दिक् शब्द (जो कहीं दिशा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो), प्राक्-प्रत्यक् आदि अञ्चूत्तर पद तथा आच् और आहि प्रत्ययान्त शब्दों के योग में पञ्चमी होती है। यथा—अन्यः, भिन्नः, इतरः, विलक्षणो वा कृष्णात्; आरात् (दूरे समीपे वा) गृहात् विद्यालयः; ऋते (विना) कृष्णात्; गृहात् पूर्वः, उत्तरो वा; चैत्रात् पूर्वः फाल्गुनः; ग्रीष्मात् पूर्वः वसन्तः; अञ्चूत्तर पद के योग में—प्राक्, प्रत्यक् वा ग्रामात्; आच् प्रत्ययान्त शब्दों के योग में—दक्षिणा ग्रामात्; आहि प्रत्ययान्त पदों के योग में—दक्षिणाहि, उत्तराहि वा भवनात्; इत्यादि।

नोट—(१) 'ऋते' के योग में द्वितीया भी कहीं पर होती है[1]। जैसे—ऋतेऽपि त्वाम्, पुरुषाराधनम् ऋते इत्यादि।

(२) पूर्व, अपर आदि शब्द यदि अवयववाचक हों तो पञ्चमी की जगह षष्ठी होती है[2]। जैसे—शरीरस्य पूर्वम्, हस्तस्य अपरम् इत्यादि।

(३) प्रभृति, आरभ्य, बहिः, ऊर्ध्वम् आदि शब्दों के योग में भी पञ्चमी विभक्ति होती है[3]। जैसे—भवात् (जन्मनः) प्रभृति, आरभ्य वा कृष्णः सेव्यः, ग्रामाद् बहिः विधालयः, कण्ठात् ऊर्ध्वं परं वा शिरः।

---

१. उभसर्वतसोः कार्या···ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' इससे 'ऋते' के योग में भी द्वितीया। 'ऋते द्वितीया च' चान्द्रं सूत्रम्।

२. 'तस्य परमाम्रेडितम्,' इति सूत्रनिर्देशात् अवयववाचि-पूर्वादि शब्दयोगे न पञ्चमी।

३. 'कार्तिक्याः प्रभृति' भाष्य के प्रयोग से प्रभृत्यादि के योग में तथा पञ्चम्यन्तपदों का 'बहि' के साथ समास होने के कारण एवं बहिः शब्दों के योग में पञ्चमी होती है। बहिः के योग में षष्ठी भी हो जाती है। जैसे—करस्य करभो बहिः।

वर्जन अर्थ में 'अप' और 'परि' तथा मर्यादा (सीमा) और अभिविधि (अभिव्याप्ति) अर्थों में आङ् (आ) कर्मप्रवचनीय संज्ञक होते हैं एवं इनके योग में पञ्चमी विभक्ति होती है[1]। जैसे—अपहरेः, परिहरेः, संसारः (हरिको छोड़कर संसार है); आमुक्ते, संसारः; आसकलाद् ब्रह्म इत्यादि।

प्रतिनिधि तथा प्रतिदान (बदले में देना) अर्थों में 'प्रति' कर्मप्रवचनीय होता है एवं उसके योग में पञ्चमी होती है[2]। जैसे—प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति, पुत्रः जनकात् प्रति, तण्डुलेभ्यः प्रतियच्छति गोधूमान् (चावल से गेहूँ बदलता है) आदि।

"अकर्तर्यृणे पञ्चमी" (पा० सू०)

हेतुभूत ऋणवाचक शब्द यदि कर्ता न हो तो उससे पञ्चमी विभक्ति होती है। जैसे—शताद् बद्धः, ऋणाद् बद्धः इत्यादि। यदि 'ऋण' कर्ता होगा तो पञ्चमी नहीं होगी। जैसे—शतेन अधमर्णः बन्धितः। यहाँ पर—उत्तमर्णेन अधमर्णः बद्ध, शतेन प्रयोजक-कर्त्रा, (उत्तमर्णेन प्रयोज्य कर्त्रा) अधमर्णः ऐसा अर्थ है, अतः 'शत' से पञ्चमी नहीं होती है।

"विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्" (पा० सू०)

हेतुभूत गुणवाचक शब्द यदि स्त्रीलिङ्ग न हो तो उससे पञ्चमी विकल्प से होती है। विकल्प में हेतौ तृतीया होती है जैसे—मौनात् मौनेन वा मूर्खः।

वैदुष्यात् वैदुष्येण वा मुक्तः इत्यादि। किन्तु हेतुभूत पदार्थबोधक शब्द गुणवाचक होने पर भी यदि स्त्रीलिङ्ग हो या अस्त्रीलिङ्ग होने पर यदि गुणवाचक न हो तो पञ्चमी नहीं होती है। वहाँ केवल तृतीया ही होती है। जैसे—बुद्धया मुक्तः' धनेन कुलम् इत्यादि।

नोट—इष्ट प्रयोग की सिद्धि के लिए "विभाषागुणेऽस्त्रियाम्"

---

१. 'अपपरी वर्जने' 'आङ् मर्यादा वचने' 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' (पा० सू०)

२. 'प्रतिः प्रतिनिधि प्रतिदानयोः' 'प्रतिनिधि प्रतिदाने च यस्मात्' (पा० सू०)

इस सूत्र में 'विभाषा' का योग विभाग होता है। अतः हेतु में स्त्री लिङ्ग या अगुणवाचक शब्दों से भी विकल्प से पञ्चमी होती है। जैसे—नास्ति घटः अनुपलब्धेः, यहाँ स्त्रीलिङ्ग होने पर भी तथा धूमात् वह्निमान्, यहाँ धूम के अगुणवाचक होने पर भी पञ्चमी होती है।

"पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्" (पा० सू०)

पृथक्, विना और नाना शब्दों के योग में द्वितीया, तृतीया तथा पञ्चमी विभक्तियाँ होती है। पृथक् कृष्णं कृष्णेन, कृष्णाद् वा; विना नाना वा रामं, रामेण, रामाद् वा इत्यादि। 'नाना' का भी अर्थ 'विना' ही है जैसे—नाना नारीं निष्फला लोकयात्रा (विना पत्नी के लोकयात्रा निष्फल है)।

"करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य" (पा० सू०)

यदि स्तोक (अल्प), अल्प, कृच्छ्र (कष्ट) तथा कतिपय (कुछ) शब्द अद्रव्यवाचक हों तो उनके करण से तृतीया और पञ्चमी विभक्ति होती हैं। जैसे —स्तोकेन, स्तोकाद् वा मुक्तः, अल्पेन, अल्पाद् वा मुक्तः (थोड़े आयास से मुक्तः); कृच्छ्रेण, कृच्छ्राद् वा मुक्तः (कष्ट से मुक्त); कतिपयेन, कतिपयाद् वा मुक्तः (कुछ प्रयास से मुक्त) इत्यादि।

नोट—(१) यदि स्तोक आदि शब्द द्रव्य वाचक हों तो पञ्चमी नहीं होती है, जैसे—स्तोकेन विषेण हतः, अल्पेन मधुना मत्तः आदि।

(२) स्तोक आदि शब्द यदि करण में न हों तो तृतीया या पञ्चमी कुछ नहीं होती है। जैसे :—स्तोकं पचति, अल्पं करोति इत्यादि। यहाँ स्तोक, अल्प आदि क्रिया विशेषण हैं।

"दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च" (पा० सू०)

दूरार्थक और अन्तिकार्थक (समीपार्थक) शब्द यदि अद्रव्यवाचक हों तो उनसे द्वितीया, तृतीया तथा पञ्चमी विभक्तियाँ होती हैं। जैसे—ग्रामस्य दूरं, दूरेण, दूराद् वा वसति; गृहस्य अन्तिकम्, अन्तिकेन, अन्तिकाद् वा तिष्ठति इत्यादि।

नोट—यदि दूर, अन्तिक आदि शब्द द्रव्यवाचक होंगे तो पूर्वोक्त विभक्तियाँ नहीं होंगी। जैसे—दूरः पन्थाः, अन्तिकः तडागः इत्यादि।

अथ षष्ठी

(Sixth case suffix)

(The Genitive Case)

"षष्ठी शेषे" (पा० सू०) [सम्बन्धे षष्ठी]

उक्त से अन्य को शेष कहते हैं प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा, कर्म में द्वितीया, करण में तृतीया, सम्प्रदान में चतुर्थी, अपादान में पञ्चमी और अधिकरण में सप्तमी उक्त हैं। उनसे अतिरिक्त स्वस्वामिभाव आदि सम्बन्ध रूप शेष में षष्ठी विभक्ति होती है। अर्थात् स्वस्वामिभाव, अवयवयविभाव, आधाराधेयभाव, जन्यजनकभाव, कार्यकारणभाव आदि सम्बन्ध तथा दाम्पत्य-रूप सम्बन्ध में षष्ठी होती है। इन पूर्वोक्त सम्बन्धविशेषों में तथा सम्बन्ध-सामान्य में जहाँ कोई सम्बन्ध विशेषरूप से निर्दिष्ट नहीं हो वहाँ) षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—राज्ञः पुरुषः, शरीरस्य अङ्गानि, कूपस्य जलम्, पितुः पुत्रः, घटस्य दण्डः, वशिष्ठस्य पत्नी इत्यादि क्रम से स्वस्वामिभावादि सम्बन्ध विशेष के उदाहरण हैं। रामस्य विचारः, तस्य चित्तम् आदि सम्बन्ध सामान्य के उदाहरण हैं।

नोट—कर्म करण आदि कारकों में भी यदि सम्बन्ध की विवक्षा की जाय तो षष्ठी होती है। जैसे—मातुः [मातरम्] स्मरति (मातृसम्बन्धि स्मरण करता है); सर्पिषः (सर्पिषा) जानीते (धृत-सम्बन्धि प्रवृत्ति); फलानाम् (फलैः) तृप्तः (फल सम्बन्धि-तृप्ति का आश्रय); रजकस्य वस्त्रं ददाति; वृक्षस्य पत्रं पतति; तिलस्य तैलम् इत्यादि में क्रम से कर्मादि कारकों के स्थान में सम्बन्धत्वेन विवक्षा करने पर षष्ठी हुई है।

"षष्ठी हेतु प्रयोगे" (पा० सू०)

यदि 'हेतु' शब्द का प्रयोग हो और हेतुत्व (कारणत्व) अ माल़ूम पड़ता हो तो हेतु तथा हेतुभूत पदार्थबोधक शब्द से ष होती है। जैसे—अध्ययनस्य हेतोर्वसति।

यदि 'हेतु' शब्द का प्रयोग हेतुत्वद्योत्य रहने पर 'सर्वनाम' शब्द के साथ हो तो षष्ठी के साथ तृतीया भी होती है[1]। जैसे—कस हेतोः, केन हेतुना वा वसति इत्यादि।

निमित्तार्थक शब्दों के प्रयोग रहने पर उनमें तथा हेतुवाच सर्वनाम शब्दों में सातों विभक्तियाँ होती हैं[2]; यदि हेतु वाच शब्द सर्वनाम से भिन्न हो तो प्रथमा तथा द्वितीया को छोड़कर औ पाँचों विभक्तियाँ होती हैं। जैसे—किं निमित्तम्, केन निमित्ते कस्मै निमित्ताय, कस्मात् निमित्तात्, कस्य निमित्तस्य, कस्मि निमित्ते वा वसति। ऐसे ही प्रयोग कारण, हेतु, प्रयोजन आदि शब्द के साथ होंगे। किन्तु सर्वनाम से भिन्न में ज्ञानेन निमित्तेन, ज्ञाना निमित्ताय, ज्ञानात् निमित्तात्, ज्ञानस्य निमित्तस्य, ज्ञाने निमि कृष्णः सेव्यः।

"षष्ठ्यतसर्थ प्रत्ययेन" (पा० सू०)

'अतसुच' प्रत्यय के (दिग्देशकाल रूप) अर्थ में जितने अस्ता प्रभृति प्रत्यय हैं, तदन्त शब्दों के योग में षष्ठी होती है। जैसे— ग्रामस्य दक्षिणतः, उत्तरतः, पुरः, पुरस्तात् वा; मञ्चस्य उपरि, उपरि ष्टात्, अधः, अधस्तात् वा इत्यादि।

"एनपाद्वितीया" (पा० सू०)

'एनप्' प्रत्ययान्त शब्दों के योग में द्वितीया तथा षष्ठी होती है जैसे —दक्षिणेन वाटिकाम्, वाटिकायाः; उत्तरेण, ग्रामं, ग्रामस्य व इत्यादि।

---

१. "सर्वनाम्नस्तृतीया च"। (पा० सू०)

२. निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्'। (का० वा०)

दूरार्थक तथा अन्तिकार्थक शब्दों के योग में षष्ठी और पञ्चमी होती हैं[1]। जैसे—ग्रामस्य ग्रामाद् वा दूरम्; वनस्य वनाद् वा अन्तिकं, निकटं, समीपं वा। कृष्णात् कृष्णस्य यो दूरं दुःखाद् दुखस्य सोऽन्तिकम् इत्यादि।

यदि ज्ञानार्थक से भिन्न 'ज्ञा' धातु हो तो उसके करण से सम्बन्धरूप से विवक्षा करने पर षष्ठी होती है[2]। जैसे—सर्पिषो जानीते (सर्पिषा प्रवर्तते इत्यर्थः), किन्तु ज्ञानार्थ में स्वरेण पुत्रं जानाति द्वितीया ही होती है।

अधीगर्थक (स्मरणार्थक) धातु, दयार्थक दयधातु तथा समर्थार्थक ईशधातु के कर्म से सम्बन्धत्वेन विवक्षा में षष्ठी होती[3] है। जैसे—मातुः अध्येति, पितुः स्मरति, प्रमदाजनस्य दयमानः, जगताम्, इष्टे ईशनं वा इत्यादि।

"कृञः प्रतियत्ने" (पा० सू०)

यदि प्रतियत्न (गुणाधान) अर्थात् नया विशेषगुण पैदा करना अर्थ हो तो कृञ् धातु के कर्म से शेषत्वेन (सम्बन्धत्वेन) विवक्षा में षष्ठी होती है। जैसे—एधोदकस्य उपकुरुते (इन्धन जल में (उष्णत्व) गुण पैदा करता है)।

ज्वर तथा सन्ताप को छोड़कर रुजा [व्याधि] अर्थवाले भाव प्रत्ययान्त शब्द यदि कर्ता हों तो उनके कर्म से शेषत्वेन विवक्षा में षष्ठी होती है[4]। जैसे—चौरस्य रोगस्य रुजा (रोग कर्तृक चौर सम्बन्धी पीड़ा इत्यर्थः) यहाँ 'रोगस्य' इसमें कृद्योग में षष्ठी है। किन्तु ज्वर और 'सन्ताप' शब्द रहने पर इससे षष्ठी नहीं होती है।

---

१. "दूरान्तिकार्थे षष्ठ्यन्यतरस्याम्"। (पा० सू)

२. "ज्ञोऽविदर्थस्य करणे"। (पा० सू०)

३. "अधीगर्थ दयेशां कर्मणि"। (पा० सू०)

४. "रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः"। (पा०सू०) अज्वरिसन्ताप्योरिति वाच्यम्" (वा)।

जहाँ 'षष्ठीशेषे' से षष्ठी होती है वहाँ समास होता है। जैसे-रोगस्य चौर-ज्वरः, चौर-सन्तापो वा।

नोट—"ज्ञोऽविदर्थस्य करणे" आदि सूत्रों से षष्ठी करने पर षष्ठी तत्पुरुष समास नहीं होता है।

यदि 'नाथ्' धातु का अर्थ आशा करना हो तो उसके कर्म से शेषत्वेन विवक्षा में षष्ठी होती है[1]। जैसे—धनस्यनाथते (धन होने की आशा करता है), सर्पिषो नाथनम् (घृतसम्बन्धिनी आशा) किन्तु आशा से भिन्न अर्थ में माणवक-नाथनम्। यहाँ "षष्ठी शेषे" से षष्ठी होने के बाद समास हो गया है।

हिंसार्थक स्वार्थ णिजन्त जस्, 'नि' या 'प्र' पूर्वक या 'नि-प्र' दोनों पूर्वक हन्, चुरादि नट् और क्रथ् तथा रुधादि पिष् धातुओं के कर्म से शेषत्वेन विवक्षा में षष्ठी होती है[2]। जैसे—चौरस्य उज्जासयति; दुष्टानां निहनिष्यति, प्रहणिष्यति, निप्रहणिष्यति, प्रणिहनिष्यति वा; दुष्टस्य उन्नाटयति, क्राथयति, पिनष्टि वा। हिंसा अर्थ नहीं रहने पर इस सूत्र से षष्ठी नहीं होती है। जैसे—धानाः पिनष्टि (भुने हुए चावलों को पीसता है)

यदि द्यूत तथा क्रय-विक्रय रूप व्यवहार अर्थ हो तो 'वि-अव' पूर्वक 'हृ' धातु 'पण्' धातु तथा 'दिव्' धातु के कर्म से शेषत्वेन विवक्षा में षष्ठी होती है। किन्तु 'दिव्' धातु यदि उपसर्ग पूर्वक हो तो विकल्प से षष्ठी होती है[3]। जैसे—शतस्य व्यवहरणम्, पणनं वा शतस्य दीव्यति; शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति इत्यादि। किन्तु भिन्न अर्थों में—शलाकां व्यवहरति; ब्राह्मणं पणायति, दीव्यति (स्तौतीत्यर्थः) इत्यादि।

क्रिया की पुनरावृत्ति अर्थ में 'सुच्' 'कृत्वसुच्' आदि प्रत्यय हों

---

१. "आशिषिनाथः"।

२. "जासि निप्रहणनाट क्राथापिषां हिंसायाम्"। (पा० सू०)

३. 'व्यवहृपणीः समर्थयोः' 'दिवस्तदर्थे' 'विभाषोपसर्गे'। (पा० सू०)

हैं; तदन्त शब्द के योग में अधिकरणार्थक कालवाचक शब्द से सम्बन्धत्वेन विवक्षा में षष्ठी होती है[1]। जैसे—पञ्चकृत्वः अह्नः भुङ्क्ते (पाँच बार दिन में खाता है) द्विः अह्नोभुङ्क्ते (दो बार दिन में खाता है इत्यादि।

"कर्तृकर्मणोः कृति" (पा० सू०)

कृत्प्रत्ययान्त शब्दों के योग में अनुक्त कर्ता और कर्म से षष्ठी होती है। जैसे—कृष्णस्य कृतिः, छात्रस्य पठनम्, मम इच्छा इत्यादि। यहाँ कर्ता में षष्ठी है। जगतः कर्ता कृष्णः, पुस्तकस्य पाठकः इत्यादि। यहाँ कर्म में षष्ठी है। विशेष—कृदन्त शब्दों के योग में यदि दो कर्म हों तो अप्रधान कर्म से षष्ठी विकल्प से होती है और प्रधानकर्म से नित्य ही। जैसे—नेता छागस्य ग्रामस्य ग्रामं वाः; याचकः धनस्य धनिकस्य, धनिकं वा इत्यादि।

"उभयप्राप्तौ कर्मणि" (पा० सू०)

यदि कृत् प्रत्ययान्त शब्दों के योग में कर्ता और कर्म दोनों से षष्ठी की प्राप्ति हो तो केवल कर्म में षष्ठी होती है कर्ता से नहीं। जैसे—आश्चर्यः गवां दोहः अगोपेन। यहाँ 'अगोप' से षष्ठी नहीं होती है, क्योंकि वह इस वाक्य में कर्ता है।

अपवाद—किन्तु "उभयप्राप्तौ कर्मणि" यह नियम वहाँ नहीं लगता है जहाँ 'अक' तथा 'अ' रूप कृत् प्रत्ययों से बने हुए स्त्रीलिङ्ग शब्द रहते हैं।

अर्थात् वहाँ कर्ता में भी षष्ठी होती है[2]। जैसे—भेदिका (भेदनम्), बिभित्सा (भेत्तुमिच्छा) वा रुद्रस्य जगतः।

कुछ आचार्यों के मत में 'अक' तथा 'अ' प्रत्ययों से भिन्न यदि स्त्रीलिङ्ग कृत्प्रत्ययान्त शब्द हों तो कर्ता से षष्ठी विकल्प से होती है[3]

---

१. "कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणम्"। (पा० सू०)

२. 'स्त्रीप्रत्यययोरकाकारयोर्नायं नियमः'।

३. 'शेषे विभाषा' (वा०) स्त्रीप्रत्यय इत्येके। केचिदविशेषेण विभाषामिच्छन्ति।

और कुछ आचार्यों के मत में 'अक' एवम् 'अ' से भिन्न स्त्रीलिङ्ग से अतिरिक्त भी कृत्प्रत्ययान्त शब्द हों तो भी कर्ता से षष्ठी विकल्प से होती है। जैसे—स्त्रीलिंग कृत्प्रत्ययान्त के योग में विचित्रा जगतः 'कृतिः' हरेः, हरिणा वा। स्त्रीलिङ्ग से अतिरिक्त कृत्प्रत्ययान्त शब्दों के योग में—शब्दानाम् 'अनुशासनम्' आचार्येण आचार्यस्य वा, सूत्राणां 'प्रणयनम्' पाणिनिना पाणिनेः वा इत्यादि।

वर्तमान काल के अर्थ में यदि 'क्त' प्रत्यय हो तथा अधिकरण-वाचक 'क्त' प्रत्यय हो तो उन 'क्त' प्रत्ययान्त शब्दों के योग में षष्ठी होती है[1]। वर्तमानार्थक 'क्त'प्रत्यय के योग में यथा—राज्ञाम् मतः, बुद्धः पूजितो वा इत्यादि। अधिकरण वाचक 'क्त' प्रत्ययान्त के योग में यथा—मुकुन्दस्य आसितमिदम्, इदं यातं रमापतेः भुक्तमेतद् अनन्तस्य इत्यूचुर्गोप्यो दिदृक्षवः॥

नोट—भावार्थक 'क्त' प्रत्ययान्त शब्दों के योग में भी षष्ठी होती है। पूर्वोक्त स्थलों में षष्ठी का निषेध आगे के सूत्र से नहीं होता है। जैसे—सूर्यस्य गतम्, मयूरस्य नृत्तम्, गायकस्य गीतम्, छात्रस्य हसितम् इत्यादि।

"न लोकाव्ययनिष्ठा खलर्थ तृनाम्"। (पा० सू०)

ल, उ, उक, अव्यय, निष्ठा, खलर्थ तथा तृन् प्रत्ययों से बने हुए कृदन्त शब्दों के योग में 'कर्तृकर्मणोः कृति" सूत्र से प्राप्त षष्ठी नहीं होती है। जैसे—

(क) 'ल' लकारस्थानीय शतृ, शानच् तथा क्वसु, कानच् आदि। यथा—सृष्टिं कुर्वन्, कुर्वाणः वा हरिः, पाठम् पठिष्यन्, पठिष्यमाणः वा छात्रः, कार्यं चकृवान्, चक्राणो वा इत्यादि।

(ख) 'उ'=उ तथा उकारान्त इष्णु (च्) आलु (च्) क्नु ग्स्नु आदि। यथा—धनम् इच्छुः स्पृहयालुः, निराकरिष्णुः, गृध्नुः जिष्णुः आदि।

---

1. "क्तस्य च वर्तमाने" "अधिकरणवाचिनश्च"। (पा० सू०)

(ग) 'उक'=उकञ्। यथा—लक्ष्मीम् अभिलाषुकः, दैत्यान् घातुकः इत्यादि। किन्तु (कम्+उकञ्) 'कामुकः' के योग में षष्ठी का निषेध नहीं होता है। जैसे—लक्ष्म्याः कामुको हरिः।

(घ) 'अव्यय'=तुमुन्, क्त्वा, ल्यप्, णमुल् आदि कृत्प्रत्ययान्त अव्यय। यथा—कृष्णं द्रष्टुम्, कृष्णं स्मृत्वा, कामं विजित्य, कृष्णं स्मारम् स्मारम् आदि।

(ङ) निष्ठा=क्त और क्तवतु। यथा—छात्रेण पुस्तकम् पठितम्, स गृहं गतः, गतवान् इत्यादि। किन्तु वर्तमानार्थक और अधिकरणार्थक 'क्त' में षष्ठी ही होती है।

(च) 'खलर्थ'—खल् और युच्। यथा—हरिणा प्रपञ्चः ईषत्करः, सुकरः, दुष्करो वा; ईषत्पानः सोमो भवता इत्यादि।

(छ) तृन्=शतृ के 'तृ' तथा तृन् के 'न्' से तृन् प्रत्याहार यहाँ लिया जाता है। इसमें शानन्, चानश्, शतृ[1] और तृन् प्रत्यय भी आते हैं। यथा—राजसूयम् यजमानः, कवचं बिभ्राणः; वेदम् अधीयन्; लोकान् कर्ता इत्यादि।

नोट—कारक षष्ठी का ही निषेधक यह सूत्र है "षष्ठी शेषे" से सम्बन्ध में षष्ठी ही होती है। जैसे—नरकस्य जिष्णुः, लोकस्य कुर्वन् इत्यादि।

भविष्यार्थक 'अक' प्रत्ययान्त तथा भविष्यार्थक और आधमर्ण्यार्थक 'इन्' प्रत्ययान्त शब्दों के योग में भी षष्ठी नहीं होती है[2]। जैसे—सज्जनान् पालकोऽवतरति; वयं गृहं गामिनः स्मः; असौ शतं दायी।

"कृत्यानां कर्तरि वा" (पा० सू०)

तव्य, ण्यत्, यत् आदि कृत्य प्रत्ययान्त शब्दों के योग में अनुक्त कर्ता से षष्ठी विकल्प से होती है। जैसे—मया, मम वा हरिः सेव्यः;

---

१. यह 'शतृ' लकारस्थानीय शतृ से भिन्न है। यह जब 'द्विष्' धातु से होता है तब षष्ठी का भी विकल्प से प्रयोग होता है। जैसे—मुरस्य मुरं वा द्विषन् शत्रुः।

२. "अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः"।

मया, मम वा पुस्तकम् पठितव्यम् इत्यादि। किन्तु कृत्य प्रत्यय से जह कर्ता उक्त होगा वहाँ कर्ता से षष्ठी नहीं होगी। जैसे—गेयः माणवक साम्नाम्; असौ ग्रामस्य वास्तव्यः। यहाँ 'यत्' तथा 'तव्यत्' विशे नियम से कर्ता में हुआ है।

नोट—कृत्य प्रत्ययान्त शब्दों के साथ यदि कर्ता और कर्म दोनों षष्ठी की प्राप्ति हो तो किसी से षष्ठी नहीं होती है। जैसे—नेतव्य व्रजं गावः कृष्णेन। यहाँ अनुक्त कर्म 'व्रज' में तथा अनुक्त कर्ता 'कृष्ण में 'कृत्यानाम्' इस योग से षष्ठी का निषेध हो गया।

'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां षष्ठचन्यतरस्याम्'' (पा० सू०)

'तुला' और 'उपमा' शब्द को छोड़कर तुल्यार्थक शब्दों के यो में तृतीया तथा विकल्प में षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—तुल्यः सदृ समो वा कृष्णेन, कृष्णस्य वा। किन्तु तुला, उपमा वा कृष्णस नास्ति। यहाँ तृतीया नहीं होती है।

नोट—'तुलां यदारोहति दन्तवाससा, स्फुटोपमं भूतिसिते शम्भुना' इत्यादि स्थानों में सहार्थे तृतीया समझनी चाहिए।

आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, हित आदि शब्दों के तथा एतदर्थ अन्य शब्दों के योग में आशीर्वाद के अर्थ में चतुर्थी तथा विकल्प षष्ठी विभक्ति होती है[1]। जैसे—आयुष्यं चिरं जीवितं वा कृष्णा कृष्णस्य वा भूयात्। ऐसे ही मद्रं, भद्रं, कुशलं, सुखं, शम्, हितं तस्मै, तस्य वा भूयात्।

नोट—पारे, मध्ये, कृते आदि अव्यय शब्दों के योग में भी ष विभक्ति होती है। जैसे—गङ्गायाः पारे; ग्रामस्य मध्ये; छात्रस्य इत्यादि।

सप्तमी विभक्ति

(Seventh case ending)

अधिकरण कारक [Tne Locative Case]

''आधारोऽधिकरणम्'' (पा० सू०)

कर्ता अथवा कर्म के द्वारा या कर्मनिष्ठ व्यापार के आधार

---

१. ''चतुर्थी चाशिष्यायुष्य-मद्र-भद्र-कुशल-सुखार्थहितैः'' (पा० सू०)

कारक को अधिकरण कहते हैं। यह आधार तीन प्रकार का होता है—औपश्लेषिक, वैषयिक और अभिव्यापक।

(क) औपश्लेषिक—संयोग, समवाय, सामीप्य आदि सम्बन्धों से किसी वस्तु के आधार को औपश्लेषिक आधार कहते हैं। जैसे—कटे आस्ते, पुष्पे गन्धः, नद्याम् घोषः आदि।

(ख) वैषयिक—किसी इच्छा आदि विषय का जो आधार उसे वैषयिक आधार कहते हैं। जैसे—मोक्षे इच्छा वर्तते, पठने इच्छा वर्तते इत्यादि।

(ग) अभिव्यापक—सभी अवयवों में अभिव्याप्त होकर रहने वाले पदार्थ के आधार को अभिव्यापक आधार कहते हैं। जैसे—तिलेषु तैलम्, दुग्धे घृतम् आदि।

"सप्तम्यधिकरणे च" (पा० सू०)

अनुक्त अधिकरण से तथा दूरार्थक और अन्तिकार्थक शब्दों से सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे—

(१) कर्तृनिष्ठ क्रिया द्वारा औपश्लेषिकाधार में—बालः मञ्चे तिष्ठति, भूतले घटः अस्ति इत्यादि; वैषयिकाधार में—मोक्षे इच्छास्ति इत्यादि; अभिव्यापकाधार में—सर्वस्मिन् आत्मास्ति, दध्नि सर्पिः इत्यादि।

(२) कर्मनिष्ठ क्रिया द्वारा औपश्लेषिकाधार में—स्थाल्यां तण्डुलान् पचति आदि; वैषयिकाधार में—ज्ञाने इच्छां करोति आदि; अभिव्यापकाधार में—तिलेषु तैलं पश्यति इत्यादि। दूराद्यर्थक शब्दों के योग में—गृहस्य दूरे, अन्तिके वा इत्यादि।

क्त प्रत्ययान्त शब्दों से 'इन्' प्रत्यय करने पर उसके कर्म से सप्तमी विभक्ति होती है[1]। जैसे—व्याकरणे अधीती व्याकरणम् अधीतवान् इत्यर्थः।

साधु तथा असाधु शब्दों के योग[2] में जिसके प्रति साधु या असाधु

---

१. 'क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम्'।

२. 'साध्वसाधुप्रयोगे च'। (वा०)

हो उससे सप्तमी होती है। जैसे—कृष्णः मातरि साधुः; मातु
असाधुः।

'निमित्तात् कर्मयोगे' (वा०)

किसी व्यापार के कर्म के साथ जिसका संयोग (सम्बन्ध) ह
(या समवाय सम्बन्ध हो अर्थात् कर्म का जो अवयव हो) ऐ
निमित्त (प्रयोजन) के बोधक शब्द से सप्तमी होती है। यथा-
चर्मणि द्वीपिनं हन्ति, दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्, केशेषु चमरीं हन्ति
सीम्नि पुष्कलको हतः। (चर्म के लिए बाघ को, दाँतों के लिए हा
को, केशों के लिए चमरी (मृग विशेष) को तथा अण्डकोष (कस्तू
के लिए गन्धमृग को मारता है)। यहाँ चर्म आदि और द्वीपी आ
में समवाय सम्बन्ध है।

किन्तु वेतनेन धान्यं लुनाति (वेतन के लिए अनाज काटता है
यहाँ वेतन तथा धान्य में—संयोग या समवाय सम्बन्ध नहीं है
इसलिए सप्तमी नहीं होती है।

नोट—निमित्त से कर्मयोग में सप्तमी के बदले चतुर्थी भी क
होती है। जैसे—'मुक्ताफलाय करिणं हरिणं पलाय' [मोती के लि
हाथी को तथा मांस के लिए हरिण को (मारता है)]।

"यस्य च भावेन भावलक्षणम्" (पा० सू०) [भावे सप्तमी

जिसकी (कर्ता या कर्म की) क्रिया से दूसरे की क्रिया का का
परिलक्षित हो उस लक्षक क्रिया से कर्ता या कर्म से तथा उस
कृदन्त विशेषण शब्द से सप्तमी होती है। कृदन्त विशेषण शब्द व
मान, भूत तथा भविष्यत्—तीनों काल के प्रत्ययों से बने होते हैं
जैसे—छात्रेषु पठत्सु, पठितवत्सु, पठिष्यत्सु वा प्राध्यापकः आग
(जब छात्र पढ़ते थे, पढ़ चुके थे या पढ़नेवाले थे तब प्राध्याप
आये)। यहाँ लक्षक क्रिया 'पठत्सु' आदि जो कर्तृवाच्य में है, उस
तथा उसके कर्ता 'छात्र' से सप्तमी हुई है। गोपेन गोषु दुह्यमाना
दुग्धासु, धोक्ष्यमाणासु वा ते आगताः (जब गोप से गायें दुही
रही थीं, दुही जा चुकी थीं, दुही जानेवाली थीं तब वे आये।

'दुह्यमानासु' आदि क्रिया जो कर्मवाच्य में है उससे तथा उसके कर्म से सप्तमी हुई है।

"षष्ठी चानादरे" (पा० सू०) [अनादरे षष्ठी वा सप्तमी]

यदि अनादर (उपेक्षा) रूप अर्थ सूचित हो तो जिसके व्यापार से दूसरे का व्यापार लक्षित होता है उससे षष्ठी और सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं। जैसे—रुदति (पुत्रादौ) रुदतो वा (पुत्रादेः) प्राव्राजीत्। रोते हुए परिजनों की उपेक्षा करके संन्यासी हो गया।

"स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च" (पा० सू०) स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षी, प्रतिभू (गवाह या जामिन) तथा प्रसूत शब्दों के योग में षष्ठी तथा सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं। जैसे—गृहस्य, गृहे वा स्वामी, ईश्वरः, अधिपतिः; धनस्य, धने वा दायादः; अभियोगस्य, अभियोगे वा साक्षी, प्रतिभूः; देशस्य, देशे वा प्रसूतः इत्यादि।

"आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम्" (पा० सू०)

तत्परता (उत्सुकता) अर्थ रहने पर आयुक्त तथा कुशल शब्दों के योग में षष्ठी तथा सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं। जैसे—आयुक्तः (प्रवर्तितः), कुशलो वा हरिपूजने, हरिपूजनस्य वा। तत्परता अर्थ नहीं रहने पर आयुक्तः (ईषद्युक्तः) गौः शकटे। कर्मणि कुशलः (निपुणः) यहाँ षष्ठी नहीं हुई है।

"यतश्च निर्धारणम्" (पा०सू०) [निर्धारणे षष्ठी वा सप्तमी]

जिस समुदाय से जाति, गुण, क्रिया अथवा संज्ञा का निर्देश करके एक देश (एक भाग) पृथक् किया जाय उस समुदाय से षष्ठी और सप्तमी होती है।

जाति से पृथक्करण—वर्णानां, वर्णेषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः।
गुण से ,, —छात्राणां, छात्रेषु वा नम्रः गुरुप्रियः।
क्रिया से ,, —गच्छतां, गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः।
संज्ञा से ,, —कवीनां, कविषु वा कालिदासः श्रेष्ठः।

प्रति, परि तथा अनु शब्द का यदि प्रयोग न हो तो साधु एवं

निपुण शब्द के योग में पूजा (आदर) अर्थ रहने पर सप्तमी विभक्ति होती है[1]। जैसे—मातरि साधुः निपुणो वा। पूजा अर्थ नहीं रहने पर 'निपुण' शब्द के साथ सप्तमी नहीं होतीं है। जैसे—निपुणो राज्ञः भृत्यः।

नोट—'साधु' शब्द के योग में पूजा अर्थ न रहने पर भी 'साध्व-साधुप्रयोगे च' इस वार्तिक से सप्तमी होती है। प्रति, परि तथा अनु के योग में द्वितीया हो जाती है। जैसे—साधुः निपुणो वा मातरं प्रति, परि, अनु वा।

प्रसित (तत्पर) तथा उत्सुक शब्द के योग में तृतीया और सप्तमी होती है[2]। जैसे—प्रसितः (तत्परः) उत्सुको वा कृष्णेन कृष्णे वा।

'नक्षत्र से युक्त काल' ऐसा अर्थ रहने पर नक्षत्रवाचक शब्द से तृतीया और सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं[3]।

जैसे—मूलेन मूले वा देवीम् आवाहयेत् (मूलनक्षत्र से युक्त काल में देवी का आवाहन करे)। श्रवणेन, श्रवणे वा देवीं विसर्जयेत्। (श्रवण नक्षत्र से युक्त काल में देवी का विसर्जन करे)।

यदि दो कारक शक्तियों के बीच में कालवाचक तथा अध्ववाचक शब्द हों तो उनसे सप्तमी और पञ्चमी विभक्तियाँ होती हैं[4]। जैसे—अद्य भुक्त्वा अयम्, द्व्यहे द्व्यहाद् वा भोक्ष्यति (आज खाकर यह दो दिन बीतने पर तीसरे दिन में खायगा)। यहाँ कालवाचक 'द्व्यह' शब्द 'भुक्त्वा' तथा 'भोक्ष्यति' इन दो क्रियाओं की दो कर्तृत्व शक्तियों के बीच में हैं। इहस्थोऽयम् क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत् (इसी

---

१. "साधु-निपुणायामर्चायां सप्तम्यप्रतेः" (पा० सू०) 'अप्रत्ययादिभिरिति वक्तव्यम्'। (वा०)

२. "प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च"। (पा० सू०)

३. "नक्षत्रे च लुपि"। (पा० सू०)

४. "सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये"। (पा० सू०)

जगह पर बैठा हुआ यह (बाण से) कोस के आगे लक्ष्य का वेध करेगा)। यहाँ क्रमशः 'अयम्' तथा 'लक्ष्यम्' इन दो कर्तृत्व तथा कर्मत्व शक्तियों के बीच अध्ववाचक 'क्रोश' शब्द है।

नोट—अधिक शब्द के योग में भी सप्तमी तथा पञ्चमी होती है[1]। जैसे—लोके लोकाद् वा अधिको हरिः।

अधिकार्थ बोधक 'उप' तथा स्वस्वामिसम्बन्धबोधक 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है[2]। इन 'उप' और 'अधि' कर्मप्रवचनीयों के योग में सप्तमी होती है। जैसे—उप परार्द्धे कृष्णस्य गुणाः (परार्द्ध से भी अधिक कृष्ण के गुण हैं)। उप सहस्रे उपकाराः गुरुणा छात्रस्य कृताः (गुरु ने छात्रों के हजार से भी अधिक उपकार किये)। 'अधि' के योग में तो स्व (धन) तथा स्वामी दोनों में पर्याय से सप्तमी होती है। जैसे—अधि भुवि रामः अभूत्, अधि रामे भूरभूत् (राम भूपति हुए)।

नोट—१. 'क्रियाया निवृत्तौ च प्रवृत्तिवत् कारकाणि भवन्ति'। अर्थात् क्रिया के विधान में जैसे कारक होते हैं वैसे ही उसके निषेध में भी। जैसे—चन्द्रं पश्यति; चन्द्रं न पश्यति; अश्वात् पतति; अश्वात् न पतति इत्यादि।

२. 'विवक्षावशात् कारकाणि भवन्ति। वक्ता के बोलने की इच्छा से कारक होते हैं। गृहं प्रविशति की तरह गृहे प्रविशति भी। यह वक्ता की विवक्षा पर निर्भर करता है। इसी तरह स्थाल्यां पचति और स्थाल्या पचति; अरये क्रुध्यति और अरौ क्रुध्यति; नृपात् धनं याचते और नृपं धनं याचते; दरिद्रान् भर कौन्तेय ! मा प्रच्छेश्वरे धनम्!

३. 'प्रकृति-विकृत्योरुक्तौ प्रकृतेरनुसारतः कृदाख्याते। विकृति-विवक्षाधीना विकृतौ संख्यावगन्तव्या।' जहाँ प्रकृति (कारण) और उसकी विकृति (कार्य) दोनों रहें वहाँ संख्या और पुरुष प्रकृति के

---

१. 'तदस्मिन्नधिकमिति' 'यस्मादधिकमिति' च सूत्रनिर्देशात्।

२. "उपोऽधिके च" "अधिरीश्वरे" "यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी" पा० सू०

अनुसार ही होते हैं। जैसे—एकं दारु सप्त यूपाः भवति; एकं सुवर्णं नव कुण्डलानि भवति; सुवर्णं कुण्डले क्रियताम् इत्यादि।

४. 'विशेषणे समानार्थे विशेष्यस्य विभक्तयः।

जहल्लिङ्गे तु तल्लिङ्गं संख्या च पुरुषस्तथा॥

अनियत लिङ्गवाले समानार्थक विशेषण शब्दों में विशेष्य की विभक्तियाँ, वचन तथा पुरुष होते हैं। जैसे—नीलं कमलं जिघ्र; हसन् कृष्णः अवलोकितः; हसन्त्यो वनिता दृष्टाः इत्यादि। किन्तु 'अजहल्लिङ्गे तु न विशेष्य-लिङ्गम्। नियत लिङ्गवाले विशेषण शब्दों में विशेष्य का लिङ्ग नहीं होता है। जैसे—घटो द्रव्यम्; विद्याधनं ज्ञेया; शब्दः प्रमाणमित्यादि। कहीं पर विशेष्य के विपरीत भी विशेषण में संख्या होती है जैसे—वेदाः प्रमाणम्; गुणाः पूजास्थानम् इत्यादि। कहीं उद्देश्य और विधेय के ही लिङ्ग और वचन होते हैं। जैसे—वनानि मे गृहं ज्ञेयम् इत्यादि।

समास-प्रकरण

समास

संस्कृत भाषा की यह परम विशेषता है कि संक्षेप में अपने अभिप्राय को प्रगट करने के लिए परस्परान्वित दो या दो से अधिक पदों को मिलाकर एक महापद बना लेते हैं। इस तरह अनेक पदों का एक महापद होना या बनाना तथा इस प्रकार बना हुआ वह महापद दोनों ही को समास कहते हैं। अतः समसनम् (अर्थात् एकपदीभवनम्) समासः (सम्+अस्+भावे घञ्) अथवा समस्यते अनेकं सुबन्तम् एकत्र क्रियते इति समासः (सम्+अस्+कर्मणि घञ्)।

नित्य और अनित्य समास

यह समास नित्य और अनित्य की दृष्टि से दो तरह का है। 'अविग्रहो नित्य-समासः, अस्वपदविग्रहो वा'। अर्थात् जिस समास में लौकिक विग्रह न हो या जिस समास में लौकिक विग्रह वाक्य में समास के पदों में से कोई एक स्वरूपतः न कहा जाकर अर्थतः कहा जाय वे दोनों नित्य समास हैं। जैसे—कृष्णसर्पः (गेहुमन साँप)। यहाँ 'कृष्णः सर्पः=कृष्णसर्पः' ऐसा लौकिक विग्रह नहीं होता। विग्रह करने से 'काला साँप' अर्थ हो जायेगा न कि गेहुमन जो अभीष्ट है। 'मनुष्या एव=मनुष्यमात्रम्'। यहाँ विग्रह में मात्र शब्द नहीं कहा गया है तदर्थक एव शब्द कहा गया है। इसलिए यह भी नित्यसमास है। इसके अतिरिक्त जिसमें लौकिक विग्रह हो वह अनित्य समास है।

विग्रह

'वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः'। अर्थात् वृत्ति के अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले वाक्य को विग्रह कहते हैं। विग्रह वाक्य के द्वारा

ही वृत्ति में आये हुए पदों को अलग-अलग करके अर्थ प्रगट किया जाता है। यह विग्रह लौकिक और अलौकिक भेद से दो तरह का होता है। 'लोके प्रयोगार्हः लौकिकः'। अर्थात् लोक में प्रयोग के योग्य जो विग्रह है वह लौकिक है। यथा—'राजपुरुषः' इस समासवृत्ति का अर्थावबोधक वाक्य 'राज्ञः पुरुषः'। और लोक में प्रयोग के अयोग्य केवल शास्त्रीयप्रक्रिया-प्रदर्शक वाक्य को अलौकिक विग्रह वाक्य कहते हैं। जैसे—'राजन् अस् पुरुष स्'।

वृत्ति

'परार्थाभिधानं वृत्तिः'। अभिधीयते अनेन इत्यभिधानम् करणे ल्युट्। विग्रहवाक्यावयवपदार्थेभ्यः परः=अन्यः योऽयं विशिष्टैकार्थः, तत्प्रतिपादिका वृत्तिः, अर्थात् विग्रह वाक्य के अवयव जो पद उनके अर्थों से अतिरिक्त जो एक विशिष्ट समुदायार्थ उसके प्रतिपादक को वृत्ति कहते हैं। जैसे—'पीतम् अम्बरं यस्य स पीताम्बरः'। यहाँ विग्रह वाक्य के पीत और अम्बर पदों के अर्थों से अतिरिक्त 'पीत अम्बर वाला पुरुष' यह एक विशिष्ट अर्थ समासरूप वृत्ति ही से ज्ञात होता है। इसलिए कहा गया है—

'पाणिन्यादिभिराचार्यैः शब्दशास्त्र-प्रवक्तृभिः।
भणिता वृत्तयो या हि विशिष्टैकार्थ-बोधिकाः॥
समासा एकशेषाश्च तद्धिताश्च कृतस्तथा।
सनाद्यन्ता धातवश्च ता एव पञ्चधा मताः॥''

इस प्रकार विशिष्ट एक-अर्थ की बोधक पाँच तरह की वृत्तियाँ हैं, (१) समासवृत्ति (२) एकशेषवृत्ति, (३) तद्धितवृत्ति, (४) कृद्वृत्ति और (५) सनाद्यन्तधातुवृत्ति। इन सभी वृत्तियों में पदार्थों से अतिरिक्त एक समुदायार्थ प्रतीत होता है। जैसे—

(१) समासवृत्ति में 'राजपुरुष;' से 'राजसम्बन्धी पुरुष';
(२) एकशेषवृत्ति में 'पितरौ' से 'माता और पिता';
(३) तद्धितवृत्ति में 'दाशरथि' से 'दशरथ का अपत्य पुरुष';

(४) कृद्वृत्ति में 'कुम्भकारः' से 'कुम्भ का बनाने वाला'; और

(५) सनाद्यन्तधातुवृत्ति में 'पुत्रीयति' से 'अपने पुत्र की इच्छा करने वाला' इत्यादि।

"समर्थः पदविधिः" (पा० सू०)

पदसम्बन्धी जो कार्य वह समर्थाश्रित होता है। अर्थात् ये पूर्वोक्त पदसम्बन्धी कार्य सामर्थ्य रहने पर ही होते हैं। सामर्थ्य दो तरह के होते हैं—व्यपेक्षारूप और एकार्थीभावरूप। 'स्वार्थपर्यवसायिनां पदानामाकाङ्क्षादिवशाद् यः परस्परान्वयस्तद्व्यपेक्षाभिधं सामर्थ्यम्।' 'विशिष्टा अपेक्षा व्यपेक्षा' तथा 'सम्बद्धार्थः समर्थः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अपने-अपने अर्थों में पर्यवसन्न पदों का आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के कारण जो परस्परान्वय उसे व्यपेक्षारूप सामर्थ्य कहते हैं। जैसे—राज्ञः पुरुषः आदि लौकिक विग्रह वाक्य में। 'प्रक्रिया-दशायां प्रत्येकमर्थवत्त्वेन पृथग्गृहीतानां पदानां समुदायशक्त्या विशिष्टैकार्थ–प्रतिपादकतारूपमेकार्थीभावलक्षणं सामर्थ्यम्। 'सङ्गतार्थः समर्थः', 'संसृष्टार्थः समर्थः'। इन व्युत्पत्तियों से एकीभूतरूप अर्थ होता है। अर्थात् सार्थक पृथक् २ पदों का समुदाय शक्ति से जो एकीभूत विशिष्ट अर्थ उसके प्रतिपादक सामर्थ्य को एकार्थीभावरूप सामर्थ्य कहते हैं। इसी सामर्थ्य के रहने पर समास आदि पाँचों वृत्तियाँ होती हैं। यह सामर्थ्य 'राजपुरुषः' आदि वृत्तियों में ही रहता है। अलौकिक विग्रह वाक्य में उसकी कल्पना ही की जाती है। जहाँ यह सामर्थ्य नहीं है वहाँ 'ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः' (धनी राजा का पुरुष) इस तात्पर्य से 'ऋद्धस्य राजपुरुषः' ऐसा प्रयोग नहीं होता है क्योंकि राजन् शब्द ऋद्ध के साथ सापेक्ष होने से असमर्थ हो जाता है। 'सापेक्षमसमर्थवत्।'

'सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः'

'देवदत्तस्य गुरोः कुलम्' इस अर्थ में 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' इत्यादि स्थलों में 'ऋद्धस्य राजपुरुषः' की तरह सापेक्ष होने से

असमर्थ होने पर भी समास होता है। 'शिवस्य भगवतो भक्तः' इस अर्थ में 'शिवभागवतः' यह महाभाष्यकार के प्रयोग से कहीं पर सापेक्ष रहने पर भी समास होता है। अतः 'केषां शालीनाम् ओदनः' इस अर्थ में 'किमोदनः शालीनाम्' इत्यादि प्रयोग होता है। भर्तृहरि ने भी कहा है—"सम्बन्धिशब्दः सापेक्षो नित्यं सर्वः समस्यते।" इत्यादि। अर्थात् सम्बन्धिवाचक शब्द जो नित्य सापेक्ष है उसका समास होता है। यहाँ एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए—यदि समास का प्रधान शब्द सापेक्ष हो तो समास होता ही है। जैसे—'राजपुरुष-सुन्दरः'। यहाँ पुरुष शब्द सापेक्ष होने पर भी प्रधान होने के कारण समास हो ही जाता है। समास का अप्रधान शब्द यदि सापेक्ष होता है तो 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' इत्यादि कुछ स्थलों को छोड़कर समास नहीं होता है।

समास के भेद

समास मुख्यतः पाँच हैं—(१) केवलसमास [या 'सुप्सुपा' समास], (२) अव्ययीभाव, (३) तत्पुरुष [कर्मधारय और द्विगु तत्पुरुष के उपभेद हैं], (४) बहुव्रीहि और (५) द्वन्द्व[१]।

(१) केवलसमास या सुप्सुपा समास

जहाँ सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है उसको सुप्सुपा समास कहते हैं। जैसे—पूर्वम् उक्तः=पूर्वोक्तः, पूर्वम् भूतः=भूतपूर्वः इत्यादि।

नोट—'पूर्व अम् उक्त स्' इसका समास करने पर प्रातिपदिक संज्ञा करके विभक्ति का लुक् हो जाता है। तब फिर प्रातिपदिकसंज्ञा होती है और सुप् विभक्ति आती है। समास में सब जगह ऐसी प्रक्रिया होती है।

---

१ केवलश्चाव्ययीभावस्तथा तत्पुरुषोऽपि च।
बहुव्रीहिर्द्वन्द्व इति समासाः पञ्च सम्मताः॥

(२) अव्ययीभाव समास
(Adverbial or Indeclinable Compounds)

अव्ययीभाव समास—'उन्मत्तगङ्गम्' लोहितगङ्गम्, इत्यादि में विग्रह न होने के कारण; यथाशक्ति, अनुरूपम् इत्यादि में अस्वपद-विग्रह होने के कारण नित्य है और 'दिशयोर्मध्ये अपदिशम्' इत्यादि स्थलों में अनित्य है "अव्ययं विभक्ति" इत्यादि सूत्र के 'अव्ययम्' इस अंश से अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है और वह अव्ययीभाव कहलाता है। जैसे—दिशयोर्मध्यम् अपदिशम्। यहाँ दिशा ओस् और अप दोनों का समास होता है। इस में 'अप' का पूर्व प्रयोग होता है। लौकिक विग्रह वाक्य में कोई भी पद पूर्व में रखा जा सकता है। जैसे—दिशयोर्मध्यम् और मध्यम् दिशयोः। किन्तु समास करने पर उसी पद का पूर्व प्रयोग होता है जो समास विधायक सूत्र के प्रथमान्त पद से विग्रह में गृहीत होता है। जैसे—यहाँ "अव्ययं विभक्ति" इत्यादि सूत्र में अव्ययम्' इस प्रथमान्त पद से 'अप' गृहीत होता है। अतः इसका पूर्व प्रयोग होता है। यही पूर्व प्रयोग का साधारणतः नियम है। इसके अतिरिक्त बहुव्रीहि और द्वन्द्व समास में पूर्व प्रयोग के जो नियम हैं वे आगे बतलाये जायेंगे। समासविधायक शास्त्र के इसी प्रथमा निर्दिष्ट पद को 'उपसर्जन' कहते हैं जिसका पूर्व प्रयोग होता है[1]।

इसके अतिरिक्त विभक्ति-समीप-समृद्धि आदि बोधक अव्यय पद का किसी भी समर्थ सुबन्त के साथ अव्ययीभाव समास होता है। अव्ययीभाव समास के बाद शब्द नपुंसक हो जाता है अतः दीर्घान्त शब्द भी ह्रस्वान्त हो जाता है और अव्यय हो जाने के कारण विभक्तियों का लुक् हो जाता है। केवल अदन्त शब्द से आगे पञ्चमी विभक्ति को छोड़कर सभी विभक्तियों के स्थान में 'अम्' आदेश हो जाता है। किन्तु यह अमादेश तृतीया और सप्तमी में विकल्प से होता है। यथा—

---

१ "प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्" "उपसर्जनं पूर्वम्"। (पा० सू०)

लतायाम् इति अधिलतम् ; हरौ इति अधिहरि; विष्णोः समीपम् उपविष्णु; नद्याः समीपम् उपनदम्, उपनदि ; वधूम् प्रति प्रतिवधु; मातरं प्रति प्रतिमातृ; गोः समीपम् उपगु; सुहृदः समीपम् उपसुहृदम् उपसुहृत् ; आत्मनि इति अध्यात्मम् ; राज्ञः समीपम् उपराजम् चर्मणः समीपम् उपचर्मम्—उपचर्म इत्यादि। इन उपर्युक्त उदाहरणों को देखने से अव्ययीभाव समास की निम्नलिखित विशेषताएँ प्रकट होती हैं—

(क) पूर्वपद प्रायः अव्यय रहता है। किन्तु 'शाकस्य लेशः शाकप्रति' इत्यादि में पर पद ही अव्यय है और 'उन्मत्तगङ्गम् इत्यादि में एक भी पद अव्यय नहीं है।

(ख) इस समास में नपुंसकलिङ्ग होता है। इसलिये दीर्घान्त शब्द भी ह्रस्वान्त हो जाता है।

(ग) अकारान्त अव्ययीभाव के परे विभक्तियों के स्थान में पञ्चमी को छोड़कर 'अम्' आदेश हो जाता है केवल तृतीया और सप्तमी में विकल्प से अमादेश होता है।

(घ) यह समास अव्यय हो जाता है। अतः अकारान्त भिन्न अव्ययीभाव से परे विभक्तियों का लुक् (लोप) हो जाता है।

(ङ) झयन्त अव्ययीभाव विकल्प से अकारान्त हो जाते हैं।

(च) अन्नन्त अव्ययीभाव अकारान्त हो जाते हैं। किन्तु अन्नन्त यदि नपुंसक हो तो विकल्प से वहाँ टच् होता है, अर्थात् अकारान्त होता है।

(छ) इस समास में 'उन्मत्तगङ्गम्' इत्यादि कुछ शब्दों को छोड़कर प्रायः पूर्व पद का ही अर्थ प्रधान रहता है।

(ज) वाक्य में प्रायः अव्ययीभाव का प्रयोग क्रियाविशेषण की तरह होता है।

(३) तत्पुरुष
(Determinative Compound)

तत्पुरुष समास के पहले दो भेद करते हैं—

(क) व्यधिकरण (या, असमानाधिकरण) तत्पुरुष।

(ख) समानाधिकरण तत्पुरुष (या, कर्मधारय)।

(क) व्यधिकरण तत्पुरुष के निम्नलिखित भेद और उपभेद किये जाते हैं—

(१) प्रथमा तत्पुरुष [(क) साधारण प्र० त०, (ख) एकदेशि-तत्पुरुष और (ग) प्रादितत्पुरुष।]

(२) द्वितीया तत्पुरुष।

(३) तृतीया तत्पुरुष [(क) साधारण तृ० त०, (ख) अलुक् तृ० त०]।

(४) चतुर्थी तत्पुरुष [(क) साधारण च० त०, (ख) अलुक् च० त०]।

(५) पञ्चमी तत्पुरुष [(क) साधारण प० त०, (ख) अलुक् प० त०]।

(६) षष्ठी तत्पुरुष [(क) साधारण ष० त०, (ख) अलुक् ष० त०]।

(७) सप्तमी तत्पुरुष [(क) साधारण स० त०, (ख) अलुक् स० त०]।

(८) उपपद तत्पुरुष।

(९) गति तत्पुरुष।

(१०) मयूरव्यंसकादि तत्पुरुष।

(ख) समानाधिकरण या कर्मधारय के निम्नलिखित भेद और उपभेद हैं—

(१) साधारण (कर्मधारय) [(क) विशेषणपूर्वपदक, (ख) विशेष्यपूर्वपदक, (ग) विशेषणोभयपदक, (घ) विशेष्योभयपदक]।

(२) उपमान तत्पुरुष।

(३) उपमित तत्पुरुष।

(४) 'मयूरव्यंसकादि' तत्पुरुष [(क) रूपक समास (ख) साधारण]।

(५) मध्यमपदलोपी तत्पुरुष।

(६) प्रादि तत्पुरुष।

(७) 'नञ्' तत्पुरुष।

(८) उपपद तत्पुरुष।

(९) द्विगु समास [(क) तद्धितार्थक द्विगु (ख) उत्तरपद द्विगु (ग) समाहार द्विगु]।

(क) व्यधिकरणतत्पुरुष

विभिन्न अधिकरण (अभिधेय=वाच्यार्थ) वाले शब्द, जो भिन्न-भिन्न व्यक्ति या वस्तु के बोध कराने के लिए प्रयुक्त होते हैं, व्यधिकरण कहलाते हैं और उनसे बने तत्पुरुष को व्यधिकरण तत्पुरुष कहते हैं।

(१) प्रथमा तत्पुरुष—

यदि पूर्वपद प्रथमान्त और उत्तरपद अप्रथमान्त रहे तो उस तत्पुरुष को प्रथमातत्पुरुष कहते हैं।

(क) साधारण 'प्रथमातत्पुरुष'—(प्रथमान्त) कालवाचक शब्द का [षष्ठयन्तोपच्छेद्यार्थक] किसी शब्द के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास होता है[1]। जैसे—मासो जातस्य यस्य सः=मासजातः (शिशुः) [जिसे जन्म लिए एक मास बीता है वह (बच्चा) मास स्, जात अस्=मासजातः] सप्ताहः अनुपस्थितस्य यस्य सः=सप्ताहानुपस्थितः (छात्रः) [एक हफ्ते से अनुपस्थित लड़का]

(ख) एकदेशि तत्पुरुष [प्रथमान्त+षष्ठयन्त]—पूर्व, अपर, अधर, उत्तर रूप अवयववाचक सुबन्त शब्दों का अवयविवाचक षष्ठी-एकवचनान्त पद के साथ तत्पुरुष समास हो[2]। कायस्य पूर्वम्

---

१. "कालाः परिमाणिना"। (पा० सू०)

२. "पूर्वपराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे"। (पा० सू०)

=पूर्वकायः [शरीर का पूर्व भाग]। अपरं कायस्य=अपरकायः इत्यादि ।

समांशवाची (ठीक आधा अर्थ वाले) नित्य नपुंसक सुबन्त 'अर्ध' शब्द का षष्ठी-एकवचनान्त अवयविवाचक पद के साथ एकदेशि-तत्पुरुष समास होता है[1]। जैसे—पटस्य अर्धम्=अर्धपटः । मासस्य अर्धम्=अर्धमासः इत्यादि ।

किसी भी अवयववाचक सुबन्त पद का षष्ठी-एकवचनान्त काल-वाचक शब्द के साथ एकदेशितत्पुरुष होता है। जैसे—कालस्य पूर्वम् =पूर्वकालः । अह्नः पूर्वम्, मध्यम्, परम्, अपरम्, सायं वा (क्रम से) =पूर्वाह्णः, मध्याह्नः, पराह्णः, अपराह्णः, सायाह्नो वा। यहाँ 'अहन्' के स्थान में 'अह्न' आदेश हो जाता है। रात्रेः पूर्वम्, मध्यम्, अपरं, पश्चिमं वा=पूर्वरात्रः, मध्यरात्रः, अपररात्रः, पश्चिमरात्रो वा इत्यादि ।

(ग) प्रादितत्पुरुष—'गत' आदि अर्थों में विद्यमान प्रादि अव्ययों का किसी भी प्रथमान्त या अप्रथमान्त पद के साथ जो समास होता है उसे प्रादितत्पुरुष कहते हैं[2]। जैसे—प्रगतः दक्षिणम्=प्रदक्षिणम्। [प्रगतः आचार्यः=प्राचार्यः। यह तो समानाधिकरण का उदाहरण है। यह आगे बतलाया जायगा। अतिक्रान्तः इन्द्रियाणि=अतीन्द्रियः (पदार्थः) [इन्द्रियों से न जानने योग्य पदार्थ]। जैसे—अवक्रुष्टः कोकिलया=अवकोकिलः (बालः) [कोयल से चिढ़ाया लड़का]। परिग्लानः अध्ययनाय=पर्यध्ययनः (छात्रः) [पढ़ने से उदास विद्यार्थी]। निर्गतः चिन्तायाः=निश्चिन्तः (जनः) इत्यादि ।

(२) द्वितीया तत्पुरुष [द्वितीयान्त+प्रथमान्त]—

किसी भी द्वितीयान्त पद का श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त, प्राप्त, आपन्न इतने सुबन्त पदों के साथ तत्पुरुष समास होता है[3]।

---

१. "अर्धं नपुंसकम्" । (पा० सू०)

२. "कुगतिप्रादयः" (पा० सू०) प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया, अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया, पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या । (वा०)

३. "द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः" (पा० सू०)

जैसे—कृष्णं श्रितः=कृष्णश्रितः। दुःखम् अतीतः=दुःखातीतः कू
पतितः=कूपपतितः इत्यादि।

(३) तृतीया तत्पुरुष [तृतीयान्त+प्रथमान्त]—

(क) साधारण तृतीया तत्पुरुष—(क) कर्तृवाचक तथा (ख) करण वाचक तृतीयान्त पद का कृदन्तप्रकृतिक सुबन्त पद के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास होता है[1]। जैसे—(क) कृष्णेन पालितः=कृष्ण पालितः। (ख) कुठारेण छिन्नः=कुठारच्छिन्नः इत्यादि।

(ख) अलुक् तृतीया तत्पुरुष—ओजस्, सहस्, अम्भस्, तमस् आदि कतिपय शब्दों से परे तृतीया समास में विभक्ति का अलुक् हो जाता है। अलुक् होने पर भी एक पद हो जाने के कारण यह समास ही है यथा—ओजसाकृतम्; सहसाकृतम्; अम्भसास्नातम्; तमसावृत इत्यादि ऐसे ही पुंसानुजः] पुत्र पर का पुत्र] और जनुषान्धः [जन्म से अन्धा] आदि प्रयोग होते हैं[2]।

(४) चतुर्थी तत्पुरुष [चतुर्थ्यन्त+प्रथमान्त]—

(क) साधारण चतुर्थी तत्पुरुष—(क) विकृतिवाचक चतुर्थ्यन्त शब्द का तदर्थक (अर्थात् उसके प्रकृतिवाचक) सुबन्त के साथ विकल्प से तथा (ख) चतुर्थ्यन्त पद का अर्थ शब्द के साथ नित्य ही एवं (ग) चतुर्थ्यन्त पद का सुवन्त बलि, हित, सुख और रक्षित शब्दों के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास होता है। जैसे—(क) कुण्डलाय कनकम्=कुण्डलकनकम्; यूपाय दारु=यूपदारु। (ख) तस्मै इदम्=तदर्थम्; कन्यायै इयं=कन्यार्था, छात्राय अयम्=छात्रार्थः (ग) देव्यै बलिः=देवी बलिः; छात्राय हितम्=छात्रहितम् इत्यादि[3]।

---

१. "कर्तृकरणे कृता बहुलम्"। (पा० सू०)

२. "ओजः सहोऽम्भस्तमसस्तृतीयायाः"। (पा० सू०) 'पुंसानुजो जनुषान्ध इति च'। (पा० सू०)

३. "चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः"। (पा० सू०)

(ख) अलुक् चतुर्थी तत्पुरुष—यथा—आत्मनेपदम्; परस्मैपदम्; आत्मनेभाषा; परस्मैभाषा[1]।

(५) पञ्चमी तत्पुरुष [पञ्चम्यन्त+प्रथमान्त]—

(क) साधारण पञ्चमी तत्पुरुष—किसी भी पञ्चम्यन्त पद का सुबन्त भय, भीत, भीति और भी शब्दों के साथ विकल्प से समास होता है[2]। जैसे—पापाद् भयम्=पापभयम्, चौरात् भीतः=चौरभीतः इत्यादि।

(ख) अलुक् पञ्चमी तत्पुरुष—यथा—स्तोकान्मुक्तः, अल्पान्मुक्तः, दूरादागतः इत्यादि[3]।

(६) षष्ठी तत्पुरुष [षष्ठयन्त+प्रथमान्त]

(क) साधारण षष्ठी तत्पुरुष—किसी भी षष्ठयन्त पद का किसी भी सुबन्त पद के साथ विकल्प से समास होता है[4]। जैसे—राज्ञः पुरुषः=राजपुरुषः; पुस्तकानाम् आलयः=पुस्तकालयः इत्यादि।

(ख) अलुक् षष्ठी तत्पुरुष—यथा—चौरस्यकुलम्; वाचोयुक्तिः, पश्यतोहरः, देवानाम्प्रियः, मातुःष्वसा, मातुःस्वसा, पितुःष्वसा, पितुःस्वसा इत्यादि[5]।

(७) सप्तमी तत्पुरुष [सप्तम्यन्त+प्रथमान्त]—

(क) साधारण सप्तमी तत्पुरुष—किसी भी सप्तम्यन्त पद का शौण्डादि सुबन्तपदों के साथ तथा सिद्ध, शुष्क, पक्व और बन्ध शब्दों के साथ विकल्प से समास होता है[6]। यथा—द्यूते शौण्डः=द्यूतशौण्डः [जूए में कुशल]। कार्येषु कुशलः=कार्यकुशलः; वनेसिद्धः=वन-

---

१. "वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः" "परस्य च"। (पा० सू०)

२. "पञ्चमी भयेन"। (पा० सू०) भयभीतभीतिभीभिरिति वाच्यम्। (वा०)

३. "पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः"। (पा० सू०)

४. "षष्ठी"। "षष्ठ्या आक्रोशे"। (पा० सू०)

५. वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्ति-दण्ड-हरेषु, देवानां प्रिय इति मूर्खे च (वा०) "विभाषा स्वसृपत्योः"। (पा० सू०)

६. "सप्तमी शौण्डैः" "सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च"। (पा० सू०)

सिद्धः; आतपे शुष्कम्=आतपशुष्कम्; घृते पक्वम्=घृतपक्वम्; बन्धः=चक्रबन्धः इत्यादि।

(ख) अलुक् सप्तमी तत्पुरुष—यथा—युधि स्थिरः=युधि हृदि स्पृक्=हृदिस्पृक्; कर्णे जपः=कर्णेजपः इत्यादि[1]।

(७) उपपद तत्पुरुष [तृतीयान्त या षष्ठयन्त या सप्तम्यन्त असुबन्त कृदन्त]—

जब धातु में अपने से पूर्व किसी सुबन्त पद के रहने पर ही प्र लगता है तब उस सुबन्त पद का नाम 'उपपद' होता है। ऐसे सु उपपदों का असुबन्त कृदन्त शब्द के साथ तत्पुरुष समास होता यथा—पार्श्वाभ्यां शेते=पार्श्वशयः [पार्श्वाभ्याम् शयः (शी+अ पार्श्वशयः=करवट सोनेवाला]। कुम्भं करोति इति कुम्भ [कुम्भ अस् कारः (कृ+अण्) कुम्भकारः[2]=घड़ा बनाने वाला गिरौ शेते गिरिशयः [गिरि इ, शयः=गिरिशयः=पर्वत पर वाला]।

(९) गति तत्पुरुष—

प्र, परा आदि अव्यय जब क्रियापद के साथ आते हैं त उपसर्ग तथा गति कहलाते हैं। यह सामान्य प्रकरण में बत गया है। किन्तु यहाँ ऊरी, उररी आदि अव्यय; च्वि, डाच् प्र यान्त शब्द; आदर और अनादर अर्थों में क्रमशः सत् और अ भूषण अर्थ में 'अलम्' इत्यादि शब्द क्रिया योग में गतिसंज्ञक हैं। इन पदों को जब क्त्वा प्रत्ययान्त क्रियापदों के साथ "कु प्रादयः" सूत्र से नित्य समास होता है तब वह समास गतित कहलाता है। समास करने के बाद 'क्त्वा' के स्थान में 'ल्यप्'

---

१. "हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्" "हृद्द्युभ्यां च" "तत्पुरुषे कृति लम्"। (पा० सू०)

२. 'कुम्भं करोति' इस लौकिक विग्रह में क्रियापद तिङन्त है इस द्वितीया का प्रयोग हुआ और अलौकिक विग्रह में 'कार' कृदन्त है षष्ठी का प्रयोग होता है।

जाता है और तुक् (त्) का आगम हो जाता है। यथा—ऊरी+कृत्वा=ऊरीकृत्य=स्वीकार करके। अशुक्लं शुक्लं कृत्वा=शुक्लीकृत्य=जो उजला नहीं है उसे उजला करके। पटत् इति कृत्य=पटपटाकृत्य='पटपटा' शब्द करके। सत्कृत्य, असत्कृत्य, अलंकृत्य इत्यादि। इसी तरह साक्षात्कृत्य, जीविकाकृत्य, वशेकृत्य इत्यादि प्रयोग होते हैं।

(१०) मयूरव्यंसकादि तत्पुरुष [मयूरव्यंसकादयश्च (पा० सू०)]—

मयूरव्यंसकादि गण में आये हुए शब्द तथा अन्यान्य कतिपय शब्दों की समासकार्यपूर्वक निष्पत्ति इस सूत्र से होती है। इनमें कुछ शब्दों का समास नित्य है और कुछ का अनित्य। इनके विग्रह भी विभिन्न प्रकार से होते हैं। जैसे—नास्ति किञ्चन यस्य सः=अकिञ्चनः (निर्धन)। नास्ति कुतोऽपि भयं यस्य सः=अकुतोभयः (निर्भय)। उदक् च अवाक् च=उच्चावचम् (विविध)। कां दिशं गच्छामीति य आह सः=कान्दिशीकः (डर से भागा हुआ)। अहं श्रेष्ठः अहं श्रेष्ठः इति भावना अहमहमिका। यत् किमपि ऋच्छ्यते यस्यां सा यदृच्छा। खादत मोदत इत्येवं सततं यत्राभिधीयते सा क्रिया=खादतमोदता इत्यादि। तदेव=तन्मात्रम्, पुत्रेण तुल्यः पुत्रनिभः में नित्य समास है। यहाँ तक व्यधिकरण तत्पुरुष का विवेचन किया गया है।

(ख) समानाधिकरण तत्पुरुष या कर्मधारय समास [The Appositional compounds]—

"तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः" (पा० सू०) समान (तुल्य) अधिकरण (अभिधेय=वाच्यार्थ) वाले शब्द जो एक ही व्यक्ति या वस्तु का बोध करने के लिये प्रयुक्त होते हैं वे एक दूसरे के समानाधिकरण कहलाते हैं और उनसे बने तत्पुरुष समानाधिकरण तत्पुरुष या कर्मधारय कहलाते हैं। इनमें समान विभक्ति तो रहती है और यथासम्भव लिङ्ग और वचन में भी समानता रहती है।

(१) साधारण कर्मधारय [प्रथमान्त+प्रथमान्त]—

(क) विशेषणपूर्वपदक [विशेषणं विशेष्येण बहुलम् (पा० सू०)]—

विशेषण सुबन्त पद विशेष्य सुबन्त पद के साथ बहुल (अनियत) रूप से समस्त होता है और उस समास का नाम कर्मधारय समास होता है। यथा—पीतं वस्त्रम्=पीतवस्त्रम् (पीला कपड़ा)। नीलम् कमलम्=नीलकमलम् (नीला कमल)। महान् देवः=महादेवः[1] इत्यादि। किन्तु 'कृष्णसर्पः' (गेहुमन साँप) यहाँ नित्य ही समास होता है और 'रामो जामदग्न्यः' यहाँ समास होता ही नहीं है।

समानाधिकरण में 'पूर्व' तथा 'अपर' से अतिरिक्त दिग्वाचक शब्दों का और एक से अतिरिक्त संख्यावाचक विशेषण शब्दों का समास तभी होता है जब उसके द्वारा किसी संज्ञा का बोध होता है[2]। जैसे—उत्तरकोशलः (अयोध्या)। सप्तर्षयः (मरीच्यादि सात मुनि) इसलिए 'उत्तरगृहे' और पञ्चछात्राणाम् इत्यादि प्रयोग अशुद्ध हैं।

किन्तु पूर्वसागरः, अपरपयोधिः, एकनाथः इत्यादि होते ही हैं[3]।

(ख) विशेष्यपूर्वपदक [प्रथमान्त+प्रथमान्त]—विशेष्यवाचक 'युवन्' शब्द का खलति, पलित, वलिन, जरती शब्दों के साथ तथा कुमार शब्द का श्रमणादि शब्दों के साथ समास होता है[4]। इस समास में विशेष्य का ही पूर्व प्रयोग होता है। यथा—युवा खलतिः =युवखलतिः (खल्वाट युवक)। युवापलितः=युवपलितः (सिर के सफेद केश वाला युवक)। कुमारी श्रमणा=कुमारश्रमणा[5](संन्यस्ता कुमारी) इत्यादि।

---

१. "आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः" (पा० सू०) महत् शब्द के तकार के स्थान में आकार हो जाता है।

२. "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" (पा० सू०)।

३. "पूर्वापर-प्रथम-चरम-जघन्य-समान-मध्य-मध्यम-वीराश्च" "पूर्वकालैक सर्वजरत्-पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन" (पा० सू०)।

४. "युवाखलति पलितवलिनजरतीभिः"।

५. "कुमारः श्रमणादिभिः" (पा० सू०) 'पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु' (पा० सू०) से कर्मधारय में पुंवद्भाव हो जाता है।

(ग) विशेषणोभयपदक [प्रथमान्त + प्रथमान्त]—वर्णवाचक प्रथमान्त पदों का परस्पर कर्मधारय समास होता है। जैसे—नीलश्चासौ पीतश्च = नीलपीतः (कुछ नीला कुछ पीला)[1]।

नञ् रहित क्त प्रत्ययान्त शब्दों का नञ सहित क्त प्रत्ययान्त के साथ कर्मधारय होता है[2]। यथा-कृतं च तद् अकृतं च = कृताकृतम् (कार्यम्) =किया और वही फिर न किया हुआ अपूर्ण काम]। ऐसे ही पठितापठितम्, श्रुताश्रुतः इत्यादि।

पूर्वकालिक क्रियाबोधक क्त प्रत्ययान्त शब्दों का उत्तरकालिक क्रियाबोधक अन्य क्त प्रत्ययान्त शब्दों के साथ कर्मधारय होता है। यथा–पूर्वं स्नातः पश्चात् अनुलिप्तः = स्नातानुलिप्तः। ऐसे ही पीतोद्वान्तम्, दृष्टगृहीता, श्रुताभ्यस्तः इत्यादि।

(घ) विशेष्योभयपदक [प्रथमान्त + प्रथमान्त]—जहाँ दोनों विशेष्यों में एक विशेष्य का विशेषण वत् प्रयोग हो वहाँ यह कर्मधारय होता है। यथा–आम्रश्चासौ वृक्षश्च=आम्रवृक्षः; शिशपापादपः; वायसौ च तौ दम्पती च = वायसदम्पती इत्यादि।

(२) उपमानतत्पुरुष [उपमानानि सामान्यवचनैः (पा० सू०)]

[उपनीयते अनेन इति उपमानम् (जिससे उपमा दी जाती है वह उपमान कहलाता है)। उपमीयते यः स उपमेयः (जिसको किसी की उपमा दी जाती है वह उपमेय या उपमित कहलाता है)। उपमान और उपमेय दोनों में समान रूप से रहनेवाला गुण सामान्य वा साधारण धर्म कहलाता है। जैसे–घन इव श्यामः कृष्णः' इसमें घन उपमान, कृष्ण उपमेय और श्यामता सामान्य धर्म है।] उपमानवाचक सुबन्त साधारण धर्मवाचक सुबन्त के साथ समस्त होते हैं और उस समास का नाम उपमान तत्पुरुष होता है। इसमें उपमान का ही पूर्व प्रयोग होता है। जैसे—घन इव श्यामः = घनश्यामः (मेघ-सा काला)। विद्युदिव चञ्चला = विद्युच्चञ्चला (बिजली-सी चञ्चल) इत्यादि।

---

१. "वर्णो वर्णेन (पा० सू०)

२. "क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ्" (पा० सू०)

(३) उपमित तत्पुरुष [उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्र
(पा० सू०)]

उपमित या उपमेयवाचक शब्द व्याघ्रादि उपमानवाचक शब्दों साथ समस्त होते हैं, यदि सामान्य धर्म का प्रयोग नहीं रहता है, उस समास का नाम उपमित तत्पुरुष होता है। इसमें उपमित का पूर्व प्रयोग होता है। जैसे—पुरुषः व्याघ्रः इव=पुरुषव्याघ्रः (पुरुष)। नरः सिंह इव=नरसिंहः। मुखं कमलमिव=मुखकमल मुखचन्द्रः इत्यादि। सामान्य धर्म के प्रयोग रहने पर 'पुरुषो व्या इव शूरः'। यहाँ समास नहीं होता है।

(४) मयूरव्यंसकादि समास [मयूरव्यंसकादयश्च (पा० सू०)

(क) रूपक समास, या रूपक कर्मधारय—जहाँ एक वस्तु व्यक्ति दूसरी वस्तु या व्यक्ति मान लिया जाता है वहाँ दोनों के बो प्रथमान्त शब्दों का समास होता है और वह समास रूपक समास लाता है। जैसे—पुरुष एव व्याघ्रः=पुरुषव्याघ्रः (पुरुषरूपी बाघ) मुखमेव चन्द्रः=मुखचन्द्रः (मुखरूपी चन्द्रमा)। राम एव नाराय रामनारायणः। भाष्यम् एव अब्धिः=भाष्याब्धिः इत्यादि।

नोट—'रूपक समास' और 'उपमित समास' से बने शब्दों के रूपमें कोई अन्तर नहीं होता, अन्तर होता है केवल दोनों के लौ विग्रह और अर्थ में। रूपक समास में उत्तरपदार्थ प्रधान रहता है उपमित समास में पूर्वपदार्थ। इसलिए यदि वाक्य में समस्त प अन्वित दूसरे पद का अर्थ उस सामासिक महापद के उत्तर पदा सम्बन्ध रखता हो तो 'रूपक समास' और पूर्व पदार्थ से रखता हो 'उपमित समास' और उभयपदार्थ से रखता हो तो दोनों स समझने चाहिए। जैसे—'मुखचन्द्रः उदितः रूपक समास। मुखच चुम्बनम्' उपमित समास। 'मुखचन्द्रं पश्य रूपक वा उपमित समा

(ख) साधारण [अनित्य और नित्य समास]—मयूरो व्यं =मयूरव्यंसकः आदि अनित्य समास हैं। कुछ शब्द ऐसे बने

मयूरव्यंसकादि से जिन में उत्तर पद समास में ही प्रयुक्त होता है लौकिक विग्रह में नहीं अतः ये अस्वपद विग्रह नित्यसमास कहलाते हैं। जैसे—अन्यः ग्रामः=ग्रामान्तरम्। अन्यः राजा=राजान्तरम्। सर्वे प्राणिनः=प्राणिमात्रमित्यादि।

(५) मध्यमपदलोपी तत्पुरुष ['शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्' (वा०)]

जब समस्त पूर्वपद के साथ असमस्त पद का कर्मधारय समास होता है तब 'शाकपार्थिवादि' गण वाले शब्द के मध्यवर्ती पद का लोप हो जाता है और समास मध्यमपदलोपी कहलाता है। जैसे-[शाकम् प्रियं यस्य सः=शाकप्रियः (बहुव्रीहि)] शाकप्रियः पार्थिवः=शाकपार्थिवः (वह राजा जिसे तरकारी प्रिय है)। [देवस्य पूजकः] देवपूजकः ब्राह्मणः=देवब्राह्मणः। चतुरधिकाः दश=चतुर्दश इत्यादि।

(६) प्रादितत्पुरुष ["कुगतिप्रादयः" 'प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया']।

प्रादि अव्ययों का समास प्रथमान्त पदों के साथ गताद्यर्थ में या उससे भिन्न अर्थ में होता है और उस समास का नाम प्रादि कर्मधारय होता है। यथा—प्रगतः आचार्यं=प्राचार्यः (प्रधानाचार्य)। प्रकृष्टो भावः=प्रभावः, अनुगतो भावः=अनुभावः। प्रगतः पितामहः=प्रपितामहः। शोभनः पुरुष=सुपुरुषः। दुष्टो जनः=दुर्जनः इत्यादि।

(७) नञ्तत्पुरुष ['नञ्' (पा० सू०) नञ्+प्रथमान्त]

'नञ्' अव्यय का सुबन्त पद के साथ तत्पुरुष समास होता है। 'नञ्' में नकार का लोप हो जाता है। यदि उत्तरपद अजादि रहता है तो नुट् (न्) का आगम होकर 'अन्' बन जाता है[1]। जैसे—न हिंसा= अहिंसा। न अश्वः=अनश्वः। न राजा=अराजा[2]। न सखा=असखा। न पन्थाः=अपथम्—अपन्थाः[3] किन्तु न स्त्री पुमान्=नपुंसकम्। न क्षत्रम्=नक्षत्रम् इत्यादि में न लोप नहीं होता है।

---

१. "नलोपो नञः" "तस्मान्नुडचि"। (पा० सू०)

२. "नञस्तत्पुरुषात्" नञ् से परे समासान्त नहीं होता है।

३. किन्तु नञ् से परे भी पथिन् में विकल्प से समासान्त होता है। "पथो विभाषा" (पा० सू०)

(८) उपपदतत्पुरुष [प्रथमान्त+असुबन्त कृदन्त]

उत्तानः शेते=उत्तानशयः। उत्ताना शेते=उत्तानशया। पन्नं गच्छति इति पन्नगः [पन्न स् ग (गम्+ड)]। ध्वाङ्क्ष इव रौति= ध्वाङ्क्षरावी [ध्वाङ्क्ष स्—राविन् (रु+णिनि)] इत्यादि।

(९) द्विगुसमास ["तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" 'संख्यापूर्वो द्विगुः']

(क) तद्धितार्थ के विषय में, (ख) उत्तरपद के परे और (ग) समाहार वाच्य रहने पर जो संख्यावाचक शब्द के साथ समास होता है उसे द्विगु समास कहते हैं। अतः इसके तीन भेद होते हैं।

(क) तद्धितार्थ द्विगु [होनेवाले तद्धितप्रत्ययार्थ के विषय में]— जहाँ भविष्य में तद्धित प्रत्यय करना रहता है उस प्रत्यय के अर्थ में संख्यावाचक विशेषण पद का किसी भी विशेष्य पद के साथ समास कर दिया जाता है और उस समास का नाम होता है 'तद्धितार्थ द्विगु'। यथा—द्वयोः मात्रोः अपत्यं पुमान्=द्वैमातुरः (गणेश) [द्वि ओस् मातृ ओस्=द्विमातृ+अण्]। षण्णां मातॄणामपत्यं पुमान्=षाण्मातुरः (कार्तिकेय)।

(ख) उत्तरपद द्विगु [उतरपद के परे होनेवाला द्विगु] तीन पदों के समास (बहुव्रीहि वा तत्पुरुष) में उसके उत्तरपद के पूर्व दोनों पदों में प्रथम संख्यावाचक विशेषण हो तो उसका मध्यवर्ती विशेष्य पद के साथ समास हो जाता है जिसका नाम 'उत्तरपद द्विगु' होता है। यथा—पञ्च गावः धनं यस्य सः=पञ्चगवधनः [पञ्चन् अस्- गो अस्—धन स् (द्विगुगर्भ बहुव्रीहि)] 'पञ्चगव' में तत्पुरुष होने के कारण "गोरतद्धितलुकि" (पा० सू०) से टच् (अ) हो गया है। अतः गो+अ=गव हो गया है। द्वे अहनी जातस्य सः=द्व्यह्नजातः [द्वि औ—अहन् औ—जात अस् (द्विगुगर्भतत्पुरुष)]। 'द्व्यह्न' में तत्पुरुष होने ही से "अह्नोऽह्न एतेभ्यः" (पा० सू०) से 'अहन्' के स्थान में 'अह्न' आदेश हो गया है।

(ग) समाहार द्विगु [समूहार्थ वाच्य रहने पर होनेवाला द्विगु] समास से समूह अर्थ प्रगट करने के लिए संख्यावाचक विशेषण पद का

का किसी भी विशेष्य पद के साथ समास होता है और उसको 'समाहार द्विगु' कहते हैं।

समाहार द्विगु में साधारणतः नपुंसक और एकवचन रहता है[1]। जैसे—पञ्चानां गवां समाहारः=पञ्चगवम्। दशानां नावाम् समाहारः =दशनावम्[2]। किन्तु

(क) अकारान्त उत्तरपद से बना समाहार द्विगु साधारणतः स्त्रीलिङ्ग होता है[3]। यथा—पञ्चानां मूलानां समाहारः=पञ्चमूली। त्रयाणां लोकानां समाहारः=त्रिलोकी। सप्तशती, अष्टाध्यायी इत्यादि।

(ख) पात्र, भुवन, युग आदि कतिपय शब्द उत्तरपद में रहने पर समाहार द्विगु नपुंसक ही रहते हैं[4]। यथा—पञ्चपात्रम्, त्रिभुवनम्, चतुर्युगम्, सप्तदिनम्, त्रिपथम्।

(ग) 'आप्' प्रत्ययान्त उत्तरपद से बना समाहार द्विगु विकल्प से स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसक दोनों होता है[5]। यथा—पञ्चखट्वी—पञ्चखट्वम्। पञ्चाजी—पञ्चाजम्।

तत्पुरुष समास के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य विषय—'राजन्, अहन्, सखि' शब्दान्त तत्पुरुष के अन्त में समासान्त टच् (अ) प्रत्यय लगता है[6]। यथा—देवानां राजा=देवराजः। महाँश्चासौ राजा=महाराजः। वसन्तस्य अहः=वसन्ताहः। इन्द्रस्य सखा=इन्द्रसखः। राजानमतिक्रान्तः =अतिराजः। सखायमतिक्रान्तः=अतिसखः। किन्तु शोभनो राजा सुराजा। शोभनः सखा=सुसखा। अतिशयितः राजा=अतिराजा[7]। अतिशयितः सखा=अतिसखा। कुत्सितः पुरुषः=कुपुरुषः। कुत्सितो

---

१. "स नपुंसकम्" "द्विगुरेकवचनम्"। (पा० सू०)

२. "नावो द्विगोः" (पा० सू०) नौ शब्दान्त द्विगुसे टच् होता है।

३. 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः' (वा०)

४. 'पात्राद्यन्तस्य न'। [वा०]

५. "आबन्तो वा"। [वा०]

६. "राजाहःसखिभ्यष्टच्"। [पा० सू०]

७. "न पूजनात्" [पा० सू०] "स्वतिभ्यामेव"। [वा०]

राजा किंराजा। ऐसे ही किंसखा, किंगौः "किमः क्षेपे" (पा० सू०) से समासान्त का निषेध हो जाता है। किन्तु कश्चासौ राजा=किंराजः। कुत्सितः अश्वः=कदश्वः। कदन्नम्। अजादि उत्तरपद हो तो 'कु' का 'कत्' आदेश होता है। "कोः कत् तत्पुरुषेऽचि"।

अहन्, सर्व, अवयववाचक, संख्यात, पुण्य, संख्यावाचक तथा अव्यय इतने शब्दों से परे 'रात्रि' शब्दान्त तत्पुरुष के अन्त में 'अच्' होता है[1]। यथा—अहश्च रात्रिश्च=अहोरात्रः[2] (यहाँ द्वन्द्व समास में ही अच् हुआ है)। सर्वा रात्रिः=सर्वरात्रः। पुण्या रात्रिः=पुण्यरात्रः। एकरात्रः। द्वयोः रात्र्योः समाहारः=द्विरात्रम्[3]। अतिक्रान्तः रात्रिमतिरात्रः इत्यादि।

'ऋच्—पुर्—अप्—धुर्—पथिन्' शब्दान्त समासमात्र के अन्त में 'अ' प्रत्यय लगता है। "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" (पा० सू०) यथा—ऋचः अर्धम्=अर्धर्चः, अर्धर्चम्। हरेः पूः=हरिपुरम्। सतां पन्थाः सत्पथः इत्यादि।

तत्पुरुषसमास-सम्बन्धी पूर्वोक्त विचारों पर दृष्टिपात करने से निम्नलिखित विशेषताएँ प्रगट होती हैं।

(१) यह समास प्रायः दो पदों का होता है।

(२) इस समास का लिङ्ग साधारणतः उत्तरपद के अनुसार होता है। "परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः" (पा० सू०)

(३) इस समास में प्रायः उत्तरपद का अर्थ प्रधान रहता है। 'उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः'।

(४) वाक्य में तत्पुरुष का प्रयोग प्रायः उत्तरपद के स्वरूपानुसार होता है।

---

१. "अहःसर्वैकदेश संख्यात-पुण्याच्च रात्रेः" (पा० सू०)

२. "रात्राह्नाहाः पुंसि" (पा० सू०) रात्र, अह्न और अह शब्दान्त तत्पुरुष पुंलिङ्ग होते हैं।

३. 'संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम्' (पा० सू०)

(४) बहुव्रीहि समास

(Attributive Compounds)

"शेषो बहुव्रीहिः" (पा० सू०)

उक्त से अन्य शेष कहलाता है। "द्वितीयाश्रितातीत" "तृतीया तत्कृतार्थेन" इत्यादि सूत्रों से द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी षष्ठी और सप्तमी विभक्तियों में तत्तत् नाम लेकर तत्पुरुष समास विहित है। इन उक्त समासों से भिन्न हुआ प्रथमान्त पदों के साथ समास कहीं भी 'प्रथमा' यह नाम लेकर विहित नहीं है। अतः अनेक प्रथमान्त पदों का अन्य पदार्थ (समस्यमान पदातिरिक्त पद के अर्थ) में विद्यमान रहने पर जो समास होता है उसे बहुव्रीहि समास कहते हैं। किन्तु इससे अतिरिक्त स्थलों में भी बहुव्रीहि होता है। बहुव्रीहि समास के मुख्यतः तीन भेद हो सकते हैं—

(क) अन्यपदार्थक [जहाँ अन्य पदार्थ प्रधान रहता है]

(ख) पूर्वपदार्थक [जहाँ पूर्वपद का अर्थ प्रधान रहता है]

(ग) अन्यतर पदार्थक [जहाँ दोनों पदों में किसी एक का अर्थ प्रधान रहता है]

(क) अन्यपदार्थक बहुव्रीहि के निम्नलिखित भेद हो सकते हैं—

(१) समानाधिकरण बहुव्रीहि [(क) साधारण। (ख) मध्यमपद लोपी]

(२) व्यधिकरण बहुव्रीहि [(क) साधारण। (ख) दिगन्तराल-लक्षण। (ग) कर्मव्यतिहार-लक्षण।]

(ख) पूर्वपदार्थक बहुव्रीहि के निम्निलिखित दो भेद हैं—

(१) 'सह' पूर्वपदक बहुव्रीहि। (२) संख्योत्तरपदक बहुव्रीहि।

(क) अन्यपदार्थक बहुव्रीहि—"अनेकमन्यपदार्थे" (पा० सू०)—समस्यमान पदों से बहिर्भूत किसी अप्रथमान्त पद के अर्थ में विद्यमान अनेक प्रथमान्त पदों का समास होता है और उस समास का नाम बहुव्रीहि है।

(१) समानाधिकरण बहुव्रीहि—(क) साधारण—

प्राप्तं धनं यम् सः=प्राप्तधनः पुरुषः [प्राप्त स् धन स्=प्राप्तधनः]।

कृतं कार्यं येन सः=कृतकार्यः पुरुषः [कृत स्–कार्य स्=कृतकार्यः]

दत्तं धनं यस्मै सः=दत्तधनः जनः [दत्त स्–धन स्=दत्तधनः]।

पतितं पत्रं यस्मात् सः=पतितपत्रस्तरुः [पतितस्—पत्र स्= पतितपत्रः]।

पीतम् अम्बरं यस्य सः=पीताम्बरः हरिः [पीतस्—अम्बरस्= पीताम्बरः]।

वीराः पुरुषाः यस्मिन् सः=वीरपुरुषकः ग्रामः [वीर अस्—पुरुष-अस्=वीरपुरुषः]।

(ख) मध्यमपदलोपी [जहाँ मध्य के पद का लोप हो जाता है]

१. प्रादि (उपसर्ग) पूर्वक धातुज विशेषण प्रथमान्त पदों का किसी भी प्रथमान्त पदों के साथ बहुव्रीहि समास होता है और धातुज शब्दों का विकल्प से लोप होता है[१]। यथा—प्रपतितं पर्णं यस्मात् स प्रपर्णः या, प्रपतितपर्णः वृक्षः उन्नतं मस्तकं यस्याः सा=उन्मस्तका या, उन्नतमस्तका स्त्री।

२. 'नञ्' पूर्वक विद्यमानार्थक प्रथमान्त विशेषण शब्दों के साथ किसी भी प्रथमान्त पद का बहुव्रीहि होता है और विद्यमानार्थक शब्दों का विकल्प से लोप होता है[२]। यथा—अविद्यमानः पुत्रः यस्य सः= अपुत्रः वा अविद्यमानपुत्रः।

समानाधिकरण बहुव्रीहि में स्त्रीलिङ्ग शब्द के पूर्ववर्ती अनियत स्त्रीलिङ्ग विशेषण शब्द का पुंवत् रूप हो जाता है[३]। यथा—सुन्दरी भार्या यस्य सः=सुन्दरभार्यः। युवतिः पत्नी यस्य सः=युवपत्नीकः। महती शोभा यस्य सः=महाशोभः इत्यादि।

---

१. 'प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः'। (वा०)

२. 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः'। (वा)

३. "स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणी प्रियादिषु"। (पा० सू०)

किन्तु 'ऊङ्' प्रत्ययान्त, तद्धित सम्बन्धी तथा 'वु' सम्बन्धी ककारोपध, पूरणवाचक, स्वाङ्गवाचक ईकारान्त; तथा जातिवाचक स्त्रीलिङ्ग शब्द का और प्रियादि शब्द के पूर्ववर्ती स्त्रीलिङ्ग शब्द का पुंवद्भाव नहीं होता है[1]। यथा—वामोरूभार्यः। रसिकाभार्यः। पाचिकाभार्यः। किन्तु पाका (बाला) भार्या यस्य सः=पाकभार्यः, यहाँ 'तद्धित' तथा 'वु' सम्बन्धी ककार नहीं होने के कारण पुंवद्भाव हो ही जाता है। पञ्चमीभार्यः। सुकेशीभार्यः। शूद्राभार्यः। तथा सुन्दरीप्रियः, सुशीलाकान्तः इत्यादि।

बहुव्रीहि समास में नञ् , दुः और सु के बाद प्रजा तथा मेधा शब्दों में समासान्त असिच् (अस्) होता है। जैसे—अविद्यमाना प्रजा यस्य सः=अप्रजाः। ऐसे ही दुष्प्रजाः, सुप्रजाः। अमेधाः दुर्मेधाः सुमेधाः।

बहुव्रीहि के उत्तरपदभूत धर्म शब्द में 'अनिच्' प्रत्यय होने से 'धर्मन्' हो जाता है। यथा—सुधर्मा; सुधर्माणौ, प्रियधर्मा इत्यादि।

बहुव्रीहि के उत्तरपदभूत धनुष् शब्द में 'अनङ्' होने से शार्ङ्गधन्वा, पुष्पधन्वा आदि; 'जाया' शब्द में 'निङ्' होने से युवतिर्जाया यस्य स 'युवजानिः', राधाजानिः, सीताजानिः इत्यादि; स्वाङ्गवाचक अक्षि और सक्थि; शब्दों में षच् (अ) होने से 'कमलम् इव अक्षि यस्य सः=कमलाक्षः', स्त्रीविशेष्य में कमलाक्षी, दीर्घे सक्थिनी यस्य सः=दीर्घसक्थः इत्यादि होते हैं।

बहुव्रीहि के उत्तरपद में समासान्त कप् (क) विकल्प से होता है, किन्तु यदि उत्तरपद में ऋकारान्त तथा नदी संज्ञक (दीर्घ ईकारान्त तथा ऊकारान्त) शब्द हो या उरस् सर्पिस् आदि शब्द हो तो 'क' नित्य ही होता है। यथा—बहुमालाकः, बहुमालकः, बहुमालः। इसी प्रकार अमातृको बालः, बहुनदीको देशः, नववधूको युवा, व्यूढम् उरः यस्य सः=व्यूढोरस्कः इत्यादि में भी नित्य ही 'क' होता है।

---

१. प्रियादि शब्द—प्रिया, मनोज्ञा, कल्याणी, सुभगा, दुर्भगा, भक्तिः, सचिवा, स्वसा, कान्ता, क्षान्ता, समा, चपला, दुहिता, वामा, अबला, तनया।

(२) व्यधिकरण बहुव्रीहि (क) साधारण [प्रथमान्त+अप्रथमान्त]—

बहुव्रीहि में सप्तम्यन्त और विशेषण का पूर्व प्रयोग होता है[1]। यहाँ सप्तम्यन्तपद का पूर्वप्रयोग-विधान सूचित करता है कि 'व्यधिकरणानामपि बहुव्रीहिः' अर्थात् व्यधिकरण पदों का भी बहुव्रीहि होता है। यथा—दण्डः पाणौ यस्य सः=दण्डपाणिः। कण्ठे कालो यस्य सः= कण्ठेकालः। चन्द्रः शेखरे यस्य सः=चन्द्रशेखरः। मृगस्येव नयने यस्याः सा=मृगनयना [हरिण की सी आँखोंवाली[2]]।

(ख) दिगन्तराललक्षण—"दिङ्नामान्यन्तराले" (पा० सू०)। [षष्ठयन्त+षष्ठयन्त]

यदि दो दिशाओं का अन्तराल (मध्यवर्ती कोण) बतलाना रहे तो उन दोनों दिशावाचक संज्ञा शब्दों में बहुव्रीहि होता है जैसे-दक्षिणस्याः पूर्वस्याश्च दिशः अन्तरालं विदिक्=दक्षिणपूर्वा (आग्नेय कोण)। पूर्वोत्तरा। उत्तरपूर्वा इत्यादि।

(ग) कर्मव्यतिहार (क्रिया विनिमय) लक्षण। "तत्र तेनेदमिति सरूपे" (पा० सू०)।

शरीर के किसी अंग को पकड़कर परस्पर युद्ध हुआ–ऐसे अर्थ को प्रगट करने के लिए उस अङ्गवाचक समानरूप वाले दो सप्तम्यन्त पदों का, अथवा लाठी घूँसे आदि की मार से परस्पर युद्ध हुआ—ऐसा अर्थ प्रगट करने के लिये उस सामग्री के बोधक समान रूपवाले तृतीयान्त दो पदों का समास होता है और उसे कर्मव्यतिहार-लक्षण-बहुव्रीहि कहते हैं।

---

१. "सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ" (पा० सू०)।

२. इन उपर्युक्त उदाहरणों में दूसरे प्रकार से भी समास बतलाये जाते हैं। सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च' सप्तम्यन्त तथा उपमान पूर्वपदवाले समस्त पदों का दूसरे पदों के साथ समास होता है और पूर्व समस्त पदों के उत्तरपद का लोप हो जाता है। जैसे—कण्ठेस्थः कालो यस्य सः कण्ठेकालः। मृगस्य नयने इव नयने यस्याः सा=मृगनयना इत्यादि।

नोट—इस समास के अन्त में (तद्धित) 'इच्' (इ) प्रत्यय लगता है। इस समास के पूर्व पद का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है। यह अव्ययी भाव भी कहलाता है। समस्त पद अव्यय हो जाता है। जैसे – केशेषु केशेषु (शत्रुम्) गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तम्=केशाकेशि (झोंटा झोंटी लड़ाई)। कर्णाकर्णि। बाहूबाहवि। दण्डैः दण्डैश्च (शत्रुम्) प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तम्=दण्डादण्डि (लाठा लाठी लड़ाई)। मुष्टीमुष्टि इत्यादि।

[ख] पूर्वपदार्थक बहुव्रीहि

(१) 'सह' पूर्वपदक बहुव्रीहि "तेन सहेति तुल्ययोगे" (पा० सू०)।

तृतीयान्त पद के साथ 'सह' अव्यय का बहुव्रीहि समास होता है। यहाँ 'तुल्ययोग' [अर्थात् एक क्रिया ही में अन्वित होना] आवश्यक नहीं है। यथा-पुत्रेण सह=सपुत्रः सहपुत्रो वा आगतः पिता। सशिष्यः-सहशिष्यः। सकर्मकः। सलोमकः। सशिखः।

नोट—आशीर्वाद वाक्य न हो तो इस समास में 'सह' शब्द का विकल्प से 'स' होता है। किन्तु आशीर्वाद में "स्वस्ति राज्ञे सह पुत्राय सहामात्याय"। परन्तु गो-वत्स हल शब्दों के साथ 'स' आदेश आशीर्वाद अर्थ में भी होता है। जैसे—"सगवे सवत्साय सहलाय राज्ञे स्वस्ति"।

(२) संख्योत्तरपद—"संख्याऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये" (पा० सू०)।

संख्येय पदार्थ बोधक संख्यावाचक पद के साथ अव्यय पद आसन्न-अदूर अधिक तथा संख्यावाचक शब्द का बहुव्रीहि समास होता है।

नोट—इस समास के अन्त में समासान्त 'डच्' (अ) प्रत्यय लगता है और 'टि' का लोप हो जाता है। किन्तु 'विंशति' शब्द में 'ति' का ही लोप हो जाता है। यथा—दशानां समीपे ये सन्ति=उपदशाः (नौ या ग्यारह)। विंशतेः आसन्नाः=आसन्नविंशाः (बीस के करीब)। त्रिंशतः अदूराः=अदूरत्रिंशाः (तीस के निकट)। चत्वारिंशतः अधिकाः=अधिकचत्वारिंशाः=(चालीस से ऊपर)। द्विः आवृत्तं शतम्= द्विशतम् (दो सौ)।

[ग] अन्यतरपदार्थक बहुव्रीहि

दो संख्याओं में से किसी एक संख्या का बोध कराने के लिए दो संख्यावाचक पदों का बहुव्रीहि होता है। यथा—एको वा द्वौ वा=एकद्वौ (एक या दो)। द्वौ वा त्रयो वा=द्वित्राः। त्रयो वा चत्वारि वा=त्रिचतुराः। यहाँ अच् हुआ है। चत्वारि वा पञ्च वा=चतुःपञ्चानि इत्यादि।

पूर्वोक्त सभी विवेचनों से साधारण बहुव्रीहि समास की निम्नलिखित विशेषताएँ प्रकट होती हैं—

(१) यह दो या दो से अधिक पदों का समास होता है।

(२) इसका लौकिक विग्रह पूर्ण वाक्यात्मक होता है।

(३) इसमें विशेषण शब्द पूर्व और विशेष्य शब्द पीछे आता है।

(४) इस समास से बने शब्द विशेषण होते हैं और उनका लिङ्ग विशेष्य के अनुसार होता है।

(५) अन्य पद का अर्थ इस में प्रधान होता है।

(५) द्वन्द्व समास

[The Copulative Compounds]

"चार्थे द्वन्द्वः" (पा० सू०)

अनेक (दो या दो से अधिक) सुबन्त जब 'च' के अर्थ में विद्यमान रहते हैं तब उनमें द्वन्द्व समास विकल्प से होता है। 'च' के चार अर्थ होते हैं "समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः।"

(१) परस्पर निरपेक्षस्य अनेकस्य एकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः। अर्थात् जहाँ उद्देश्यपद एक दूसरे से स्वतन्त्र होकर विधेयपद से अन्वित होते हैं वहाँ 'चार्थ' समुच्चय रूप होता है और वहाँ एक ही 'च' का प्रयोग किया जाता है। यथा—"ईश्वरं गुरुं च भजस्व"। किन्तु समुच्चय में समास नहीं होता है।

(२) अन्यतरस्यानुषङ्गिकत्वेऽन्वाचयः। अर्थात् जहाँ 'च' द्वारा अन्वित एक पदार्थ प्रधान और दूसरा गौण रहता है वहाँ चार्थ 'अन्वाचय' रूप रहता है और वहाँ भी एक ही च का प्रयोग किया जाता है। जैसे—'भिक्षामट गाञ्च आनय'। अन्वाचय में भी समास नहीं होता है।

(३) मिलितानामन्वय इतरेतरयोगः। अर्थात् जहाँ उद्देश्य पद परस्पर सम्बद्ध होकर विधेय पद से अन्वित होते हैं वहाँ 'च' का अर्थ इतरेतरयोग होता है। यथा—रामश्च कृष्णश्च रामकृष्णौ तौ भजस्व। इस में समास होता है।

(४) समूहः समाहारः। अर्थात् जहाँ समूह अर्थ प्रकट होता है वहाँ चार्थ समाहार है। जैसे—हस्तौ च पादौ च इत्येतेषां समाहारः हस्तपादम्। इस में भी द्वन्द्व समास होता है।

इन पूर्वोक्त विचारों से स्पष्ट होता है कि द्वन्द्व समास के दो भेद हैं—(क) इतरेतर द्वन्द्व और (ख) समाहार द्वन्द्व।

(क) इतरेतरयोग द्वन्द्व में यदि दो पदों का समास होगा तो समस्त पद से द्विवचन और दो से अधिक पदों का समास होने पर बहुवचन होता है। उत्तरपद का जो लिङ्ग रहता है वही समस्त पद का लिङ्ग होता है। यथा—रामश्च लक्ष्मणश्च इत्येतयो-रितरेतर-योग-द्वन्द्वः = रामलक्ष्मणौ। रामलक्ष्मणौ च भरतशत्रुघ्नौ च इत्येतेषामितरेतर-योगः = रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्नाः। पुत्रश्च कन्या च इति पुत्रकन्ये। धनञ्च जनश्च यौवनञ्च इति धन-जन-यौवनानि इत्यादि।

(ख) समाहार में समास करने पर समस्त पद से एकवचन और नपुंसक ही होता है। यथा—संज्ञा च परिभाषा च इत्यनयोः समाहारः संज्ञापरिभाषम्। दधि च दुग्धञ्च घृतञ्च इत्येतेषां समाहारः दधिदुग्ध-घृतमित्यादि।

कुछ स्थलों को छोड़कर साधारणतः सभी जगहों में इतरेतरयोग तथा समाहार द्वन्द्व होते है।

निम्नलिखित शब्दों का इतरेतरयोग द्वन्द्व ही होता है—दधि च पयश्च=दधिपयसी। मधु च सर्पिश्च=मधुसर्पिषी। वाक् च मनश्च=वाङ्मनसे। ऋक् च साम च—ऋक्सामे इत्यादि।

निम्नलिखित शब्दों का समाहार द्वन्द्व ही होता है।

(१) प्राणी के अङ्गवाचक शब्दों का प्राण्यङ्गवाचक शब्दों के साथ[1]; जैसे—पाणी च पादौ च=पाणिपादम्।

(२) तूर्याङ्ग (वादक=बाजा बजानेवाला) वाचक शब्दों का; जैसे—मार्दङ्गिकाश्च पाणविकाश्च=मार्दङ्गिकपाणविकम्।

(३) सेनाङ्गवाचक शब्दों का; जैसे—रथिकाश्च अश्वारोहाश्च=रथिकाश्वारोहम्।

(४) द्रव्यजातीय शब्दों का; यथा—आम्रपनसम्। अपूपपायसम्।

(५) क्षुद्र जन्तुओं के (नेवले से छोटे जितने हैं उनके); यथा—यूकालिक्षम्।

(६) शाश्वतिक विरोधवाले प्राणियों के; यथा—अहिश्च नकुलश्च=अहिनकुलम्। गोव्याघ्रम्।

(७) अवहिष्कृत शूद्रों का; यथा—तक्षायस्कारम्।

समाहार द्वन्द्व में उत्तरपद यदि चवर्गान्त, दकारान्त, षकारान्त तथा हकारान्त हो तो टच् (अ) होता है[2]। जैसे—वाक् च त्वक् च=वाक्त्वचम्। त्वक्स्रजम्। समीदृषदम्। वाक्त्विषम्। छत्रोपानहम्।

विद्यासम्बन्ध वा जन्मसम्बन्ध के बोधक ऋकारान्त शब्दों के द्वन्द्व में उत्तरपद से पूर्व का पद [आनङ् होने से] आकारान्त हो जाता है। यथा—विद्या सम्बन्ध में—होता च पोता च=होतापोतारौ। अध्येतारश्च अध्यापयितारश्च=अध्येताध्यापयितारः।

---

१. "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्" (पा० सू०)।

२. "द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे" (पा० सू०)

जन्मसम्बन्ध में—पितापुत्रौ। मातापुत्रौ और मातरपितरौ भी।

द्वन्द्वसमास में पद के पूर्व प्रयोग के सम्बन्ध में साधारणतः निम्न-लिखित व्यवस्था है—

(क) 'घि' संज्ञक (सखिभिन्न ह्रस्वइकारान्त उकारान्त) शब्द पूर्व में। यथा—हरिहरौ। गुरुसखायौ।

(ख) अजादि ह्रस्व अकारान्त शब्द पूर्व में। यथा—ईश-कृष्णौ। इन्द्राग्नी।

(ग) न्यूनतर 'स्वर' वर्णवाला शब्द पूर्व में। यथा—शिव-केशवौ।

(घ) लघु 'स्वर' वाला शब्द पूर्व में। यथा—कुशकाशम्।

(ङ) अभ्यर्हित (पूज्य) शब्द पूर्व में। यथा मुनिमृगौ। राधा-कृष्णौ।

(च) अग्रज भ्रातृ-बोधक शब्द पूर्व में। यथा—रामलक्ष्मणौ।

(छ) वर्णबोधक शब्द क्रमानुसार। यथा—ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्राः।

(ज) समानाक्षर ऋतुवाचक तथा नक्षत्रवाचक शब्द क्रमा-नुसार। यथा—हेमन्त-शिशिर-वसन्ताः। कृत्तिकारोहिण्यौ।

नोट—धर्मादि शब्दों में पूर्व प्रयोग का नियम नहीं है। अतः धर्मार्थौ—अर्थधर्मौ। आद्यन्तौ—अन्तादी इत्यादि।

पूर्वोक्त विचारों से इतरेतरयोग द्वन्द्व समास की निम्नलिखित विशेषताएँ प्रकट होती हैं—

(१) यह समास अनेक (दो या दो से अधिक) पदों का होता है।

(२) इसके विग्रह में प्रत्येक पद के साथ 'च' का प्रयोग होता है।

(३) इसका लिङ्ग उत्तरपद के अनुसार होता है।

(४) दो एक वचनान्त शब्दों के समास में समस्त पद से द्विवचन अन्यथा बहुवचन होता है।

(५) सभी पदों के अर्थ प्रधान रहते हैं।

प्रथम तथा द्वितीय विशेषताओं के अतिरिक्त—

(१) समाहार द्वन्द्व में लिङ्ग सर्वदा नपुंसक और वचन एकवचन ही होता है।

(२) इसमें समूह का अर्थ प्रधान रूप से प्रगट होता है।

पूर्वोक्त समास के भेदों के अतिरिक्त कुछ लोग समस्यमान पदों के स्वरूप के आधार पर निम्नलिखित प्रकार से समास का छः भेद बतलाते हैं।

(१) सुबन्त के सुबन्त के साथ ; यथा—राजपुरुषः आदि।
(२) सुबन्त के तिङन्त के साथ ; यथा—पर्यभूषत् आदि।
(३) सुबन्त के प्रातिपदिक के साथ ; यथा—कुम्भकारः आदि।
(४) सुबन्त के धातु के साथ; यथा—कटप्रूः, अजस्रम् आदि।
(५) तिङन्त के तिङन्त के साथ ;—यथा—पिबतखादता आदि।

(६) तिङन्त के सुबन्त के साथ; यथा-कृन्तविचक्षण आदि[1]।

एकशेषवृत्ति

[पाँच वृत्तियों में दूसरी वृत्ति]

कतिपय शब्दों का साथ उच्चारण करने पर द्वन्द्वसमास के बदले उनकी एकशेष वृत्ति होती है जिसके अनुसार उन में से एक ही शब्द का प्रयोग में उच्चारण होता है और शब्द लुप्त हो जाते हैं; किन्तु

---

१. सुपां सुपा तिङा नाम्ना धातुनाथ, तिङा तिङा।
सुबन्तेनापि च ज्ञेयः समासः षड्विधो बुधैः॥

प्रयोग में द्विवचन और बहुवचन की व्यवस्था लुप्त और शेष सब शब्दों के अनुसार होती है। एकशेष के कुछ नियम—

जिन शब्दों के रूप सब विभक्तियों में परस्पर समान होते हैं उन शब्दों का साथ उच्चारण करने पर एकशेष होता है[1]। जैसे—रामश्च रामश्च इति रामौ। रामश्च रामश्च रामश्च इति रामाः।

एक ही शब्द के स्त्रीलिङ्ग और पुंलिङ्ग दोनों रूप साथ-साथ उच्चरित हों पुंलिङ्ग शेष रह जाता है[2]। यथा—हंसश्च हंसी च इति हंसौ। पुत्रश्च पुत्री च इति पुत्रौ।

स्वसृ और दुहितृ शब्दों के साथ उच्चरित क्रमशः भ्रातृ और पुत्र शब्द शेष रह जाते हैं[3]। यथा—भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ। पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ।

मातृ शब्द के साथ उच्चरित पितृशब्द और श्वश्रूशब्द के साथ उच्चरित श्वशुर शब्द विकल्प से शेष रह जाते हैं[4]। यथा—माता च पिता च पितरौ–मातापितरौ। श्वश्रूश्च श्वशुरश्च श्वशुरौ–श्वश्रूश्वशुरौ।

यदि कोई विशेषण शब्द भिन्न-भिन्न विशेष्य के अनुसार नपुंसक और अन्य लिंग में भी साथ-साथ प्रयुक्त हो तो उन में नपुंसक विशेषण शब्द शेष रहता है और उसमें यथासम्भव द्विवचन या बहुवचन के अतिरिक्त विकल्प से एकवचन का भी प्रयोग होता है[5]। यथा—शुक्लः पटः, शुक्ला शाटी, शुक्लं वस्त्रं तदिदं शुक्लम्। तानि इमानि शुक्लानि।

---

१. "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" (पा० सू०)

२. "पुमान् स्त्रिया"।

३. "भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्" (पा० सू०)

४. "पिता मात्रा" "श्वशुरः श्वश्र्वा" (पा० सू०)

५. "नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्" (पा० सू०)

त्यदादि से भिन्न शब्दों के साथ-साथ उच्चारित त्यदादि शब्द शेष रहता है[1]। यथा—स च देवदत्तश्च तौ। माधवश्च भवाँश्च भवन्तौ। रामश्च त्वञ्च युवाम्। कृष्णश्च अहञ्च आवाम्।

नोट—एकशेष करने पर अनेक सुबन्त नहीं रहते अतः द्वन्द्व समास नहीं होता। एकशेष समास नहीं है। यह एक स्वतन्त्र वृत्ति है। इसमें वचन की व्यवस्था लुप्त और शेष सब पदों के अनुसार होती है; किन्तु लिङ्ग शेष शब्द के अनुसार ही होता है।

---

१. "त्यदादितः शेषे पुन्नपुंसकतो लिङ्गवचनानि"।

तद्धित-प्रकरण

तद्धितवृत्ति—

वृत्ति के सम्बन्ध में विचार करते हुए पूर्व में बतलाया गया है कि तद्धित भी एक वृत्ति है, क्योंकि इसमें भी अवयवार्थ से अतिरिक्त एक विशिष्ट समुदायार्थ प्रतीत होता है। यह तद्धित प्रत्यय प्रातिपदिक से होता है और तद्धितान्त शब्द पुनः प्रातिपदिक होकर सुबन्त होता है। ये तद्धित प्रत्यय अनेक तरह के हैं जो अनेक अर्थों में होते हैं। इन सबों का विवेचन तो यहाँ असम्भव है। केवल अति प्रसिद्ध प्रत्ययों में से कुछ का विवेचन यहाँ किया जायगा।

तद्धित प्रत्ययों में ञ्, ण्, क् आदि अनुबन्ध लगाये जाते हैं जिनसे प्रत्यय क्रमशः ञित् णित् कित् आदि कहलाते हैं। इन प्रत्ययों के परे प्रकृति के आदि अच् की वृद्धि हो जाती है। और अनुबन्धों के इसी तरह और प्रयोजन हैं।

(क) "तस्यापत्यम्" "अत इञ्" (पा० सू०)

साधारणतः 'तस्य अपत्यम्' (उसकी सन्तान) इस अर्थ में प्रातिपदिक से अण् (अ) प्रत्यय होता है। किन्तु प्रातिपदिक यदि ह्रस्व अकारान्त हो तो इञ् (इ) प्रत्यय होता है। यथा—यदोरपत्यं पुमान् यादवः, स्त्री यादवी। रघोरपत्यं राघवः इत्यादि। किन्तु दशरथस्य अपत्यं दाशरथिः। व्यासस्य अपत्यं वैयासकिः। वरुडस्य अपत्यं वारुडकिः इत्यादि। परन्तु वसुदेवस्य अपत्यं वासुदेवः। दितेः अपत्यं दैत्यः। अदितेः अपत्यम् आदित्यः इत्यादि। स्त्री प्रत्ययान्त शब्द से अपत्य अर्थ में ढक् (ढ=एय) प्रत्यय होता है। जैसे—विनतायाः अपत्यं वैनतेयः। पार्वत्याः अपत्यं पार्वतेयः इत्यादि।

(ख) "तेन रक्तं रागात्" (पा० सू०)

रंगवाचक शब्दों से 'तेन रक्तम्' (उससे रंगा हुआ) इस अर्थ में

अण् प्रत्यय होता है। यथा—कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायम्। माञ्जिष्ठम् इत्यादि। किन्तु लाक्षाया रक्तः पटः लाक्षिकः रौचनिकः। यहाँ ठक् (इक) प्रत्यय होता है। पीत से (कन्) पीतकम्। हरिद्रा से (अञ्) हारिद्रम्।

(ग) "नक्षत्रेण युक्तः कालः" (पा० सू०)

नक्षत्र वाचक शब्दों से 'युक्तः कालः' (नक्षत्र से युक्त काल) इस अर्थ में अण् होता है। यथा-पुष्येण युक्तम् पौषं दिनम्। पौषी रात्रिः। अश्विन्या युक्ता पूर्णिमा आश्विनी। कार्तिकी।

(घ) "सास्मिन् पौर्णमासीति" (पा० सू०)

'सा पौर्णमासी अस्मिन् अस्ति' (वह पूर्णिमा इस मास में है) इस अर्थ में अण् होता है। जैसे—पौषी पौर्णमासी अस्मिन् इति पौषो मासः। किन्तु आग्रहायणी से आग्रहायणिको मासः।

(ङ) "सास्य देवता" (पा० सू०)

'सा देवता अस्य' (वह देवता इसका) इस अर्थ में अण् होता है। यथा—इन्द्रः देवता अस्य ऐन्द्रः मन्त्रः, ऐन्द्रं हविः इत्यादि।

(च) "तस्य समूहः" (पा० सू०)

समूह अर्थ में अण् होता है। यथा—काकानां समूहः काकम्, बाकम् इत्यादि। युवतीनां समूहः यौवनम्। किन्तु हस्तिनां समूहः हास्तिकम्। धेनूनां समूहः धैनुकम्। जनानां समूहः जनता। ग्रामता। बन्धुता।

(छ) "तदधीते तद्वेद" (पा० सू०)

'उसे पढ़ता है' और 'उसे जानता है' इन अर्थों में अण् होता है। यथा—व्याकरणमधीते, वेद वा-वैयाकरणः। किन्तु न्यायम् नैयायिकः। वृत्तिम्-वार्त्तिकः। लोकायतं—लौकायतिकः इत्यादि।

(ज) "तस्य निवासः" (पा० सू०)

'उसका निवास स्थान' इस अर्थ में अण् होता है। जैसे—शिवीनां निवासो देशः शैवः। अङ्गानां निवासो जनपदः अङ्गाः, वङ्गाः, कलिङ्गाः इत्यादि।

(झ) "शेषे" (पा० सू०)

अपत्यादि पूर्व अर्थों से भिन्न अर्थों में भी प्रातिपदिकों से अण् होता है। यथा—चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं रूपम्। श्रवणेन गृह्यते श्रावणः शब्दः। अश्वैः उह्यते आश्वो रथः।

(ञ) "तत्र जातः" (ट) "तत्र भवः" (ठ) "तत आगतः" (पा० सू०)।

इन उपर्युक्त अर्थों में भी अण् प्रत्यय होता है। जैसे—मिथिलायां जातः मैथिलः (मिथिला में उत्पन्न)। पञ्चालेषु भवः पाञ्चालः। विदर्भादागतः वैदर्भः (विदर्भ बरार से आया हुआ)।

(ड) "तस्येदम्" (पा० सू०)

शत्रोः इदम्=शात्रवम्। शत्रोः अयं=शात्रवः। शत्रोः इयं शात्रवी। इन में अण् प्रत्यय हुआ है। किन्तु मम अयं=मामकः मामकीनः मदीयः। आवयोः अस्माकं वा अयम्=आस्माकः आस्माकीनः अस्मदीयः। तव अयं=तावकः तावकीनः त्वदीयः। युवयोः युष्माकं वा अयम्=यौष्माकः यौष्माकीणः युष्मदीयः। ऐसे ही स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक में।

(ढ) "तस्य विकारः" (पा० सू०)

'उससे बना हुआ' इस अर्थ में भी अण् होता है। यथा—गोधूमस्य विकारः=गौधूमः अपूपः। मृत्तिकायाः विकारः=मार्त्तिकः किन्तु गोर्विकारः=गव्यम्। पयस्यम्। यहाँ यत् होता है।

(ण) "तस्येश्वरः" (पा० सू०)

'उसका स्वामी' इस अर्थ में अण् होता है। यथा-सर्वभूमेः ईश्वरः =सार्वभौमः (चक्रवर्त्ती राजा)। पृथिव्या ईश्वरः पार्थिवः (राजा)।

(त) "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" (पा० सू०)

जिसके तुल्य क्रिया हो उसके बोधक शब्द से वति प्रत्यय होता है। ब्राह्मणेन तुल्यं ब्राह्मणवत् अधीते। क्रिया की तुल्यता ही में वति प्रत्यय होता है। इसलिए पित्रा तुल्यः स्थूलः, यहाँ 'पितृवत्' नहीं होगा। "तत्र तस्येव" 'उस स्थान की तरह' और 'उसकी तरह' इन अर्थों में

भी 'वत्' होता है। गृहे इव इति गृहवत्। वने मुनयो वसन्ति। पितुरिव इति पितृवत् पुत्रस्य साहसम्। विधिमर्हति 'विधिवत्' पूज्यते। इस अर्थ में भी वत् होता है।

यद्, तद्, एतद्, इदम् किम् इन सर्वनामों से 'परिमाण' अर्थ में 'वत्' होता है। यथा—यत् परिमाणमस्य=यावान्। तावान्। एतावान्। कियान्। इयान् इत्यादि। स्त्रीलिङ्ग में यावती इत्यादि।

(थ) "तस्य भावस्त्वतलौ" (पा० सू०)

'उसका भाव' (धर्म, स्वभाव, अवस्था आदि) इस अर्थ में प्रातिपदिक से 'त्व' तथा 'तल्' प्रत्यय होते हैं। जैसे—मनुष्यस्य भावः मनुष्यत्वम् मनुष्यता। गोर्भावः गोत्वम्, गोता इत्यादि।

नोट—'त्वान्त' शब्द नपुंसक और 'तलन्त' स्त्रीलिङ्ग होते हैं।

(द) "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" (पा० सू०)

पृथ्वादि शब्दों से 'त्व' 'तल्' 'अण्' के साथ 'इमनिच्' भी विकल्प से होता है। पृथोर्भावः पृथुत्वम्, पृथुता, पार्थवम् और प्रथिमा (विशालता)। 'इममिच्' प्रत्यय करने से निम्नलिखित रूप होते हैं। मृदु-म्रदिमा। महत्-महिमा। तनु-तनिमा। लघु-लघिमा। बहु-भूमा। गुरु-गरिमा। ह्रस्व-ह्रसिमा। दीर्घ-द्राघिमा। प्रिय-प्रेमा। अणु-अणिमा इत्यादि।

नोट—'इमनिच्' प्रत्ययान्त शब्द संस्कृत में पुल्लिङ्ग हैं।

(ध) वर्ण दृढ़ादिभ्यः ष्यञ्च (पा० सू०)

शुक्ल आदि गुणवाचक शब्दों से दृढ, भृश, कृश, वक्र, मधुर-इन शब्दों से त्व, तल्, इमनिच् के साथ ष्यञ् (य) भी होता है। जैसे—शुक्लस्य भावः=शुक्लत्वम्, शुक्लता, शुक्लिमा और शौक्ल्यम्। दृढस्य भावः दृढत्वम् दृढता, द्रढिमा और दार्ढ्यम्।

(न) गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च

विशेषणीभूत शब्द से तथा ब्राह्मणादि शब्दों से कर्म और भाव अर्थों में ष्यञ् (य) भी होता है। यथा—सुन्दरस्य कर्म भावो वा=

सौन्दर्यम् । कवेः कर्म = काव्यम् । ब्राह्मणस्य कर्म भावो वा = ब्राह्मण्यम् इत्यादि । किन्तु सख्युः भावः कर्म वा = सख्यम् । दूत्यम् । शुचेः-शौचम् । मुनेः– मौनम् इत्यादि ।

(प) 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्'' (पा० सू०)

'यह उसको हो गया' इस अर्थ में तारकादिगण–पठित शब्दों से इतच् (इत) प्रत्यय होता है । यथा—तारकाः सञ्जाताः अस्य = तारकितं गगनम् । पण्डा (सदसद्विवेकिनी बुद्धिः) संजाता अस्य = पण्डितः । पुष्पितः, दीक्षितः, गर्वितः, हर्षितः, मूर्च्छितः, निद्रितः, मुद्रित इत्यादि ।

(फ) ''तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्'' ''मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः'' ''झयः'' (पा० सू०)

'तत् अस्य अस्ति' (वह इसका है), या 'तद् अस्मिन् अस्ति' (वह इसमें है) इस अर्थ में प्रातिपदिक से मतुप् (मत्) प्रत्यय होता है । मतिः अस्ति अस्य = मतिमान्, गावः सन्ति अस्य = गोमान् । पितृमान् । अग्निमान् इत्यादि ।

'यवादि' शब्दों को छोड़कर मकारान्त–मकारोपध, अवर्णान्त—अवर्णोपध तथा झयन्त शब्दों से परे 'मतुप्' का 'म' 'व' हो जाता है । यथा—मकारान्त किंवान् । मकारोपध-लक्ष्मीवान् । अवर्णान्त-धनवान्; विद्यावान् । अवर्णोपध—यशस्वान्; भास्वान् । झयन्त—विद्युत्वान्; सुहृद्वान् । किन्तु यवादि से परे—यवमान् ; भूमिमान् । ककुद्मान् ; गरुत्मान् इत्यादि । उदक से (समुद्र अर्थ में) उदन्वान् । राजन् से (सौराज्य अर्थ में) राजन्वती पृथिवी ।

(ब) ''अत इनिठनौ'' ''व्रीह्यादिभ्यश्च'' (पा० सू०)

अदन्त प्रातिपदिक से तथा वृह्यादि शब्दों से मतुप् प्रत्यय के अर्थ में इनि (इन), ठन् (इक) प्रत्यय भी होते हैं । यथा—धनी, धनिकः । दण्डी, दण्डिकः । व्रीह्यादि से माली, शिखी, शाली । नाविकः ।

(भ) ''अस्माया मेधा स्रजो विनिः'' (पा० सू०)

असन्त शब्द माया, मेधा, स्रज् इन शब्दों से मत्वर्थ में विनि

(विन्) प्रत्यय होता है। यथा—यशस्वी। तपस्वी। मायावी। (मायी और मायिकः भी होता है)। स्रग्वी।

(म) "द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ" "अजादीगुणवचनादेव।" (पा० सू०)

दो सजातीय व्यक्तियों या वस्तुओं में जब एक का दूसरे से उत्कर्ष या अपकर्ष बतलाया जाता है तो उससे 'तरप्' (तर) और ईयसुन् (ईयस्) प्रत्यय होते हैं। इन प्रत्ययों में 'ईयसुन्' केवल गुणवाचक (विशेषण) शब्दों से ही होता है और 'तरप्' सबों से। यथा—अयमनयोः अतिशयेन पटुः=पटुतरः, पटीयान्। लघुः-लघुतरः, लघीयान्। अयमनयोः अतिशयेन विद्वान्=विद्वत्तरः। धनवत्तरः इत्यादि। यहाँ ईयसुन् नहीं होगा।

(य) "अतिशायने तमबिष्ठनौ" (पा० सू०)

जब दो से अधिक सजातीय व्यक्तियों या वस्तुओं में एक का अत्यन्त उत्कर्ष या अपकर्ष बतलाया जाता है तो उससे 'तमप्' (तम) और 'इष्ठन्' (इष्ठ) प्रत्यय होते हैं[1]। 'इष्ठन्' प्रत्यय भी ईयसुन् की तरह विशेषण शब्द से ही होता है। यथा—अयमेषामेषु वा पटुः=पटुतमः, पटिष्ठः। लघुतमः; लघिष्ठः। विद्वत्तमः, धनवत्तमः इत्यादि। इष्ठन् और ईयसुन् प्रत्यय करने पर कुछ शब्दों के रूप विशेष प्रकार के हो जाते हैं। यथा—

Posetive	Comparative	Superlative
प्रशस्य (प्रशंसनीय)	{ श्रेयान् ज्यायान्	{ श्रेष्ठः ज्येष्ठः
वृद्ध (बूढ़ा)	ज्यायान्	ज्येष्ठः
कृश (दुर्बल)	क्रशीयान्	क्रशिष्ठः
दृढ़ (पक्का)	द्रढीयान्	द्रढिष्ठः
परिवृढ (प्रधान)	परिव्रढीयान्	परिव्रढिष्ठः
पृथु (विशाल)	प्रथीयान्	प्रथिष्ठः
भृश (प्रचुर)	भ्रशीयान्	भ्रशिष्ठः

मृदु (कोमल)	म्रदीयान्	म्रदिष्ठः
अन्तिक (समीप)	नेदीयान्	नेदिष्ठः
बाढ (ठीक)	साधीयान्	साधिष्ठः
स्थूल (मोटा)	स्थवीयान्	स्थविष्ठः
दूर	दवीयान्	दविष्ठः
युवन् (युवा)	{ यवीयान् कनीयान्	{ यविष्ठः कनिष्ठः
ह्रस्व (छोटा)	ह्रसीयान्	ह्रसिष्ठः
क्षिप्र (शीघ्र)	क्षेपीयान्	क्षेपिष्ठः
क्षुद्र (छोटा, नीच)	क्षोदीयान्	क्षोदिष्ठः
प्रिय	प्रेयान्	प्रेष्ठः
स्थिर	स्थेयान्	स्थेष्ठः
स्फिर (प्रचुर)	स्फेयान्	स्फेष्ठः
उरु (विशाल)	वरीयान्	वरिष्ठः
बहुल (प्रचुर)	बंहीयान्	बंहिष्ठः
बहु ,,	भूयान्	भूयिष्ठः
गुरु (भारी)	गरीयान्	गरिष्ठः
वृद्ध	वर्षीयान्	वर्षिष्ठः
तृप्त (सन्तुष्ट)	त्रपीयान्	त्रपिष्ठः
दीर्घ (लम्बा)	द्राघीयान्	द्राघिष्ठः
वृन्दारक (मुख्य मनोहर)	वृन्दीयान्	वृन्दिष्ठः

'विन्' और 'मतुप्' प्रत्ययान्त शब्दों में ईयसुन् और इष्ठन् के परे विन् और मतुप् का लोप हो जाता है। यथा—स्रग्विन्—स्रजीयान्; स्रजिष्ठः। बलवत्-बलीयान्; बलिष्ठः इत्यादि।

(र) "कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः" (पा० सू०) 'अभूततद्भाव इति वाच्यम्' (वा०) "अस्य च्वौ" "च्वौ च" "रीङ्ऋतः" (पा० सू०)

अभूत तद्भाव में अर्थात् जो जैसा नहीं है उसके वैसा हो जाने

पर इस विकृतिवाचक शब्द से 'कृ' या 'भू' या 'अस्' धातु के योग में 'च्वि' प्रत्यय होता है।

'च्वि' से पूर्व अवर्ण का ईकार; ह्रस्व इ, उ का दीर्घ और ऋ का 'री' हो जाता है। अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोति शुक्लीकरोति। अग्रामः ग्रामः सम्पद्यते तं करोति ग्रामीकरोति। अगङ्गा गङ्गा सम्पद्यते तथा स्यात् गङ्गीस्यात्।

नोट—अव्यय को 'च्वि' परे ईत्व नहीं होता है। यथा—दोषाभूतमहः। दिवाभूता रात्रिः।

(ल) "विभाषा सातिकात्स्न्र्ये" (पा० सू०)

च्वि प्रत्यय के अर्थ में 'साति' (सात्) प्रत्यय भी विकल्प से होता है। यथा—अग्निसाद्भवति। जलसात् सम्पद्यते।

(व) "कृञो द्वितीय-तृतीय-शम्ब-बीजात् कृषौ" "संख्यायाश्च गुणान्तायाः (पा० सू०)

द्वितीय, तृतीय, शम्ब, बीज तथा द्विगुण, त्रिगुण आदि गुणान्त संख्यावाचक शब्दों से 'कृञ्' के योग में क्षेत्रकर्षणरूप अर्थ में 'डाच्' 'प्रत्यय होता है। यथा—द्वितीयं तृतीयं कर्षणं करोति=द्वितीयाकरोति। तृतीयाकरोति। शम्बाकरोति। बीजाकरोति। द्विगुणाकरोति। त्रिगुणाकरोति इत्यादि।

(श) "संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्"

क्रिया की गणना के अर्थ में संख्यावाचक शब्दों से 'कृत्वसुच्' (कृत्वस्) प्रत्यय होता है। यथा—पञ्चकृत्वः भुङ्क्ते दशकृत्वः भुङ्क्ते। पाँच बार, दशबार खाता है।

(ष) "द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्" "एकस्ये सकृच्च" (पा० सू०)

किन्तु क्रिया की गणना अर्थ में द्वि, त्रि और चतुर् शब्दों से 'सुच्' (स्) ही होता है और एक शब्द के स्थान में सुच् के साथ

'सकृत्' आदेश भी हो जाता है। यथा—द्विः त्रिः चतुर्भुङ्क्ते। सकृत् कार्यं करोति।

(स) "संख्याया विधार्थे धा" (पा० सू०)

क्रिया का या द्रव्य का भेद दिखाने के लिए संख्यावाचक शब्दों से 'धा' प्रत्यय होता है। यथा—अमुं धान्यराशिं द्विधा कुरु=अनाज के उस ढेर को दो भागों में बाँटो। स इमं श्लोकं पञ्चधा व्याचष्टे। ऐसे ही एकधा, त्रिधा, चतुर्धा, षोढा, सप्तधा इत्यादि।

(ह) द्वित्र्योश्च धमुञ् "एधाच्च" (पा० सू०)

द्वि और त्रि शब्द से पूर्वोक्त अर्थ में 'धा' की जगह धमुञ् और 'एधाच्' भी होते हैं। यथा—द्वैधम्-द्वेधा, त्रैधम्-त्रेधा।

द्विरुक्त प्रकरण

प्रयोजनवश वाक्य में किसी-किसी पद को दुहराकर बोला जाता है जिसे द्विरुक्त कहते हैं।

"नित्यवीप्सयोः" (पा० सू०)

'नित्यता' अर्थात् किसी क्रिया के बराबर होने या, बहुत होने में और (ख) वीप्सा, अर्थात् किसी पदार्थ की व्यापकता दिखाने में पदों को द्वित्व हो जाता है। यथा—(क) भुक्त्वा भुक्त्वा न तृप्तः। छात्रः ग्रामं ग्रामं गच्छति। (ख) ग्रामे ग्रामे लोकानामियं दशा। वृक्षं वृक्षं सिञ्चति।

असूया, सम्मति, कोप, कुत्सन (निन्दा) तथा भर्त्सना प्रगट करने के लिए वाक्य के आदि में सम्बोधन पद की द्विरुक्ति होती है[1]। यथा असूया—सुन्दर ! सुन्दर ! वृथा ते सौन्दर्यम्। सम्मति—देव ! देव ! वन्द्योऽसि। कोप—दुर्विनीत ! दुर्विनीत ! इदानीं ज्ञास्यसि। कुत्सन—धानुष्क ! धानुष्क ! वृथा ते धनुः। भर्त्सना—चोर ! चोर ! घातयिष्यामि त्वाम्।

भय और आदर प्रकट करने के लिए तो पदों की द्विरुक्ति नहीं

---

१. "वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासंमति-कोपकुत्सनभर्त्सनेषु" (पा०सू०)

त्रिरुक्ति भी हो जाती है[1]। यथा—सर्पः सर्पः सर्पः, पश्य पश्य पश्य। गुरुर्गुरुर्गुरुः, आनय आनय आनय आसनम्।

क्रिया का विनिमय दिखाने के लिए इतर, अन्य और पर इन सर्वनाम शब्दों में द्वित्व होता है और समासवद्भाव आदि कार्य होने पर निम्नलिखित रूप होते हैं। इतर—इतरेतरः, इतरेतरे, इतरेतरस्मै इत्यादि सर्वनाम। पर-परस्परः, परस्परौ; परस्परे इत्यादि सर्वनाम शब्दवत्। इनके तीनों लिङ्गों में रूप होंगे।

---

१. 'संभ्रमेण प्रवृत्ती यथेष्टमनेकधा प्रयोगो न्यायसिद्धः (वा०)।

तिङन्त-प्रकरण

[Conjugation of verbs]

(क) धातु

उन क्रियावाचक भू, गम्, कृ आदि को धातु कहते हैं जिन में 'तिङ्' और 'कृत्' प्रत्यय के योग से भवति, गच्छति, करोति आदि 'तिङन्त' और गन्ता, कर्ता, कारकः आदि कृदन्त पद बनते हैं। ये धातु दो तरह के हैं—(१) मूलधातु (Primitive roots) (२) सनाद्यन्त धातु (Derivative roots)। मूल धातु की संख्या लगभग दो हजार है।

(ख) गण[१]

ये धातु १० गणों में विभक्त हैं। जिन-जिन धातुओं में एक तरह की प्रक्रिया होती है वे एक गण में रखे गये हैं। प्रत्येक गण के आरम्भ के धातु से गण का नाम रखा गया है। इसलिए 'भू' धातु से आरम्भ होनेवाला गण (१) भ्वादि; 'अद्' से (२) अदादि; 'हु' से (३) जुहोत्यादि; 'दिव्' से (४) दिवादि; 'सु' से (५) स्वादि; 'तुद्' से (६) तुदादि; 'रुध्' से (७) रुधादि; 'तन्' से (८) तनादि; 'क्री' से (९) क्र्यादि और 'चुर्' से (१०) चुरादि कहलाता है।

(ग) सकर्मक और अकर्मक

सकर्मक धातु उसे कहते हैं जिसके फल और व्यापार पृथक् पृथक् रहते हैं[२]। यथा—रामः वनं गच्छति। यहाँ 'जाना' रूप व्यापार राम

---

१. भ्वाद्यदादिजुहोत्यादिदिवादिस्वादयस्तथा।
तुदादिश्च रुधादिश्च तनादि क्र्यादिरेव च ॥
चुरादिश्चेति धातूनां गणा दश समीरिताः ॥

२. फल-व्यधिकरण-व्यापार-वाचकत्वम् सकर्मकत्वम्।

में है और उसका फल 'वन-संयोग' यह वन में है। जहाँ फल और व्यापार दोनों एक ही में रहें उस को अकर्मक कहते हैं[1]। जैसे–बालक हसति। यहाँ हँसना व्यापार और उसका फल एक ही बालक में है। साधारणतः लजाना, रहना, ठहरना, जागना, बढ़ना, क्षय होना, डरना जीना, मरना, सोना, खेलना, रुचना, प्रकाशित होना—इतने अर्थवाले धातु अकर्मक होते हैं[2]।

(घ) परस्मैपदी, आत्मनेपदी और उभयपदी

जिन धातुओं से तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप्, वस् और मस् ये परस्मैपद की नौ विभक्तियाँ आती हैं, उन्हें 'परस्मैपदी' धातु कहते हैं और जिनसे त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहिङ् और महिङ्, ये नौ आत्मनेपद की विभक्तियाँ आती हैं, वे 'आत्मनेपदी' धातु कहलाते हैं तथा जिन से उपर्युक्त १८ विभक्तियाँ आती हैं, वे 'उभय-पदी धातु कहलाते हैं।

(ङ) तिङ् और तिङन्त

'तिप्' से लेकर महिङ् पर्यन्त इन उपर्युक्त १८ विभक्तियों को 'तिङ्' कहते हैं और तिङ् जिसके अन्त में हो उसे 'तिङन्त'। यह 'तिङ्' लकार के स्थान में होता है।

(च) काल (TENSES)

तिङन्तपद के प्रयोग में काल का विचार आवश्यक है। 'भूत', 'वर्त-मान' और 'भविष्यत्' के भेद से काल तीन प्रकार का होता है। जो काल बीत चुका है उसे भूत काल कहते हैं और उस काल की बोधक क्रिया को भूतकालिक क्रिया। जो काल अभी है उसे वर्तमान काल कहते हैं तथा उसकी प्रतिपादक क्रिया को वर्तमानकालिक क्रिया। जो

---

१. फलसमानाधिकरण-व्यापार-वाचकत्वम् अकर्मकत्वम्।

२. लज्जा-सत्ता-स्थिति-जागरणं, वृद्धि-क्षय-भय-जीवन-मरणम्।
शयन-क्रीड़ा-रुचि-दीप्त्यर्थं धातुगणं तमकर्मकमाहुः॥

३. परस्मैपद और आत्मनेपद के लिए सामान्य प्रकरण देखिए।

समय आगे आने वाला है उसे भविष्यत् काल कहते हैं एवं उसकी बोधक क्रिया को भविष्यत्कालिक क्रिया। भूतकाल के भूत, अनद्यतनभूत और परोक्षभूत, ये तीन भेद होते हैं। भविष्यत् के अनद्यतन भविष्यत् और साधारण भविष्यत्, ये दो भेद हैं। इस तरह काल के ६ भेद होते हैं।

(छ) लकार[1]

इन्हीं उपर्युक्त कालों तथा आज्ञा, विधि आदि कतिपय अर्थों (Moods) के आधार पर दश लकार होते हैं। यथा— १ लट्, २ लिट्, ३ लुट्, ४ लृट्, ५ लेट्, ६ लोट्, ७ लङ्, ८ लिङ् (विधिलिङ् और आशीर्लिङ्), ९ लुङ् तथा १० लृङ्। इनमें वर्तमान (Present) में लट्; परोक्ष भूत (Perfect) में लिट्; अनद्यतन भविष्यत् (Periphrastic future) में लुट्; भविष्यत् (Future) में लृट्; लिङर्थ (Subjective Mood) में लेट्; आज्ञा आदि (Imperative Mood) में लोट्; अनद्यतन भूत (Imperfect) में लङ्; विध्यादि अर्थ (Potential) में विधिलिङ्; आशीर्वाद (Benedicetive) में आशीर्लिङ्; भूत (Aorist) में लुङ् तथा सङ्केत (Conditional) में लृङ् लकार होता है। इनमें 'लेट्' लकार का प्रयोग केवल वेद ही में होता है।

ये लकार सकर्मक धातुओं से कर्ता और कर्म में तथा अकर्मक धातुओं से कर्ता और भाव में होते हैं[2]।

नोट—कृदन्त क्रियापदों के साथ भी वाच्य प्रयोगों का यही नियम है, यह स्मरण रखना चाहिए।

(ज) कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य

जहाँ 'कर्ता' प्रधान रूप से वाच्य रहता है वहाँ सकर्मक या अकर्मक

---

१. लट् वर्तमाने लेट् वेदे भूते लुङ् लङ् लिटस्तथा।
विध्याशिषोस्तु लिङ् लोटौ लुट् लृट् लृङ् च भविष्यति॥

२. "लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः" (पा० सू०)

धातु से कर्ता में लकार (तिङ्) होता है और तिङन्त क्रियापद कर्ता के अनुसार बदलता है। इसी को कर्तृवाच्य (Active voice) कहते हैं। जहाँ 'कर्म' प्रधान रूप से वाच्य रहता है वहाँ सकर्मक धातु से कर्म में लकार होता है और क्रियापद कर्म के अनुसार बदलता है। इसको कर्मवाच्य (Passive voice) कहते हैं और जहाँ 'भाव' (क्रिया) प्रधान रहता है वहाँ अकर्मक धातु से भाव में लकार (तिङ्) होता है और क्रियापद नित्य एकवचनान्त ही रहता है। इसको भाववाच्य (Impersonal Construction) कहते हैं। जैसे—कर्तृवाच्य—छात्रः विद्यालयं गच्छति। कर्मवाच्य—छात्रेण विद्यालयः गम्यते। भाववाच्य-छात्रेण हस्यते। यहाँ कर्ता और कर्म में आनेवाली विभक्तियों के लिए कारक प्रकरण स्मरण रखना चाहिए।

(झ) पुरुष

प्रथमपुरुष, मध्यमपुरुष और उत्तमपुरुष, ये तीन पुरुष होते हैं। कतृवाच्य में युष्मद् और अस्मद् शब्दों के प्रथमान्त रूपों से अतिरिक्त शब्दों के साथ प्रथमपुरुष होता है। जैसे—छात्रः पठति। पुस्तकम् अस्ति इत्यादि। ऐसे ही कर्मवाच्य में युष्मद् और अस्मद् से अतिरिक्त कर्म रहने पर प्रथमपुरुष होता है। यथा—छात्रेण पुस्तकं पठ्यते। प्रथमपुरुष में तिप्, तस्, झि तथा त, आताम्, झ, ये विभक्तियाँ आती हैं। युष्मद् शब्द का प्रथमान्त रूप यदि कर्तृवाच्य में कर्ता या कर्मवाच्य में कर्म हो तो उसके साथ मध्यमपुरुष होता है। जैसे-त्वं पठसि, मया त्वं पाठ्यसे। मध्यम पुरुष में-सिप्, थस्, थ तथा थास्, आथाम्, ध्वम् ये विभक्तियाँ आती हैं। ऐसे ही 'अस्मद्' शब्द के प्रथमान्त रूप यदि कतृवाच्य में कर्ता या कर्मवाच्य में कर्म हों तो उनके साथ उत्तमपुरुष होता है। जैसे-अहं पठामि। त्वया अहं पाठ्ये। उत्तमपुरुष में मिप्, वस्, मस्, तथा इट्, वहिङ्, महिङ् ये विभक्तियाँ आती हैं।

(ञ) वचन

इन पूर्वोक्त प्रथम, मध्यम तथा उत्तम पुरुषों में एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन, ये तीन वचन होते हैं। कर्तृवाच्य में कर्ता में एकवचन,

द्विवचन एवं बहुवचन रहने पर क्रमशः पुरुषों में एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन होते हैं। कर्मवाच्य में कर्म के वचन के अनुसार क्रिया में वचन होता है। जैसे—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	स पठति	तौ पठतः	ते पठन्ति
मध्यमपुरुष	त्वं पठसि	युवां पठथः	यूयं पठथ
उत्तमपुरुष	अहं पठामि	आवां पठावः	वयं पठामः
प्र० पु०	तेन स पाठ्यते	तेन तौ पाठ्येते	तेन ते पाठ्यन्ते
म० पु०	तेन त्वं पाठ्यसे	तेन युवां पाठ्येथे	तेन यूयं पाठ्यध्वे
उ० पु०	तेन अहं पाठ्ये	तेन आवां पाठ्यावहे	तेन वयं पाठ्यामहे

(ट) 'सेट', 'अनिट्' और 'वेट्' धातु

जिस धातु के लुट् लकार में 'इट्' होता है वह 'सेट्' जिसके 'लुट्' में इट् नहीं होता वह 'अनिट्' और जिसमें विकल्प से इट् होता है वह 'वेट्' कहलाता है।

(ठ) विकरण

[प्रकृतिप्रत्यययोर्मध्ये यः पतितः स विकरणः]

लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् इन चारों लकारों में धातु के बाद और तिङ् के पूर्व गण भेद बतलाने वाले प्रत्ययों को विकरण कहते हैं ये निम्नलिखित प्रकार के हैं—

गण विकरण	गण विकरण
१ भ्वादि—शप्=अ	६ तुदादि—श=अ
२ अदादि—शप्लुक्=०	७ रुधादि—श्नम्=न
३ जुहोत्यादि—शप् श्लु=०	८ तनादि—उ
४ दिवादि—श्यन्=य	९ क्र्यादि—श्ना=ना
५ स्वादि—श्नु=नु	१० चुरादि—णिच्=इ+शप्=अ

इन १० गणों में भ्वादि, दिवादि, तुदादि तथा चुरादि इन चारों

गणों के 'विकरण' अकारान्त हैं, अतः विकरण के साथ इनके रूपों में बहुत साम्य है। इसके अतिरिक्त गणों में साम्य नहीं है। यह आगे के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा।

(ङ) तिङ् विभक्ति का स्वरूप

लट् लकार

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	ए०	द्वि०	ब०	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	ति	तः	अन्ति[1]	ते	आते[2]	अन्ते[3]
म० पु०	सि	थः	थ	से	आथे[2]	ध्वे
उ० पु०	मि[4]	वः	मः	ए[5]	वहे	महे

लृट् लकार

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	ए०	द्वि०	ब०	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	स्यति	स्यतः	स्यन्ति	स्यते	स्येते	स्यन्ते
म० पु०	स्यसि	स्यथः	स्यथ	स्यसे	स्येथे	स्यध्वे
उ० पु०	स्यामि	स्यावः	स्यामः	स्ये	स्यावहे	स्यामहे

---

१. अदादि गण के 'जक्ष्, जागृ, दरिद्रा, शास्, चकास्, दीधी, वेवी'—इन सात धातुओं के उत्तर तथा जुहोत्यादि गण के सकल धातुओं के उत्तर 'अन्ति' के स्थान में 'अति' का प्रयोग होता है।

२. अकार के परे यह 'आकार' इकार हो जाता है।

३. अकार भिन्न वर्ण से परे 'अन्ते' की जगह 'अते' का प्रयोग होता है।

४. मि, वः, मः, वहे तथा महे के पूर्व ह्रस्व अकार दीर्घ 'आ' हो जाता है।

५. इस 'ए' के पूर्व 'अकार' रहे तो उसे पररूप होता है।

लोट् लकार

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	ए०	द्वि०	ब०	ए०	द्वि०	ब०
प्र० पु०	तु–तात्	ताम्	अन्तु	ताम्	आताम्	अन्ताम्
म० पु०	हि–तात्[1]	तम्	त	स्व	आथाम्[2]	ध्वम्
उ० पु०	आनि	आव	आम	ऐ	आवहै	आमहै

लङ् लकार[3]

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
प्र० पु०	त्	ताम्	अन्	त	आताम्	अन्त
म० पु०	स् (:)	तम्	त	थाः	आथाम्	ध्वम्
उ० पु०	अम्	व	म	इ	वहि	महि

विधिलिङ्

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
प्र० पु०	यात्	याताम्	युः	ईत	ईयाताम्	ईरन्
म० पु०	याः	यातम्	यात	ईथाः	ईयाथाम्	ईध्वम्
उ० पु०	याम्	याव	याम	ईय	ईवहि	ईमहि

भ्वादिगणीय धातुओं के रूप

'भू' धातु (होना) [परस्मैपदी, अकर्मक, सेट्]

लट्लकार

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र० पु०	भवति	भवतः	भवन्ति

---

१. 'तात्' के साथ वैकल्पिक प्रयोग आशीर्वाद अर्थ में होता है ।

२. 'अकार' से परे यह 'आकार' इकार हो जाता है ।

३. लङ् लकार अनद्यतन भूत में होता है । बीती हुई रात के उत्तरार्द्ध से लेकर आनेवाली रात के पूर्वार्द्ध तक के समय को 'अद्यतन' कहते हैं, उससे भिन्न को 'अनद्यतन' । ऐसे भूत में लङ् होता है । अतः 'अद्य प्रातः ग्राममगच्छत्' यह अशुद्ध है ।

म० पु०	भवसि	भवथः	भवथ
उ० पु०	भवामि	भवावः	भवामः

लृट्

प्र० पु०	भविष्यति	भविष्यतः	भविष्यन्ति
म० पु०	भविष्यसि	भविष्यथः	भविष्यथ
उ० पु०	भविष्यामि	भविष्यावः	भविष्यामः

लोट्

प्र० पु०	भवतु-भवतात्	भवताम्	भवन्तु
म० पु०	भव-भवतात्	भवतम्	भवत
उ० पु०	भवानि	भवाव	भवाम

लङ्

प्र० पु०	अभवत्	अभवताम्	अभवन्
म० पु०	अभवः	अभवतम्	अभवत
उ० पु०	अभवम्	अभवाव	अभवाम

विधिलिङ्

प्र० पु०	भवेत्	भवेताम्	भवेयुः
म० पु०	भवेः	भवेतम्	भवेत
उ० पु०	भवेयम्	भवेव	भवेम

ऐसे ही भ्वादिगणीय धातु के परस्मैपद में उपर्युक्त लकारों में साधारणतः रूप होते हैं। विशेष रूप क्रमशः आगे बतलाये जायेंगे। लट्, लृट्, लङ् तथा विधिलिङ् में क्रमशः एक एक रूप दिये जाते हैं। भू धातु के अनुसार ही उसके आगे के रूप बनाने चाहिए।

पठ् (पढ़ना) पठति। पठिष्यति। पठतु। अपठत्। पठेत्।

वद् (बोलना) वदति। वदिष्यति। वदतु। अवदत्। वदेत्।

गद् (बोलना) गदति। गदिष्यति। गदतु। अगदत्। गदेत्।

नद् (अव्यक्त शब्द करना) नदति। नदिष्यति। नदतु। अनदत्। नदेत्।

चल् (चलना) चलति । चलिष्यति । चलतु । अचलत् । चलेत् ।

पत् (गिरना) पतति । पतिष्यति । पततु । अपतत् । पतेत् ।

चर् (चरना) चरति । चरिष्यति । चरतु । अचरत् । चरेत् ।

वस् (निवास करना) वसति । वत्स्यति । वसतु । अवसत् । वसेत् ।

गर्ज् (गरजना) गर्जति । गर्जिष्यति । गर्जतु । अगर्जत् । गर्जेत् ।

निन्द् (निन्दा करना) निन्दति । निन्दिष्यति । निन्दतु । अनिन्दत् । निन्देत् ।

कुछ धातुओं के मूल रूप लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ् में बदल जाते हैं जैसे—

पा=पिब (पीना) पिबति । लृट् में पास्यति । पिबतु । अपिबत् । पिबेत् ।

घ्रा=जिघ्र (सूँघना) जिघ्रति । घ्रास्यति । शेष पूर्ववत् ।

ध्मा=धम (बजाना, फूकना) धमति । ध्मास्यति ।

स्था=तिष्ठ (ठहरना) तिष्ठति । स्थास्यति ।

म्ना=मन (अभ्यास करना) मनति । म्नास्यति ।

दाण्=यच्छ् (देना) । यच्छति । दास्यति ।

दृश्=पश्य (देखना) पश्यति । द्रक्ष्यति ।

ऋ=ऋच्छ (जाना) ऋच्छति । अरिष्यति । लङ् आर्च्छत् ।

सृ=धौ (दौड़ना) धावति । सरिष्यति । लङ् अधावत् ।

शद्=शीय (विशीर्ण होना) शीयते । यह आत्मनेपदी है ।

सद्=सीद (बैठना आदि) सीदति । सत्स्यति ।

गम्=गच्छ् (जाना) गच्छति । गमिष्यति ।

दंश्=(दाँत से काटना) दशति । दङ्क्ष्यति । लङ्-अदशत् ।

सञ्ज्=(संग करना) सजति । सङ्क्ष्यति । लङ्—असजत् ।

जि=(जीतना) जयति । जेष्यति । जयतु । अजयत् । जयेत् ।

लभ् (प्राप्त करना) [आत्मनेपदी, सकर्मक, अनिट्]

लट्

प्र० पु०	लभते	लभेते	लभन्ते
म० पु०	लभसे	लभेथे	लभध्वे
उ० पु०	लभे	लभावहे	लभामहे

लृट्

प्र० पु०	लप्स्यते	लप्स्येते	लप्स्यन्ते
म० पु०	लप्स्यसे	लप्स्येथे	लप्स्यध्वे
उ० पु०	लप्स्ये	लप्स्यावहे	लप्स्यामहे

लोट्

प्र० पु०	लभताम्	लभेताम्	लभन्ताम्
म० पु०	लभस्व	लभेथाम्	लभध्वम्
उ० पु०	लभै	लभावहै	लभामहै

लङ्

प्र० पु०	अलभत	अलभेताम्	अलभन्त
म० पु०	अलभथाः	अलभेथाम्	अलभध्वम्
उ० पु०	अलभे	अलभावहि	अलभामहि

विधिलिङ्

प्र० पु०	लभेत	लभेयाताम्	लभेरन्
म० पु०	लभेथाः	लभेयाथाम्	लभेध्वम्
उ० पु०	लभेय	लभेवहि	लभेमहि

इसीप्रकार भ्वादिगणीय आत्मनेपदी धातुओं के रूप बनाने चाहिए।

एध् (बढ़ना) एधते। एधिष्यते। एधताम्। ऐधत। एधेत।

द्युत्। (चमकना) द्योतते। द्योतिष्यते। द्योतताम्। अद्योतत। द्योतेत।

रुच् (चमकना, प्रिय लगना) रोचते। रोचिष्यते। रोचताम्। अरोचत। रोचेत।

मुद् (प्रसन्न होना) मोदते। मोदिष्यते। मोदताम्। अमोदत। मोदेत।

वृत् (रहना) वर्तते। वर्तिष्यते। वर्तताम्। अवर्तत। वर्तेत।

वृध् (बढ़ना) वर्धते। वर्धिष्यते। वर्धताम्। अवर्धत। वर्धेत।

शृध् (कुत्सित शब्द करना) शर्धते। शर्धिष्यते[1]। शर्धताम्। अशर्धत।

स्यन्द् (स्यन्दू=पिघलना) स्यन्दते। स्यन्दिष्यते। स्यन्त्स्यते[2]। स्यन्दताम्।

उभयपदी धातुओं के रूप पूर्वोक्त प्रकार से परस्मैपद तथा आत्मनेपद दोनों में बनाने चाहिए। यथा—(णीञ्) नी (ले जाना) नयति-नयते। नेष्यति-नेष्यते आदि। (हृञ्) हृ (हरना, चुराना) हरति-हरते। हरिष्यति-हरिष्यते आदि। (धृञ्) धृ (धारण करना) धरति-धरते। धरिष्यति-धरिष्यते। धाव् (दौड़ना, साफ करना) धावति-धावते। धाविष्यति-धाविष्यते। यज् (देवपूजा, यज्ञ करना आदि) यजति-यजते। यक्ष्यति-यक्ष्यते। वह (बहना, ढोना) वहति-वहते। वक्ष्यति-वक्ष्यते। (वेञ्) वे (कपड़ा बुनना) वयति-वयते। वास्यति-वास्यते। इत्यादि। ऐसे ही व्येञ् (ढकना), ह्वेञ् (स्पर्धा करना, शब्द करना) आदि के रूप होते हैं।

गुप्, तिज् आदि सात धातुओं से 'सन्' होता है। इनके रूप इच्छा सन्नन्त के समान ही होते हैं किन्तु अर्थ निम्नलिखित हैं। यथा—'गुप्' से निन्दा अर्थ में जुगुप्सते। जुगुप्सिष्यते। जुगुप्सताम्। अजुगुप्सत। जुगुप्सेत।

'तिज्' से क्षमा अर्थ में तितिक्षते। 'कित्' (चिकित्सा करना) चिकित्सति-ते। 'मान्' (विचार करना) मीमांसते। 'बध्' (चित्त

---

१. इनके लृट् मे विकल्प स परस्मैपद भी होता है। तब इट् नहीं होता। यथा—वर्त्स्यति। वृध्—वर्त्स्यति। शर्त्स्यति। स्यन्त्स्यति।

विकार अर्थ में) बीभत्सते। 'दान्' (ऋजुता) दीदांसति—ते। 'शान्' (तेज करना) शीशांसति-ते।

(२) अदादिगण

अद् (खाना) [परस्मैपदी, सकर्मक, अनिट्]

	लट्			लृट्		
प्र० पु०	अत्ति	अत्तः	अदन्ति	अत्स्यति	अत्स्यतः	अत्स्यन्ति
म० पु०	अत्सि	अत्थः	अत्थ	अत्स्यसि	अत्स्यथः	अत्स्यथ
उ० पु०	अद्मि	अद्वः	अद्मः	अत्स्यामि	अत्स्यावः	अत्स्यामः

	लोट्			लङ्		
प्र० पु०	अत्तु-अत्तात्	अत्ताम्	अदन्तु	आदत्	आत्ताम्	आदन्
म० पु०	अद्धि-"	अत्तम्	अत्त	आदः	आत्तम्	आत्त
उ० पु०	अदानि	अदाव	अदाम	आदाम	आद्व	आद्म

	विधिलिङ्		
प्र० पु०	अद्यात्	अद्याताम्	अद्युः
म० पु०	अद्याः	अद्यातम्	अद्यात
उ० पु०	अद्याम्	अद्याव	अद्याम

अस्, (होना रहना) [परस्मैपदी, अकर्मक]

	लट्			लोट्		
प्र० पु०	अस्ति	स्तः	सन्ति	अस्तु-स्तात्	स्ताम्	सन्तु
म० पु०	असि	स्थः	स्थ	एधि- "	स्तम्	स्त
उ० पु०	अस्मि	स्वः	स्मः	असानि	असाव	असाम

	लङ्			विधिलिङ्		
प्र० पु०	आसीत्	आस्ताम्	आसन्	स्यात्	स्याताम्	स्युः
म० पु०	आसीः	आस्तम्	आस्त	स्याः	स्यातम्	स्यात
उ० पु०	आसम्	आस्व	आस्म	स्याम्	स्याव	स्याम

लृट् लकार में भविष्यति आदि 'भू' के समान रूप होते हैं

अन्=जीना [परस्मैपदी, अकर्मक, सेट्]

	लट्			लोट्		
प्र० पु०	अनिति	अनितः	अनन्ति	अनितु	अनिताम्	अनन्तु
म० पु०	अनिषि	अनिथः	अनिथ	अनिहि	अनितम्	अनित
उ० पु०	अनिमि	अनिवः	अनिमः	अनानि	अनाव	अनाम

	लङ्			विधिलिङ्		
प्र० पु०	आनीत्-आनत्	आनिताम्	आनन्	अन्यात्	अन्याताम्	अन्युः
म० पु०	आनीः-आनः	आनितम्	आनित	अन्याः	अन्यातम्	अन्यात
उ० पु०	आनम्	आनिव	आनिम	अन्याम्	अन्याव	अन्याम

लृट् में अनिष्यति आदि। प्र उपसर्ग से परे प्राणिति आदि।

इसी तरह रुद् (रोना) धातु के रोदिति; रोदितु; रोदिष्यति; अरोदीत्-अरोदत्; रुद्यात् आदि रूप होते हैं। स्वप् (सोना) धातु के स्वपिति; स्वपितु; स्वप्स्यति; अस्वपीत्-अस्वपत्; स्वप्यात् आदि।

श्वस् (साँस लेना-जीना) धातु के श्वसिति; श्वसितु, श्वसिष्यति; अश्वसीत् अश्वसत्, श्वस्यात् आदि। जक्ष् (खाना) धातु के लट् में जक्षिति, जक्षितः, जक्षति, जक्षिषि, जक्षिथः, जक्षिथ, जक्षिमि, जक्षिवः जक्षिमः। लोट् में जक्षितु आदि; लृट् में जक्षिष्यति आदि; लङ् में अजक्षीत्-अजक्षत्, अजक्षिताम्, अजक्षुः, अजक्षीः अजक्षः, अजक्षितम्, अजक्षित, अजक्षम्, अजक्षिव, अजक्षिम। विधिलिङ् में जक्ष्यात् आदि।

जागृ=जागना [परस्मैपदी, अक० सेट्]

	लट्			लोट्		
प्र० पु०	जागर्ति	जागृतः	जाग्रति	जागर्तु-जागृतात्	जागृताम्	जाग्रतु
म० पु०	जागर्षि	जागृथः	जागृथ	जागृहि ”	जागृतम्	जागृत
उ० पु०	जागर्मि	जागृवः	जागृमः	जागराणि	जागराव	जागराम

	लङ्			विधिलिङ्		
प्र० पु०	अजागः	अजागृताम्	अजागरुः	जागृयात्	जागृयाताम्	जागृयुः
म० पु०	अजागः	अजागृतम्	अजागृत	जागृयाः	जागृयातम्	जागृयात
उ० पु०	अजागरम्	अजागृव	अजागृम	जागृयाम्	जागृयाव	जागृयाम

लृट् में जागरिष्यति आदि।

दरिद्रा=निर्धन होना [परस्मैपदी, अक० सेट्]

	लट्			लोट्		
प्र० पु०	दरिद्राति	दरिद्रितः	दरद्रति	दरिद्रातु	दरिद्रताम्	दरिद्रतु
म० पु०	दरिद्रासि	दरिद्रिथः	दरिद्रिथ	दरिद्रिहि	दरिद्रितम्	दरिद्रित
उ० पु०	दरिद्रामि	दरिद्रिवः	दरिद्रिमः	दरिद्राणि	दरिद्राव	दरिद्राम

	लङ्			विधिलिङ्		
प्र०	अदरिद्रात्	अदरिद्रिताम्	अदरिद्रुः	दरिद्रियात्	दरिद्रियाताम्	दरिद्रियुः
म०	अदरिद्राः	अदरिद्रितम्	अदरिद्रित	दरिद्रियाः	दरिद्रियातम्	दरिद्रियात
उ०	अदरिद्राम्	अदरिद्रिव	अदरिद्रिम	दरिद्रियाम्	दरिद्रियाव	दरिद्रियाम

लृट् में दरिद्रिष्यति आदि।

चकास् (चमकना) धातु के लट् में चकास्ति, चकास्तः, चकासति आदि; लोट् में चकास्तु, चकास्ताम्, चकासतु, चकाधि-द्धि आदि; लङ् में अचकात्-द्, अचकास्ताम्, अचकासुः, अचकाः-कात्-द्, अचकास्तम् इत्यादि; विधिलिङ् में चकास्यात् आदि; लृट् में चकासिष्यति आदि रूप होते हैं।

या 'जाना' धातु के याति; यातु; यास्यति; लङ् में अयात्, अयाताम्, अयुः—अयान् आदि; विधिलिङ् में यायात् यायाताम्, यायुः आदि रूप होते हैं।

इसी तरह पा=रक्षा करना, भा=चमकना, मा=मापना, ला=लेना, वा=वायु का बहना, स्ना=नहाना, रा=देना आदि धातुओं के रूप होते हैं।

विद्=जानना (प० प० सक० सेट्)

	लट् (१)			लोट् (१)		
प्र०	वेत्ति	वित्तः	विदन्ति	वेत्तु	वित्ताम्	विदन्तु
म०	वेत्सि	वित्थः	वित्थ	विद्धि	वित्तम्	वित्त
उ०	वेद्मि	विद्वः	विद्मः	वेदानि	वेदाव	वेदाम

	(२)			(२)		
प्र०	वेद	विदतुः	विदुः	विदाङ्करोतु	विदाङ्कुरुताम्	विदाङ्कुर्वन्तु
म०	वेत्थ	विदथुः	विद	विदाङ्कुरु	विदाङ्कुरुतम्	विदाङ्कुरुत
उ०	वेद	विद्व	विद्म	विदाङ्करवाणि	विदाङ्करवाव	विदाङ्करवाम

	लङ्			विधिलिङ्		
प्र०	अवेत्	अवित्ताम्	अविदुः	विद्यात्	विद्याताम्	विद्युः
म०	अवेत्	अवित्तम्	अवित्त	विद्याः	विद्यातम्	विद्यात
उ०	अवेदम्	अविद्व	अविद्म	विद्याम्	विद्याव	विद्याम

ऌट् में वेदिष्यति आदि

हन्=मार डालना [प० पदी, सक०, अनिट्]

	लट्			लोट्		
प्र०	हन्ति	हतः	घ्नन्ति	हन्तु-हतात्	हताम्	घ्नन्तु
म०	हंसि	हथः	हथ	जहि "	हतम्	हत
उ०	हन्मि	हन्वः	हन्मः	हनानि	हनाव	हनाम

	लङ्			विधिलिङ्		
प्र०	अहन्	अहताम्	अघ्नन्	हन्यात्	हन्याताम्	हन्युः
म०	अहन्	अहतम्	अहत	हन्याः	हन्यातम्	हन्यात
उ०	अहनम्	अहन्व	अहन्म	हन्याम्	हन्याव	हन्याम

ऌट् में हनिष्यति आदि।

शी (शीङ्) (सोना) [आत्मनेपदी, अक० सेट्]

		लट्	
प्र० पु०	शेते	शयाते	शेरते
म० पु०	शेषे	शयाथे	शेध्वे
उ० पु०	शये	शेवहे	शेमहे

लोट्

प्र० पु०	शेताम्	शयाताम्	शेरताम्
म० पु०	शेष्व	शयाथाम्	शेध्वम्
उ० पु०	शयै	शयावहै	शयामहै

लङ्

प्र० पु०	अशेत	अशयाताम्	अशेरत
म० पु०	अशेथाः	अशयाथाम्	अशेध्वम्
उ० पु०	अशयि	अशेवहि	अशेमहि

विधिलिङ्

प्र० पु०	शयीत	शयीयाताम्	शयीरन्
म० पु०	शयीथाः	शयीयाथाम्	शयीध्वम्
उ० पु०	शयीय	शयीवहि	शयीमहि

ऌट् में शयिष्येते, शयिष्यते आदि ।

अधि + इ (इङ्) (पढ़ना) [आ० पदी, सक०, अनिट्]

लट्

प्र० पु०	अधीते	अधीयाते	अधीयते
म० पु०	अधीषे	अधीयाथे	अधीध्वे
उ० पु०	अधीये	अधीवहे	अधीमहे

लोट्

प्र० पु०	अधीताम्	अधीयाताम्	अधीयताम्
म० पु०	अधीष्व	अधीयाथाम्	अधीध्वम्
उ० पु०	अध्ययै	अध्ययावहै	अध्ययामहै

लङ्

प्र० पु०	अध्यैत	अध्यैयाताम्	अध्यैयत
म० पु०	अध्यैथाः	अध्यैयाथाम्	अध्यैध्वम्
उ० पु०	अध्यैयि	अध्यैवहि	अध्यैमहि

विधिलिङ्

प्र० पु०	अधीयीत	अधीयीयाताम्	अधीयीरन्

म० पु०	अधीयीथाः	अधीयीयाथाम्	अधीयीध्वम्
उ० पु०	अधीयीय	अधीयीवहि	अधीयीमहि

लट् में अध्येष्यते, अध्येष्येते आदि।

इ (इण्) (जाना) [प० पदी, सक०, अनिट्]

लट्—एति, इतः, यन्ति, एषि, इथः, इथ, एमि, इवः, इमः।

लोट्—एतु, इताम्, यन्तु, इहि, इतम्, इत, अयानि, अयाव, अयाम।

लङ्—ऐत्, ऐताम्, आयन्, ऐः, ऐतम्, ऐत, आयम्, ऐव, ऐम।

विधिलिङ्—इयात्, इयाताम्, इयुः, इयाः, इयातम्, इयात, इयाम्, इयाव, इयाम।

ऌट्—एष्यति, एष्यतः, एष्यन्ति, एष्यसि, एष्यथः एष्यथ आदि।

(३) जुहोत्यादिगण

लट्

प्र० पु०	जुहोति	जुहुतः	जुह्वति
म० पु०	जुहोषि	जुहुथः	जुहुथ
उ० पु०	जुहोमि	जुहुवः	जुहुमः

लोट्

प्र० पु०	जुहोतु	जुहुताम्	जुह्वतु
म० पु०	जुहुधि	जुहुतम्	जुहुत
उ० पु०	जुहवानि	जुहवाव	जुहवाम

लङ्

प्र० पु०	अजुहोत्	अजुहुताम्	अजुहवुः
म० पु०	अजुहोः	अजुहुतम्	अजुहुत
उ० पु०	अजुहवम्	अजुहुव	अजुहुम

विधिलिङ्

प्र० पु०	जुहुयात्	जुहुयाताम्	जुहुयुः

म० पु०	जुहुयाः	जुहुयातम्	जुहुयात
उ० पु०	जुहुयाम्	जुहुयाव	जुहुयाम

ऌट् में होष्यति होष्यतः होष्यन्ति आदि।

दा (डुदाञ्)=देना [उभयपदी, सक०, अनिट्]

लट् (परस्मैपद)

प्र० पु०	ददाति	दत्तः	ददति
म० पु०	ददासि	दत्थः	दत्थ
उ० पु०	ददामि	दद्वः	दद्मः

लट् (आत्मनेपद]

प्र० पु०	दत्ते	ददाते	ददते
म० पु०	दत्से	ददाथे	दद्ध्वे
उ० पु०	ददे	दद्वहे	दद्महे

लोट् (परस्मैपद)

प्र० पु०	ददातु	दत्ताम्	ददतु
म० पु०	देहि	दत्तम्	दत्त
उ० पु०	ददानि	ददाव	ददाम

लोट् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	दत्ताम्	ददाताम्	ददताम्
म० पु०	दत्स्व	ददाथाम्	दद्ध्वम्
उ० पु०	ददै	ददावहै	ददामहै

लङ् (परस्मैपद)

प्र० पु०	अददात्	अदत्ताम्	अददुः
म० पु०	अददाः	अदत्तम्	अदत्त
उ० पु०	अददाम्	अदद्व	अदद्म

लङ् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	अदत्त	अददाताम्	अददत
म० पु०	अदत्थाः	अददाथाम्	अदद्ध्वम्
उ० पु०	अददि	अदद्वहि	अदद्महि

विधिलिङ् (परस्मैपद)

प्र० पु०	दद्यात्	दद्याताम्	दद्युः
म० पु०	दद्याः	दद्यातम्	दद्यात
उ० पु०	दद्याम्	दद्याव	दद्याम्

विधिलिङ् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	ददीत	ददीयाताम्	ददीरन्
म० पु०	ददीथाः	ददीयाथाम्	ददीध्वम्
उ० पु०	ददीय	ददीवहि	ददीमहि

लृट् में दास्यति, दास्यते आदि ।

धा (डुधाञ्)=धारण करना; पुष्ट करना [उ० प० सक० अनिट्] 'दा' के समान ।

भी (ञि भी)=डरना (परस्मैपदी, अक० अनिट्)

लट्

प्र० पु०	बिभेति	बिभितः-बिभीतः	बिभ्यति
म० पु०	बिभेषि	बिभिथः-बिभीथः	बिभिथ-बिभीथ
उ० पु०	बिभेमि	बिभिवः-बिभीवः	बिभिमः-बिभीमः

लोट्

प्र० पु०	बिभेतु	बिभिताम्-बिभीताम्	बिभ्यतु
म० पु०	बिभिहि-बिभीहि	बिभितम्-बिभीतम्	बिभित-बिभीत
उ० पु०	बिभयानि	बिभयाव	बिभयाम

लङ्

प्र० पु०	अबिभेत्	अबिभिताम्-अबिभीताम्	अबिभयुः
म० पु०	अबिभेः	अबिभितम्-अबिभीतम्	अबिभित-अबिभीत
उ० पु०	अबिभयम्	अबिभिव-अबिभीव	अबिभिम-अबिभीम

विधिलिङ्

प्र० पु०	बिभियात्	बिभियाताम्	बिभियुः	आदि और
	बिभीयात्	बिभीयाताम्	बिभीयुः	आदि ।

लृट् में भेष्यति, भेष्यतः, भेष्यन्ति आदि ।

भृ (डुभृञ्)=धारण और पोषण करना [उ० पदी, सक०, अनिट्]

लट् (परस्मैपद)

प्र० पु०	बिभर्ति	बिभृतः	बिभ्रति
म० पु०	बिभर्षि	बिभृथः	बिभृथ
उ० पु०	बिभर्मि	बिभृवः	बिभृमः

लट् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	बिभृते	बिभ्राते	बिभ्रते
म० पु०	बिभृषे	बिभ्राथे	बिभृध्वे
उ० पु०	बिभ्रे	बिभृवहे	बिभृमहे

लोट् (परस्मैपद)

प्र० पु०	बिभर्तु	बिभृताम्	बिभ्रतु
म० पु०	बिभृहि	बिभृतम्	बिभृत
उ० पु०	बिभराणि	बिभराव	बिभराम

लोट् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	बिभृताम्	बिभ्रताम्	बिभ्रताम्
म० पु०	बिभृष्व	बिभ्राथाम्	बिभृध्वम्
उ० पु०	बिभरै	बिभरावहै	बिभरामहै

लङ् (परस्मैपद)

प्र० पु०	अबिभः	अबिभृताम्	अबिभरुः
म० पु०	अबिभः	अबिभृतम्	अबिभृत
उ० पु०	अबिभरम्	अबिभृव	अबिभृम

लङ् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	अबिभृत	अबिभ्राताम्	अबिभ्रत
म० पु०	अबिभृथाः	अबिभ्राथाम्	अबिभृध्वम्
उ० पु०	अबिभ्रि	अबिभृवहि	अबिभृमहि

विधिलिङ् (परस्मैपद)

प्र० पु०	बिभृयात्	बिभृयाताम्	बिभृयुः
म० पु०	बिभृयाः	बिभृयातम्	बिभृयात
उ० पु०	बिभृयाम्	बिभृयाव	बिभृयाम

विधिलिङ् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	बिभ्रीत	बिभ्रीयाताम्	बिभ्रीरन्
म० पु०	बिभ्रीथाः	बिभ्रीयाथाम्	बिभ्रीध्वम्
उ० पु०	बिभ्रीय	बिभ्रीवहि	बिभ्रीमहि

लृट् में भरिष्यति; भरिष्यते आदि ।

ह्री = लज्जित होना [परस्मैपदी, अक०, अनिट्]

लट्

प्र० पु०	जिह्रेति	जिह्रीतः	जिह्रियति
म० पु०	जिह्रेषि	जिह्रीथः	जिह्रीथ
उ० पु०	जिह्रेमि	जिह्रीवः	जिह्रीमः

लोट्

प्र० पु०	जिह्रेतु	जिह्रीताम्	जिह्रियतु
म० पु०	जिह्रीहि	जिह्रीतम्	जिह्रीत
उ० पु०	जिह्रयाणि	जिह्रयाव	जिह्रयाम

लङ्

प्र० पु०	अजिह्रेत्	अजिह्रीताम्	अजिह्रयुः
म० पु०	अजिह्रेः	अजिह्रीतम्	अजिह्रीत
उ० पु०	अजिह्रयम्	अजिह्रीव	अजिह्रीम

विधिलिङ्

प्र० पु०	जिह्रीयात्	जिह्रीयाताम्	जिह्रीयुः
म० पु०	जिह्रीयाः	जिह्रीयातम्	जिह्रीयात
उ० पु०	जिह्रीयाम्	जिह्रीयाव	जिह्रीयाम

लृट् में ह्रेष्यति, ह्रेष्यतः आदि ।

(४) दिवादिगण

दिव् (दिवु)=खेलना, जय चाहना, क्रयविक्रय करना, दावपर रखना, स्तुति करना, प्रसन्न होना, अभिमान दिखाना, सोना, इच्छा करना, गमन करना, शोभना [प० अक० सेट्]

लट्

प्र० पु०	दीव्यति	दीव्यतः	दीव्यन्ति
म० पु०	दीव्यसि	दीव्यथः	दीव्यथ
उ० पु०	दीव्यामि	दीव्यावः	दीव्यामः

लोट्

प्र० पु०	दीव्यतु	दीव्यताम्	दीव्यन्तु
म० पु०	दीव्य	दीव्यतम्	दीव्यत
उ० पु०	दीव्यानि	दीव्याव	दीव्याम

लङ्

प्र० पु०	अदीव्यत्	अदीव्यताम्	अदीव्यन्
म० पु०	अदीव्यः	अदीव्यतम्	अदीव्यत
उ० पु०	अदीव्यम्	अदीव्याव	अदीव्याम

विधिलिङ्

प्र० पु०	दीव्येत्	दीव्येताम्	दीव्येयुः
म० पु०	दीव्येः	दीव्येतम्	दीव्येत
उ० पु०	दीव्येयम्	दीव्येव	दीव्येम

लृट् में देविष्यति, देविष्यतः आदि ।

इसी प्रकार सीव् (षिवु)=सीना सीव्यति आदि; ष्ठीव् (ष्ठिवु)= थूकना ष्ठीव्यति आदि; नृत् (नृती) नाचना नृत्यति आदि; लृट् में नर्तिष्यति-नर्त्स्यति आदि; पुष्प्=विकसित होना पुष्यति आदि; सिध् (षिधु) सिद्ध होना सिध्यति आदि; लृट् में सेत्स्यति आदि; क्रुध्= क्रोध करना क्रुध्यति; लृट् में क्रोत्स्यति आदि ।

युध्=लड़ना (आ०) युध्यते; लृट् में योत्स्यते आदि ।

बुध्=जानना (आ०) बुध्यते; लृट् में भोत्स्यते आदि ।

मन्=मानना, समझना (आ०) मन्यते; लृट् में मंस्यते आदि ।

जन् (जनी)=उत्पन्न होना (आ) जायते; लृट् में जनिष्यते ।

सू (षूङ्)=जन्म देना सूयते; लृट् में सविष्यते-सोष्यते आदि ।

अस् (असु)=फेंकना (पर०) अस्यति, लृट् में असिष्यति ।

त्रस् (त्रसी)=डरना (पर०) त्रस्यति-त्रसति, लृट् त्रसिष्यति ।

यस् (यसु)=प्रयास करना, (पर०) यस्यति; यसति, लृट्-यसिष्यति ।

नश् (णश्)=खो जाना, मर जाना, पर० नश्यति; लृट्-नशिष्यति नंक्ष्यति ।

शम् (शमु) [शाम्]=शान्त होना, शाम्यति; लृट्-शमिष्यति ।

तम् (तमु) [ताम्]—उत्कण्ठित होना, ताम्यति; लृट्—तमिष्यति ।

दम् (दमु) [दाम्]=दबाना, रोकना, दाम्यति; लृट्—दमिष्यति ।

श्रम् (श्रमु) [श्राम्]=परिश्रम करना, थकना, श्राम्यति; लृट्—श्रमिष्यति ।

भ्रम् (भ्रमु) [भ्राम्]=घूमना, भ्राम्यति-भ्रमति; लृट्—भ्रमिष्यति ।

क्षम् (क्षमू) [क्षाम्]=सह लेना, क्षाम्यति, लृट्—क्षमिष्यति-क्षंस्यति ।

क्लम् (क्लमु) [क्लाम्]=थक जाना, क्लाम्यति-क्लामति; लृट्—क्लमिष्यति ।

मद् (मदी) [माद्]=प्रसन्न होना, माद्यति; लृट्—मदिष्यति ।

क्लिश्=दुखी होना, (आत्म०) क्लिश्यत; लृट्—क्लेशिष्यते ।

श्लिष्=आलिङ्गन करना, (पर०) श्लिष्यति; लृट्—श्लेक्ष्यति ।

स्निह् (ष्णिह्)=प्यार करना, (पर०) स्निह्यति; लृट्-स्नेहिष्यति स्नेक्ष्यति ।

(५) स्वादिगण

सु (षुञ्) = स्नपन करना, सुरा का उत्पादन करना आदि [उभ०, सक०, अनिट्]

लट् (परस्मैपद)

प्र० पु०	सुनोति	सुनुतः	सुन्वन्ति
म० पु०	सुनोषि	सुनुथः	सुनुथ
उ० पु०	सुनोमि	सुनुवः-सुन्वः	सुनुमः-सुन्मः

लट् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	सुनुते	सुन्वाते	सुन्वते
म० पु०	सुनुषे	सुन्वाथे	सुनुध्वे
उ० पु०	सुन्वे	सुनुवहे-सुन्वहे	सुनुमहे-सुन्महे

लोट् (परस्मैपद)

प्र० पु०	सुनोतु	सुनुताम्	सुन्वन्तु
म० पु०	सुनु	सुनुतम्	सुनुत
उ० पु०	सुनवानि	सुनवाव	सुनवाम

लोट् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	सुनुताम्	सुन्वाताम्	सुन्वताम्
म० पु०	सुनुष्व	सुन्वाथाम्	सुनुध्वम्
उ० पु०	सुनवै	सुनवावहै	सुनवामहै

लङ् (परस्मैपद)

प्र० पु०	असुनोत्	असुनुताम्	असुन्वन्
म० पु०	असुनोः	असुनुतम्	असुनुत
उ० पु०	असुनवम्	असुनुव-असुन्व	असुनुम-असुन्व

लङ् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	असुनुत	असुन्वाताम्	असुन्वत
म० पु०	असुनुथाः	असुन्वाथाम्	असुनुध्वम्
उ० पु०	असुन्वि	असुनुवहि-असुन्वहि	असुनुमहि-असुन्महि

विधिलिङ् (परस्मैपद)

प्र० पु०	सुनुयात्	सुनुयाताम्	सुनुयुः
म० पु०	सुनुयाः	सुनुयातम्	सुनुयात
उ० पु०	सुनुयाम्	सुनुयाव	सुनुयाम

विधिलिङ् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	सुन्वीत	सुन्वीयाताम्	सुन्वीरन्
म० पु०	सुन्वीथाः	सुन्वीयाथाम्	सुन्वीध्वम्
उ० पु०	सुन्वीय	सुन्वीवहि	सुन्वीमहि

लृट्—सोष्यति-सोष्यते ।

इसी प्रकार 'चि' (चिञ्)=इकट्ठा करना, उभ० चिनोति—चिनुते । धु (धुञ्)=कँपाना, उभ०, धुनोति-धुनुते । धू (धूञ्)=हिलाना, उ० प०, धूनोति-धूनुते; लृट्-धविष्यति-धोष्यति; धविष्यते धोष्यते ।

साध्=बनाना, करना प० प०, साध्नोति; लृट्-सात्स्यति । ऐसे ही शध्[1] ।

आप्[2] (आप्लृ) प्राप्त करना, प० प०, आप्नोति; लृट्-आप्स्यति ।

शक्[3] (शक्लृ)=सकना, समर्थ होना शक्नोति; लृट्-शक्ष्यति ।

अश् (अशू)=व्याप्त करना, आत्म०, अश्नुते; लृट्-अशिष्यते-अक्ष्यते ।

(६) तुदादिगण

तुद्=पीड़ा देना [उभ० प०, सक० अनिट्]

इसके लट् में तुदति-तुदते; लोट् में तुदतु-तुदताम्; लङ् में अतुदत्-अतुदत; विधिलिङ् में तुदेत्-तुदेत; लृट में तोत्स्यति-तोत्स्यते आदि रूप होते हैं । भ्वादि-गणीय धातु के रूप के समान ही तुदादि गणीय धातुओं के रूप होते हैं । भ्रस्ज् [भृज्ज्]=भूनना, उभ० प० भृज्जति

१-३. वस् और मस् में एक ही प्रकार के साध्नुवः, साध्नुमः आदि रूप होते हैं । लोट् मध्यमपुरुष एकवचन में साध्नुहि आदि ।

भृज्जते; लृट्-भ्रक्ष्यति-भ्रक्ष्यते, भर्क्ष्यति-भर्क्ष्यते। मिल्=मिलना [उभ० प०] मिलति-मिलते; लृट-मेलिष्यति-मेलिष्यते।

स्फुर्=फुरना, फड़कना, पर० स्फुरति; लृट्—स्फुरिष्यति।

सृज्=उत्पन्न करना, प० प०, सृजति; लृट्—स्रक्ष्यति।

लिख्=लिखना, पर०, लिखति; लृट्—लेखिष्यति।

इष् [इच्छ्]=इच्छा करना पर० इच्छति; लृट्-एषिष्यति।

क्षिप्=फेंकना, उभ०, क्षिपति-क्षिपते; लृट्—क्षेप्स्यति-क्षेप्स्यते।

लिप् [लिम्प्]=लीपना, उभ० लिम्पति-लिम्पते; लृट्—लेप्स्यति-लेप्स्यते।

कृष्=हल से जोतना, उभ० कृषति-कृषते; लृट्—क्रक्ष्यति-क्रक्ष्यते, कर्क्ष्यति-कर्क्ष्यते।

मुच् (मुच्लृ) [मुञ्च्]=छोड़ना, उभ० मुञ्चति-मुञ्चते; लृट् मोक्ष्यति-मोक्ष्यते।

सिच् (षिच) [सिञ्च्]=सींचना, उभ०, सिञ्चति सिञ्चते लृट्—सेक्ष्यति-सेक्ष्यते।

कृत् (कृती) [कृन्त्]=काटना, पर०, कृन्तति; लृट् कर्तिष्यति-कर्त्स्यति।

(७) रुधादिगण

रुध् (रुधिर्)=रोकना, घेरना [उभ० प० सक०, अनिट्]

लट् (परस्मैपद)

प्र० पु०	रुणद्धि	रुन्धः	रुन्धन्ति
म० पु०	रुणत्सि	रुन्धः	रुन्ध
उ० पु०	रुणध्मि	रुन्ध्वः	रुन्ध्मः

लट् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	रुन्धे	रुन्धाते	रुन्धते
म० पु०	रुन्त्से	रुन्धाथे	रुन्ध्वे
उ० पु०	रुन्धे	रुन्ध्वहे	रुन्ध्महे

लोट् (परस्मैपद)

प्र० पु०	रुणद्धु	रुन्धाम्	रुन्धन्तु
म० पु०	रुन्धि	रुन्धम्	रुन्ध
उ० पु०	रुणधानि	रुणधाव	रुणधाम

लोट् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	रुन्धाम्	रुन्धाताम्	रुन्धताम्
म० पु०	रुन्त्स्व	रुन्धाथाम्	रुन्ध्वम्
उ० पु०	रुणधै	रुणधावहै	रुणधामहै

लङ् (परस्मैपद)

प्र० पु०	अरुणत्-द्	अरुन्धाम्	अरुन्धन्
म० पु०	अरुणत्-द्-अरुणः	अरुन्धम्	अरुन्ध
उ० पु०	अरुणधम्	अरुन्ध्व	अरुन्ध्म

लङ् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	अरुन्द्ध	अरुन्धाताम्	अरुन्धत
म० पु०	अरुन्धाः	अरुन्धाथाम्	अरुन्ध्वम्
उ० पु०	अरुन्धि	अरुन्ध्वहि	अरुन्ध्महि

विधिलिङ् (परस्मैपद)

प्र० पु०	रुन्ध्यात्	रुन्ध्याताम्	रुन्ध्युः
म० पु०	रुन्ध्याः	रुन्ध्यातम्	रुन्ध्यात
उ० पु०	रुन्ध्याम्	रुन्ध्याव	रुन्ध्याम

विधिलिङ् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	रुन्धीत	रुन्धीयाताम्	रुन्धीरन्
म० पु०	रुन्धीथाः	रुन्धीयाथाम्	रुन्धीध्वम्
उ० पु०	रुन्धीय	रुन्धीवहि	रुन्धीमहि

लृट्—रोत्स्यति—रोत्स्यते ।

भिद् (भिदिर्)=फाड़ना [उ० प०, सक०, अनिट्]

लट् (परस्मैपद)

प्र० पु०	भिनत्ति	भिन्तः	भिन्दन्ति

म० पु०	भिनत्सि	भिन्थः	भिन्थ
उ० पु०	भिनद्मि	भिन्द्वः	भिन्द्मः

लट् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	भिन्ते	भिन्दाते	भिन्दते
म० पु०	भिन्त्से	भिन्दाथे	भिन्ध्वे
उ० पु०	भिन्दे	भिन्द्वहे	भिन्द्महे

लोट्—भिनत्त-भिन्ताम्। विधिलिङ्—भिन्द्यात्-भिन्दीत।

लङ् (परस्मैपद)

प्र० पु०	अभिनत्-द्	अभिन्ताम्	अभिन्दन्
म० पु०	अभिनत्-द्	अभिन्तम्	अभिन्त
उ० पु०	अभिनदम्-अभिनः	अभिन्द्व	अभिन्द्म

लङ् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	अभिन्त	अभिन्दाताम्	अभिन्दत
म० पु०	अभिन्थाः	अभिन्दाथाम्	अभिन्ध्वम्
उ० पु०	अभिन्दि	अभिन्द्वहि	अभिन्द्महि

लृट्—भेत्स्यति-भेत्स्यते।

ऐसे ही छिद् (छिदिर्)=काटना, फाड़ना, तोड़ना, छेदना, उभ०।

युज् (युजिर्)=जोड़ना, मिलना, उभ० युनक्ति-युङ्क्ते; लृट्-योक्ष्यति-योक्ष्यते।

भुज्=रक्षा करना [पर०]; खाना, भोगना [आत्म०] भुनक्ति-भुङ्क्ते।

(८) तनादिगण

तन् (तनु)=फैलाना [उभ० पदी, सक०, सेट्]

लट् (परस्मैपद)

प्र० पु०	तनोति	तनुतः	तन्वन्ति
म० पु०	तनोषि	तनुथः	तनुथ
उ० पु०	तनोमि	तनुवः-तन्वः	तनुमः-तन्मः

लट् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	तनुते	तन्वाते	तन्वते
म० पु०	तनुषे	तन्वाथे	तनुध्वे
उ० पु०	तन्वे	तनुवहे-तन्वहे	तनुमहे-तन्महे

लोट् (परस्मैपद)

प्र० पु०	तनोतु	तनुताम्	तन्वन्तु
म० पु०	तनु	तनुतम्	तनुत
उ० पु०	तनवानि	तनवाव	तनवाम

लोट् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	तनुताम्	तन्वाताम्	तन्वताम्
म० पु०	तनुष्व	तन्वाथाम्	तनुध्वम्
उ० पु०	तनवै	तनवावहै	तनवामहै

लङ् (परस्मैपद)

प्र० पु०	अतनोत्	अतनुताम्	अतन्वन्
म० पु०	अतनोः	अतनुतम्	अतनुत
उ० पु०	अतनवम्	अतनुव-अतन्व	अतनुम-अतन्म

लङ् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	अतनुत	अतन्वाताम्	अतन्वत
म० पु०	अतनुथाः	अतन्वाथाम्	अतनुध्वम्
उ० पु०	अतन्वि	अतनुवहि-अतन्वहि	अतनुमहि-अतन्महि

विधिलिङ्—तनुयात्=तन्वीत । लृट्—तनिष्यति-तनिष्यते ।

कृ (डुकृञ्)=करना [उभ०, सक०, अनिट्]

लट् (परस्मैपद)

प्र० पु०	करोति	कुरुतः	कुर्वन्ति
म० पु०	करोषि	कुरुथः	कुरुथ
उ० पु०	करोमि	कुर्वः	कुर्मः

लट् [आत्मनेपद]

प्र० पु०	कुरुते	कुर्वाते	कुर्वते
म० पु०	कुरुषे	कुर्वाथे	कुरुध्वे
उ० पु०	कुर्वे	कुर्वहे	कुर्महे

लोट् (परस्मैपद)

प्र० पु०	करोतु	कुरुताम्	कुर्वन्तु
म० पु०	कुरु	कुरुतम	कुरुत
उ० पु०	करवाणि	करवाव	करवाम

लोट् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	कुरुताम्	कुर्वाताम्	कुर्वताम्
म० पु०	कुरुष्व	कुर्वाथाम्	कुरुध्वम्
उ० पु०	करवै	करवावहै	करवामहै

लङ् (परस्मैपद)

प्र० पु०	अकरोत्	अकुरुताम्	अकुर्वन्
म० पु०	अकरोः	अकुरुतम्	अकुरुत
उ० पु०	अकरवम्	अकुर्व	अकुर्म

लङ् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	अकुरुत	अकुर्वाताम्	अकुर्वत
म० पु०	अकुरुथाः	अकुर्वाथाम्	अकुरुध्वम्
उ० पु०	अकुर्वि	अकुर्वहि	अकुर्महि

विधिलिङ् (परस्मैपद)

प्र० पु०	कुर्यात्	कुर्याताम्	कुर्युः
म० पु०	कुर्याः	कुर्यातम्	कुर्यात
उ० पु०	कुर्याम्	कुर्याव	कुर्याम

विधिलिङ् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	कुर्वीत	कुर्वीयाताम्	कुवीरन्
म० पु०	कुर्वीथाः	कुर्वीयाथाम्	कुर्वीध्वम्
उ० पु०	कुर्वीय	कुर्वीवहि	कुर्वीमहि

लृट्—करिष्यति-करिष्यते ।

मन् (मनु)=मानना, समझना [आत्म० सक० सेट्] मनुते, मनिष्यते ।

(९) क्र्यादिगण

क्री (डुक्रीञ्)=खरीदना [उभ० प०, सक०, अनिट्]

लट् (परस्मैपद)

प्र० पु०	क्रीणाति	क्रीणीतः	क्रीणन्ति
म० पु०	क्रीणासि	क्रीणीथः	क्रीणीथ
उ० पु०	क्रीणामि	क्रीणीवः	क्रीणीमः

लट् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	क्रीणीते	क्रीणाते	क्रीणते
म० पु०	क्रीणीषे	क्रीणाथे	क्रीणीध्वे
उ० पु०	क्रीणे	क्रीणीवहे	क्रीणीमहे

लोट् (परस्मैपद)

प्र० पु०	क्रीणातु	क्रीणीताम्	क्रीणन्तु
म० पु०	क्रीणीहि	क्रीणीतम्	कीणीत
उ० पु०	क्रीणानि	क्रीणाव	क्रीणाम

लोट् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	क्रीणीताम्	क्रीणाताम्	क्रीणताम्
म० पु०	क्रीणीष्व	क्रीणाथाम्	क्रीणीध्वम्
उ० पु०	क्रीणै	क्रीणावहै	क्रीणामहै

लङ् (परस्मैपद)

प्र० पु०	अक्रीणात्	अक्रीणीताम्	अक्रीणन्
म० पु०	अक्रीणाः	अक्रीणीतम्	अक्रीणीत
उ० पु०	अक्रीणाम्	अक्रीणीव	अक्रीणीम

लङ् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	अक्रीणीत	अक्रीणाताम्	अक्रीणत

म० पु०	अक्रीणीथाः	अक्रीणाथाम्	अक्रीणीध्वम्
उ० पु०	अक्रीणि	अक्रीणीवहि	अक्रीणीमहि

विधिलिङ् (परस्मैपद)

प्र० पु०	क्रीणीयात्	क्रीणीयाताम्	क्रीणीयुः
म० पु०	क्रीणीयाः	क्रीणीयातम्	क्रीणीयात
उ० पु०	क्रीणीयाम्	क्रीणीयाव	क्रीणीयाम

विधिलिङ् (आत्मनेपद)

प्र० पु०	क्रीणीत	क्रीणीयाताम्	क्रीणीरन्
म० पु०	क्रीणीथाः	क्रीणीयाथाम्	क्रीणीध्वम्
उ० पु०	क्रीणीय	क्रीणीवहि	क्रीणीमहि

लृट्—क्रेष्यति-क्रेष्यते।

पू (पूञ्) [पु]=पवित्र करना, उभ० पुनाति-पुनीते; लृट्-पविष्यति-पविष्यते। इसी प्रकार लू (लूञ्) [लु]=काटना, धू (धूञ्) [धु]=हिलाना आदि धातुओं के रूप होते हैं।

मन्थ् [मथ्]=मथना, पर० मथ्नाति; लृट्—मन्थिष्यति।

बन्ध् [बध्]=बाँधना, पर० बध्नाति; लृट्—भन्त्स्यति।

ज्ञा [जा]=जानना, पर० जानाति; लृट्—ज्ञास्यति।

स्तृ (स्तॄञ्)=आच्छादित करना, उभ०, स्तृणाति-स्तृणीते; लृट्—स्तरिष्यति-स्तरीष्यति स्तरिष्यते-स्तरीष्यते।

(१०) चुरादिगण

इस गण के सभी धातुओं से स्वार्थ में णिच् (इ) होता है। ये णिजन्त धातु अनेकाच् होने के कारण सभी सेट् और सभी साधारणतः उभयपदी होते हैं। इनके रूप स्वादिगणीय इकारान्त 'श्रि' धातु के समान होते हैं।

चुर्+णिच्=चोरि=चुराना [उभ० प०, सक०, सेट्]

लट्—चोरयति-चोरयते; लोट्—चोरयतु-चोरयताम्; लङ्—अचोरयत्-अचोरयत; वि० लि०—चोरयेत्-चोरयेत; लृट्—चोरयिष्यति-चोरयिष्यते।

ज्ञा + णिच् = ज्ञापि = आज्ञा देना, ज्ञापयति-ज्ञापयते; लृट्—ज्ञापयिष्यति-ज्ञापयिष्यते।

वच् + णिच् [वाचि] = बाँचना, पढ़ना, वाचयति-वाचयते।

छद् + णिच् [छादि] = ढाँकना, छादयति-छादयते।

स्वद् + णिच् [स्वादि] = चखना, स्वादयति-स्वादयते।

दल् + णिच् [दालि] = फाड़ना, दालयति-दालयते।

लल् + णिच् [लालि] = चाहना, लालयति-लालयते।

क्षल् + णिच् [क्षालि] = धोना, क्षालयति-क्षालयते।

वृज् + णिच् [वर्जि] = छोड़ना, वर्जयति-ते; वर्जयिष्यति-ते।

तुल् + णिच् [तोलि] = तोलना, तोलयति-ते; तोलयिष्यति-ते।

दुल् + णिच् [दोल] = झुलाना, दोलयति-ते; दोलयिष्यति-ते।

मृज् + णिच् [मार्जि] = शुद्ध करना, मार्जयति ते; मार्जयिष्यति-ते।

पाल् + णिच् [पालि] = रक्षा करना, पालयति-ते; पालयिष्यति-ते।

पूज् + णिच् [पूजि] = पूजा करना, पूजयति-ते; पूजयिष्यति-ते।

कृत् + णिच् [कीर्ति] = वर्णन करना कीर्तयति-ते; कीर्तयिष्यति-ते।

चिन्त् + णिच् [चिन्ति] = सोचना, विचारना, चिन्तयति-ते।

अर्ज = प्राप्त करना, अर्जयति-ते।

अर्च् = पूजना, अर्चयति-ते।

तर्ज् = झिड़कना, धमकाना, तर्जयति-ते।

मन्त्र् = परामर्श करना, 'गुप्तविचार' करना मन्त्रयति-ते।

शब्द = बोलना, शब्दयति-ते।

प्रत्ययान्त धातु

(१) ण्यन्त-प्रकरण

दूसरे से क्रिया करवाने को प्रेरणा कहते हैं। उस प्रेरणा के अर्थ में सब धातुओं से णिच् (इ) प्रत्यय लगता है। अर्थात् प्रेषणादि रूप प्रयोजक व्यापार में धातु से णिच् होता है। यथा गुरुः पठितुं प्रेरयति= पाठयति; (गुरु पढ़ाता है)। णिजन्त धातुओं के रूप चुरादिगणीय

स्वार्थिक णिजन्त धातुओं के समान होते हैं। सभी ण्यन्तधातु उभ० सक०, सेट् होंगे। यथा—

मूलधातु	ण्यन्त धातु	अर्थ	लट्
भू	भावि	होने की प्रेरणा करना	भावयति-ते
अद्	आदि	खिलाना	आदयति-ते
हु	हावि	होम करना	हावयति-ते
दिव्	देवि	खेलाना इत्यादि	देवयति-ते
सु	सावि	नहलाना इत्यादि	सावयति-ते
तुद्	तोदि	पीड़ा दिलाना	तोदयति-ते
रुध्	रोधि	विराना	रोधयति-ते
तन्	तानि	फैलवाना	तानयति-ते
क्री	क्रापि	खरीदवाना	क्रापयति-ते
चुर्	चोरि	चुरवाना	चोरयति-ते

लृट्	लोट्		लङ्	वि० लि०
भावयिष्यति-ते	भावयतु	भावयताम्	अभावयत्-त	भावयेत्-त
आदयिष्यति-ते	आदयतु	आदयताम्	आदयत्-त	आदयेत्-त
हावयिष्यति-ते	हावयतु	हावयताम्	अहावयत्-त	हावयेत्-त
देवयिष्यति-ते	देवयतु	देवयताम्	अदेवयत्-त	देवयेत्-त
सावयिष्यति-ते	सावयतु	सावयताम्	असावयत्-त	सावयेत्-त
तोदयिष्यति-ते	तोदयतु	तोदयताम्	अतोदयत्-त	तोदयेत्-त
रोधयिष्यति-ते	रोधयतु	रोधयताम्	अरोधयत्-त	रोधयेत्-त
तानयिष्यति-ते	तानयतु	तानयताम्	अतानयत्-त	तानयेत्-त
क्रापयिष्यति-ते	क्रापयतु	क्रापयताम्	अक्रापयत्-त	क्रापयेत्-त
चोरयिष्यति-ते	चोरयतु	चोरयताम्	अचोरयत्-त	चोरयेत्-त

(२) सन्नन्त-प्रकरण

कोई क्रिया करने की 'इच्छा' अर्थ में उस क्रियाबोधक धातु में विकल्प से सन् (स) प्रत्यय लगता है। 'सन्' प्रत्यय लगने पर मूल

धातु में 'द्वित्व' तथा अभ्यास कार्य होते हैं। सन्नन्त धातु मूल धातु के अनुसार परस्मैपदी या आत्मनेपदी या उभयपदी होते हैं। इनके रूपों में भ्वादिगणीय धातुओं के सदृश 'शप् (अ)' विकरण होता है। जैसे—पठितुमिच्छति = पिपठिषति।

मूलधातु	सन्नन्त धातु	अर्थ	लट्
भू	बुभूष	होने की इच्छा करना	बुभूषति
अद्	जिघत्स	खाने की इ०	जिघत्सति
हु	जुहूष	होम करने की इ०	जुहूषति
दिव	दिदेविष	खेलने की इ०	दिदेविषति
सु	सुसूष	नहाने की इ०	सुसूषति
तुद्	तुतुत्स	पीड़ा देने की इ०	तुतुत्सति
रुध्	रुरुत्स	घेरने की इ०	रुरुत्सति
तन्	तितनिष	फैलाने की इ०	तितनिषति
क्री	चिक्रीष	खरीदने की इ०	चिक्रीषति
चुर्	चुचोरयिष	चुराने की इ०	चुचोरयिषति

लृट्	लोट्	लङ्	वि० लि०
बुभूषिष्यति	बुभूषतु	अबुभूषत्	बुभूषेत्
जिघत्सिष्यति	जिघत्सतु	अजिघत्सत्	जिघत्सेत्
जुहूषिष्यति	जुहूषतु	अजुहूषत्	जुहूषेत्
दिदेविषिष्यति	दिदेविषतु	अदिदेविषत्	दिदेविषेत्
सुसूषिष्यति	सुसूषतु	असुसूषतु	सुसूषेत्
तुतुत्सिष्यति	तुतुत्सतु	अतुतुत्सत्	तुतुत्सेत्
रुरुत्सिष्यति	रुरुत्सतु	अरुरुत्सत्	रुरुत्सेत्
तितनिषिष्यति	तितनिषतु	अतितनिषत्	तितनिषेत्
चिक्रीषिष्यति	चिक्रीषतु	अचिक्रीषत्	चिक्रीषेत्
चुचोरयिषिष्यति	चुचोरयिषतु	अचुचोरयिषत्	चुचोरयिषेत्

(३) यङन्त-प्रकरण

किसी क्रिया को बार-बार या बहुत करने को क्रियासमभिहार कहते हैं। इस अर्थ में हलादि एकाच् धातुओं में विकल्प से 'यङ्' 'य'

प्रत्यय लगता है। गत्यर्थक धातुओं में वक्रगमन के अर्थ ही में और लुपादि[1] धातुओं में निन्दित क्रिया के अर्थ में 'यङ्' होता है, 'क्रियासमभिहार' में नहीं। यङ् प्रत्यय के भी लगने पर मूल धातु में 'द्वित्व' एवं अभ्यास कार्य होते हैं। यङन्त धातु केवल आत्मनेपदी होते हैं और उन में भ्वादि वत् 'शप्' विकरण होता है। यथा—पुनः पुनः अतिशयेन वा भवति बोभूयते।

मूल धातु	यङन्त धातु	अर्थ	लट्
भू	बोभूय	बारबार या बहुत होना	बोभूयते
रुद्	रोरुद्य	,, रोना	रोरुद्यते
हु	जोहूय	,, होम क०	जोहूयते
व्रज्	वाव्रज्य	वक्र गमन करना	वाव्रज्यते
गम्	जङ्गम्य	,,	जङ्गम्यते
चर्	चञ्चूर्य	गर्हितं चरति	चञ्चूर्यते
जप्	जञ्जप्य	गर्हितं जपति	जञ्जप्यते

लृट्	लोट्	लङ्	वि० लि०
बोभूयिष्यते	बोभूयताम्	अबोभूयत	बोभूयेत
रोरुदिष्यते	रोरुद्यताम्	अरोरुद्यत	रोरुद्येत
जोहूयिष्यते	जोहूयताम्	अजोहूयत	जोहूयेत
वाव्रजिष्यते	वाव्रज्यताम्	अवाव्रज्यत	वाव्रज्येत
जङ्गमिष्यते	जङ्गम्यताम्	अजङ्गम्यत	जङ्गम्येत
चञ्चूरिष्यते	चञ्चूर्यताम्	अचञ्चूर्यत	चञ्चूर्येत
जञ्जपिष्यते	जञ्जप्यताम्	अजञ्जप्यत	जञ्जप्येत

(४) नामधातु-प्रकरण

संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और अव्यय शब्दों को नाम कहते हैं। उन में प्रत्यय जोड़कर जो धातु बनते हैं उन्हें नामधातु कहते हैं। इनके रूप भ्वादिगणीय धातु के समान होते हैं। इनमें भी 'शप्' होता है।

---

१. लुपादि=लुप, सद्, चर्, जप्, जभ्, दह्, दश्, गृ।

नामधातु बनाने के ७ प्रत्यय हैं—१ क्यच्, २ काम्यच्, ३ क्यङ्, ४ क्यष्, ५ क्विप् ६ णिच् और ७ णिङ्।

(१) क्यच् (य) [परस्मैपद]

(१) "अपने लिए कुछ पाने की इच्छा करने" के अर्थ में कर्मपद के आगे तथा (२) आधार अर्थ में (अर्थात् किसी को दूसरे के समान मानने समझने या देखने के अर्थ में) उपमानवाचक कर्मपद के आगे और कहीं पर कहीं के समान काम करने के अर्थ में उपमानवाचक अधिकरणपद के आगे इन्हीं पूर्वोक्त दो अर्थों में 'क्यच्' प्रत्यय होता है। यथा—

(१) स आत्मनः पुत्रमिच्छति=पुत्रीयति=वह अपने लिए एक पुत्र चाहता है।

स आत्मनः पुत्रम् एषिष्यति=पुत्रीयिष्यति=वह अपने लिए एक पुत्र चाहेगा।

(२) शिष्यं पुत्रमिव आचरति=शिष्यं पुत्रीयति=वह शिष्य को पुत्र-सा समझता है।

कुटयां प्रासादे इव आचरति=कुटयां प्रासादीयति=कुटी में महल की तरह रहता है।

(२) काम्यच् (काम्य) [परस्मैपद]

अपने लिए कुछ पाने की इच्छा करने के अर्थ में कर्मपद के आगे 'काम्यच्' प्रत्यय लगता है। इसके आने पर कर्मपद की विभक्ति का लोप हो जाता है। 'काम्यच्' में 'च्' चला जाता है। इसके पूर्व विसर्ग हो तो उसका 'स्' और 'नकार' हो तो उसका लोप हो जाता है। यथा—

स आत्मनः पुत्रमिच्छति=सपुत्रः काम्यति=वह अपने लिए पुत्र चाहता है।

ऐसे ही पुत्रकाम्यिष्यति, पुत्रकाम्यतु, अपुत्रकाम्यत इत्यादि।

(३) क्यङ् (य) [आत्मनेपद]

(१) उपमानवाचक कर्तृपद के आगे आचार अर्थ में 'क्यङ्

प्रत्यय होता है। उसके पूर्व सकारान्त शब्दों में 'ओजस्' और 'अप्स-रस्' शब्द के सकारका नित्य और अन्यान्य शब्दों के सकार का विकल्प से लोप हो जाता है। यदि भाषितपुंस्क स्त्रीलिङ्ग शब्द रहता है तो पुंवद्भाव भी हो जाता है।

(२) इसके अतिरिक्त अभूततद्भाव अर्थ में भी 'क्यङ्' होता है। क्यङ् प्रत्ययान्त धातु आत्मनेपदी होते हैं। यथा—

(१) कृष्ण इवाचरति=कृष्णायते। शिष्यः पुत्र इवाचरति= शिष्यः पुत्रायते। ओजः [ओजस्वी] इवाचरति=ओजायते। विद्वा-निवाचरति=विद्वायते-विद्वस्यते इत्यादि।

(२) अभूततद्भाव अर्थ में भृश, शीघ्र, चपल, मन्द, पण्डित, उत्सुक, सुमनस्, दुर्मनस्, उन्मनस् आदि शब्दों में 'क्यङ्' लगता है। पूर्व शब्द के अन्तिम हल् का लोप हो जाता है।

यथा—अभृशो भृशो भवति=भृशायते। असुमनाः सुमनाः भवति= सुमनायते इत्यादि।

(४) क्यष् (य) [उभयपद]

लोहितादि तथा तद्धित 'डाच्' प्रत्ययान्त शब्दों में होने के अर्थ में 'क्यष्' (य) प्रत्यय लगता है। 'क्यष्' प्रत्ययान्त धातु उभयपदी होता है। यथा—लोहितायति-लोहितायते। पटपटायति-पटपटायते आदि।

(५) क्विप् (०) [परस्मैपद]

आचार अर्थ में, क्यङ् के समान ही, उपमानवाचक कर्तृबोधक सभी प्रातिपदिकों में 'क्विप्' प्रत्यय लगता है। यथा–कृष्ण इवाचरति= कृष्णति। कविरिव=कवयति इत्यादि।

(६) णिच् (इ) [उभयपद]

(१) करने और (२) कहने के अर्थों में कर्मबोधक प्रातिपदिकों में तथा (३) अतिक्रमण के अर्थ में करणबोधक प्रातिपदिकों में 'णिच्' प्रत्यय लगता है और इसमें 'इष्ठन्' प्रत्यय के समान ही प्राति-पदिकों में वर्णविकार हुआ करते हैं।

यथा—पटुं करोति=पटयति=पटु बना देता है। हितम् आचष्टे=हितयति=हित कहता है। अश्वेन नदीमतिक्रामति=नदीम् अश्वयति=नदी को अश्व से पार करता है। ऐसे ही हस्तिना=हस्तयति। चरणाभ्यां=चरणयति।

७ णिङ् (इ) [आत्मनेपद]

'पुच्छ' शब्द से उत्क्षेपणादि अर्थ में 'भाण्ड' शब्द से इकट्ठा करने के अर्थ में और 'चीवर' शब्द से अर्जुन तथा परिधान अर्थों में णिङ् होता है। यथा—उत्पुच्छयते। विपुच्छयते। परिपुच्छयते। सम्भाण्डयते। भिक्षुः सञ्चीवरयते।

आत्मनेपद-प्रक्रिया

आत्मनेपद तथा परस्मैपद के सम्बन्ध में साधारणतः सामान्य प्रकरण में बतलाया गया है।

क्रिया का फल यदि कर्तृगामी हो (अर्थात् काम करनेवाला ही यदि उस कर्म के फल को प्राप्त करे) तो 'स्वरितेत्' 'ञित्' तथा णिजन्त धातुओं से आत्मनेपद होता है और क्रिया का फल यदि परगामी हो तो पूर्वोक्त धातुओं से परस्मैपद होता है[1]। यथा—स पचते (वह अपने लिए पकाता है) तथा स पचति (वह दूसरों के लिए पकाता है)। किन्तु कुछ धातुओं से नियमतः आत्मनेपद ही तथा कुछ से परस्मैपद ही होता है। जैसे—'अनुदात्तेत्' (एध आदि) तथा ङित् (शीङ् आदि) धातुओं से आत्मनेपद ही होता है[2]। भाववाच्य तथा कर्मवाच्य में नियमतः आत्मनेपद ही होता है[3]। यथा—हस्यते बालेन। पठ्यते छात्रेण ग्रन्थः। कुछ उपसर्गों के साथ तथा कुछ अर्थों में कतिपय धातुओं से आत्मनेपद ही होता है।

---

१. "स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले" "णिचश्च" (पा० सू०)

२. "अनुदात्तङित आत्मनेपदम्"

३. "भावकर्मणोः" (पा० सू०)

'नि' उपसर्ग से परे 'विश्' धातु से आत्मनेपद होता है[1]। यथा—निविशते। किन्तु प्रविशति आदि में परस्मैपद ही होता है।

परि, वि तथा अव उपसर्गों के बाद 'क्री' धातु से आत्मनेपद ही होता है[2]। यथा—पुस्तकम् परिक्रीणीते वा अवक्रीणीते (पुस्तक खरीदता है। अन्नं विक्रीणीते (अन्न बेचता है)।

वि और परा उपसर्गों से परे 'जि' धातु से आत्मनेपद होता है[3]। जैसे—विजयतां देवः। शत्रुं पराजयस्व।

'आ' उपसर्ग के उत्तरवर्ती 'दा' धातु से आत्मनेपद ही होता है यदि कर्ता का अपना मुँह बाने का अर्थ न प्रकट होता हो[4]। यथा—छात्रा विद्यामाददते (छात्र विद्या ग्रहण करते हैं)। किन्तु मुँह बाने के अर्थ में बालः मुखं व्याददाति। परन्तु जहाँ पर कोई दूसरे का मुख विदारण करता है वहाँ आत्मनेपद होता ही है। जैसे—पिपीलिकाः पतङ्गस्य मुखं व्याददते।

अनु, सम्, परि, आ—इन उपसर्गों से परे 'क्रीड्' धातु से आत्मनेपद होता है[5]। यथा—अनुक्रीडते, परिक्रीडते।

विशेष—कूजन अर्थ में सम् पूर्वक 'क्रीड' परस्मैपदी ही रहता है[6]। यथा—संक्रीडति चक्रम्।

सम्, अव, प्र, वि-इन उपसर्गों से परे 'स्था' से आत्मनेपद होता है[7]। यथा—संतिष्ठते, अवतिष्ठते, प्रतिष्ठते, वितिष्ठते।

---

१. "नेर्विशः"

२. "परिव्यवेभ्यः क्रियः"

३. "विपराभ्यां जेः"

४. "आङो दोऽनास्यविहरणे" (पा० सू०) 'पराङ्ग जर्मकान्न निषेधः' (वा०)

५. "क्रीडोऽनुसम्परिभ्यश्च" (पा० सू०)

६. 'समोऽकूजने' (वा)

७. "समवप्रविभ्यः स्थः" (पा० सू०)

प्रतिज्ञा के अर्थों में 'आ' उपसर्ग से परे 'स्था' आत्मनेपदी होता है[1]। यथा—वैयाकरणाः शब्दं नित्यमातिष्ठन्ते (वैयाकरण शब्द को नित्य—)।

प्रकाशन (अर्थात् अपने अभिप्राय की अभिव्यक्ति) तथा स्थेय=विवादास्पद विषय के निर्णायक इन अर्थों में 'स्था' धातु से आत्मनेपद होता है[2]। यथा—गोपी कृष्णाय तिष्ठते=गोपी अपना आशय प्रगट करती है। स्थेयाख्य में—संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः=जो संशय में पड़कर कर्ण आदि को निर्णायक रूप में मानता है।

यदि उठने का अर्थ न रहे तो 'उद्' के आगे 'स्था' धातु से परे आत्मनेपद होता है[3]। यथा—ज्ञानाय उत्तिष्ठते=ज्ञान के लिए प्रयत्न करता है। किन्तु उठने के अर्थ में आसनात् उत्तिष्ठति।

'उप' उपसर्ग से परे 'स्था' धातु से अधोलिखित अर्थों में आत्मनेपद होता है[4]। (क) वैदिक मन्त्र के द्वारा देवता की स्तुति करने के अर्थ में; यथा—आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते=अग्नि देवता के मन्त्र से अग्नीध्र की स्तुति करता है। किन्तु पत्नी पतिमुपतिष्ठति यौवनेन। (ख) देवता की उपासना के अर्थ में; यथा—सूर्यमुपतिष्ठते=सूर्य की उपासना करता है। (ग) संगतिकरण (संगम) के अर्थ में; यथा—प्रयागे गंगा यमुनामुपतिष्ठते; (घ) मित्र बनाने के अर्थ में; यथा—छात्रः छात्रमुपतिष्ठते=छात्र छात्र को मित्र बनाता है। (ङ) मार्ग आगे की ओर बढ़ता है—इस अर्थ में; यथा—पन्थाः नगरमुपतिष्ठते=यह रास्ता नगर को जाता है।

---

१. "आङः प्रतिज्ञायामुपसंख्यानम्" (वा०)

२. "प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च"

३. "उदोऽनूर्ध्वकर्मणि"

४. "उपान्मन्त्रकरणे" (पा० सू०) 'उपाद्देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्' (वा०)

लिप्सा अर्थ रहने पर उप+स्था से आत्मनेपद विकल्प से होता है[1]। याचकः प्रभुमुपतिष्ठते, उपतिष्ठति वा।

अकर्मक 'उप' पूर्वक 'स्था' से आत्मनेपद होता है[2]। यथा भोजनकाले उपतिष्ठते=भोजन के समय में उपस्थित होता है।

'उद्' और 'वि' से परे अकर्मक वा स्वांगकर्मक 'तप्' धातु से आत्मनेपद होता है[3]। यथा—ग्रीष्मे सूर्यः उत्तपते; वितपते वा। सः अग्नौ पाणिम् उत्तपते, वितपते वा। किन्तु सकर्मक तथा पराङ्गकर्मक होने पर सुवर्णकारः सुवर्णम् उत्तपति, वितपति वा। माता बालस्य पाणिमुत्तपति, वितपति वा।

'आङ्' से परे अकर्मक या स्वाङ्गकर्मक 'यम्' तथा 'हन्' धातुओं से आत्मनेपद होता है[4]। यथा वृक्षोऽयम् आयंस्यते=यह वृक्ष फैलेगा। स पाणिम् आयच्छते, आहते वा=वह हाथ फैलाता है या पीटता है।

'उप' पूर्वक 'यम्' धातु से आत्मनेपद होता है यदि पाणिग्रहण रूप स्वीकार अर्थ रहे[5]। यथा—भार्यामुपयच्छते। भट्टि ने तो स्वीकार मात्र में इसका प्रयोग किया है। यथा उपायंस्त महास्त्राणि।

'सम्' पूर्वक अकर्मक 'गम्' तथा 'ऋच्छ्' धातुओं से आत्मनेपद होता है[6]। यथा—वाक्यं संगच्छते। समृच्छते।

'सम्' पूर्वक अकर्मक 'ऋ' 'श्रु' तथा 'दृश्' से आत्मनेपद होता है[7]। यथा—प्रभोः कृपया अन्धोऽपि संपश्यते। संश्रृणुष्व कपे !; हितान्न यः

---

१. 'वा लिप्सायामिति वक्तव्यम्' (वा०)

२. "अकर्मकाच्च" (पा० सू०)

३. "उद्विभ्यां तपः" (पा० सू०) 'स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्' (वा०)

४. "आङो यमहनः"

५. "उपाद् यमः स्वकरणे"

६. "समो गम्यृच्छिभ्याम्" (पा० सू०)

७. 'अर्त्तिश्रुदृशिभ्यश्च' (वा०)

संश्रुणुते स किं प्रभुः, यहाँ कर्म की अविवक्षा करने से 'श्रु' धातु अकर्मक है।

'आ' (ङ्) पूर्वक 'ह्वे' (ञ्) धातु से स्पर्धा के अर्थ में आत्मनेपद होता है[1]। मल्लः मल्लम् आह्वयते। स्पर्धा अर्थ नहीं रहने पर पिता पुत्रम् आह्वयति।

वृत्ति (स्वच्छन्दगति), सर्ग (उत्साह) तथा तायन (वृद्धि) अर्थों में उपसर्गरहित 'क्रम्' से या केवल 'उप' और 'परा' पूर्वक 'क्रम्' से आत्मनेपद होता है[2]। यथा—शास्त्रे क्रमते बुद्धिः=शास्त्र में बुद्धि अप्रतिहत है। अध्ययनाय क्रमते=पढ़ने के लिए उत्साह करता है। काचे प्रकाशः क्रमते=शीशे में प्रकाश बढ़ता है।

इसी तरह उपक्रमते, पराक्रमते।

'आ (ङ्)' पूर्वक 'क्रम्' धातु से ज्योति के उद्‌गमन अर्थ में आत्मनेपद होता है[3]। यथा—सूर्यः आक्रमते=सूर्य उदित हो रहे हैं। किन्तु आक्रामति धूमो हर्म्यतलात्। यहाँ ज्योति का उद्‌गमन नहीं है, अतः आत्मनेपद नहीं होता है।

अपलाप रूप अर्थ रहने पर 'ज्ञा' धातु से आत्मनेपद होता है[4]। यदि 'ज्ञा' धातु अकर्मक हो तो भी आत्मनेपद होता है। यथा—शतम् अपजानीते=सौ रुपये का अपलाप करता है। सर्पिषो जानीते।

'सम्' और 'प्रति' पूर्वक 'ज्ञा' धातु से परे अनाध्यान (स्मरण से भिन्न) अर्थ में आत्मनेपद होता है[5]। हनुमान् सीतां समजानीत= हनुमान् ने सीता को पहचाना। शतं प्रतिजानीते=सौ रुपये स्वीकार करता है।

---

१. "स्पर्द्धायामाङः"

२. "वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः" "उपपराभ्याम्" (पा० सू०)

३. "आङ उद्‌गमने" (पा० सू०) 'ज्योतिरुद्‌गमन इति वाच्यम्' (वा०)

४. "अपह्नवे ज्ञः" "अकर्मकाच्च"

५. "सम्प्रतिभ्यामनाध्याने"

'उद्' पूर्वक सकर्मक 'चर्' धातु से आत्मनेपद होता है[1]। यथा—स धर्मम् उच्चरते=वह धर्म का उल्लङ्घन करता है। किन्तु वाष्पम् उच्चरति=भाफ ऊपर उठती है।

तृतीयान्तपद के साथ प्रयुक्त 'सम्' पूर्वक 'चर्' धातु से आत्मनेपद होता है[2]। रथेन सञ्चरते=रथ से जाता है।

सन्नन्त ज्ञा, श्रु, स्मृ तथा दृश् धातुओं से आत्मनेपद होता है[3]। यथा—धर्मं जिज्ञासते। गुरून् शुश्रूषते। सुस्मूर्षयते। दिदृक्षते।

रक्षण से भिन्न अर्थ में अर्थात् खाने और भोगने के अर्थों में 'भुज्' धातु से आत्मनेपद होता है[4]। यथा—ओदनं भुङ्क्ते=भात खाता है। वृद्धो जनो दुःख-शतानि भुङ्क्ते=बूढ़े लोग सैकड़ों दुःख भोगते हैं। किन्तु रक्षण अर्थ में—राजा महीं भुनक्ति=राजा पृथ्वी का पालन करता है। निम्नलिखित स्थितियों में 'वद्' धातु से आत्मनेपद ही होता है।

(१) 'अप' पूर्वक 'वद्' से कर्तृगामी क्रियाफल में[5], यथा—चौरो न्यायमपवदते।

(२) भासन (युक्तिपूर्वक अच्छा बोलने), उपसंभाषा (सान्त्वना देने), ज्ञान, यत्न, विमति (विपरीत कहने), उपमन्त्रण (प्रार्थना करने) के अर्थों में[6], यथा—पण्डितः शास्त्रे वदते, प्रभुः भृत्यानुपवदते। क्षेत्रे वदते। क्षेत्रे विवदन्ते कृषकाः। याचकः दातारमुपवदते।

(३) बहुत मनुष्यों के एक साथ बोलने के अर्थ में[7]; यथा—सम्प्रवदन्ते छात्राः। किन्तु सम्प्रवदन्ति काकाः।

---

१. "उदश्चरः सकर्मकात्"

२. "समस्तृतीयायुक्तात्"

३. "ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः" (पा० सू०)

४. "भुजोऽनवने"

५. "अपाद्वदः"

६. "भासनोपसंभाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः"

७. "व्यक्तवाचां समुच्चारणे"

(४) मनुष्य यदि कर्त्ता हो तो 'अनु' पूर्वक अकर्मक 'वद' से[1]; यथा—शिष्यः गुरोरनुवदते=शिष्य गुरु जैसा बोलता है। किन्तु भाषया संस्कृतमनुवदति।

(५) बहुत लोगों के एक साथ परस्पर विरोधी बात कहने के अर्थ में विकल्प से[2]; यथा—रोगे विप्रवदन्ते, विप्रवदन्ति वा वैद्याः।

परस्मैपद प्रक्रिया

आत्मनेपद के निमित्तों से रहित धातुओं से कर्त्ता में परस्मैपद होता है[3]। यथा—अस्ति, भवति आदि।

अधोलिखित स्थलों में केवल परस्मैपद ही होता है।

(१) 'अनु' और 'परा' उपसर्गों से परे 'कृ' धातु से केवल परस्मैपद होगा[4]। यथा—बालः यूनोऽनुकरोति। स विघ्नात् पराकरोति।

(२) अभि, प्रति, अति–इस उपसर्गों से परे 'क्षिप्' धातु से केवल परस्मैपद होगा[5]। यथा—अभिक्षिपति, प्रतिक्षिपति, अतिक्षिपति।

(३) 'प्र' से परे 'वह्' और 'परि' से परे 'मृष्' से परस्मैपद ही होगा[6]। यथा—वायुः प्रवहति। स परिमृष्यति, परिमर्षति वा।

(४) वि, आङ्, परि तथा उप पूर्वक 'रम्' धातु से परस्मैपद ही होगा। यदि उप+रम् अकर्मक हो तो विकल्प से परस्मैपद होगा[7]।

---

१. "अनोरकर्मकात्"

२. "विभाषा विप्रलापे" (पा० सू०)

३. "शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्"

४. "अनुपराभ्यां कृञः"

५. "अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः"

६. "प्राद्वहः" "परेर्मृषः"

७. "व्याङ्परिभ्यो रमः" "उपाच्च" "विभाषाऽकर्मकात्"

यथा—कार्यात् विरमति। अवकाशे आरमन्ति। प्रियं दृष्ट्वा परिरमति। सभापतिर्वक्तारम् उपरमति, किन्तु बालकाः क्रीडनात् उपरमन्ते उपरमन्ति वा।

(५) बुध्, युध्, नश्, जन्, इङ्, प्रु, द्रु तथा स्रु इन आठ ण्यन्त धातुओं से परे केवल परस्मैपद होगा[1]। यथा—बोधयति कमलानि। योधयति काष्ठानि। नाशयति दुःखानि। जनयति सुखानि। अध्यापयति पुराणानि। प्रावयति कष्टानि। द्रावयति घृतानि। स्रावयति जलानि।

(६) निगरण (भक्षण) और चलन (कम्पन) अर्थवाले ण्यन्त धातुओं से परे केवल परस्मैपद होता है[2]। यथा—निगारयति; आशयति; भोजयति। चलयति, कम्पयति।

(७) किन्तु ण्यन्त 'अद्' धातु में यह नियम नहीं लगता है[3]। अतः आदयते, आदयति वा अन्नं बटुना।

---

१. "बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रुभ्यो णेः" (पा० सू०)

२. "निगरणचलनार्थेभ्यश्च" (पा० सू०)

३. 'अदेः प्रतिषेधः' (वा०)

कृदन्त-प्रकरण

जिस प्रकार धातुओं में 'तिङ्' प्रत्यय जोड़कर क्रियापद बनाये जाते हैं उसी प्रकार उनमें कुछ प्रत्यय जोड़कर प्रातिपदिक अर्थात् मूल शब्द बनाये जाते हैं। इन्हीं प्रत्ययों को 'कृत्' (करनेवाला अर्थात् धातुओं से मूलशब्द बनानेवाला) कहते हैं और इन प्रत्ययों से बने शब्द 'कृदन्त' कहलाते हैं। इनमें उणादि प्रत्ययों को छोड़कर कृत् प्रत्यय लगभग ८० हैं। इनमें तव्यत्, तव्य, अनीयर्, केलिमर्, यत्, ण्यत्, क्यप्—ये 'कृत्य' प्रत्यय कहलाते हैं।

इन 'कृत्' प्रत्ययों में 'कृत्य' प्रत्यय, 'क्त' प्रत्यय और 'खलर्थ' प्रत्यय भाव और कर्म में होते हैं[१]। अवशिष्ट कृत् प्रत्ययों में कुछ ल्युट्, घञ्, क्तिन् आदि प्रत्ययों को छोड़कर और प्रत्यय साधारणतः कर्त्ता में होते हैं[२]।

तव्य (त्), तव्य, अनीय (र्), केलिमर् (एलिम)—सकर्मक धातुओं से कर्म में तथा अकर्मक धातुओं से भाव में उपर्युक्त चारों प्रत्यय होते हैं[३]। यथा—धर्मश्चेतव्यः। पुष्पं चयनीयम्। माता पूजनीया। ओदनः पचेलिमः। काष्ठानि मिदेलिमानि। शयितव्यम्, शयनीयं वा शिशुना इत्यादि।

नोट—केवल 'वस्' धातु से कर्ता में भी तव्य प्रत्यय होता है। यथा—वसतीति वास्तव्यः। यह 'तव्य' प्रत्यय णित् होता है[४]।

"अचो यत्" (पा० सू०)

यत् (य)—अजन्त धातुओं से यत् प्रत्यय होता है। यथा – जि-जेयम्। नी-नेयम्। दा-देयम्। पा-पेयम्। गा-गेयम् इत्यादि। इसके

---

१. "तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः" (पा० सू०)

२. "कर्तरि कृत्" (पा० सू०)

३. "तव्यत्तव्यानीयरः" (पा० सू०) 'केलिमर उपसंख्यानम्' (का० वा०)

४. 'वसेस्तव्यत्' कर्तरि णिच्च (वा०)

अतिरिक्त शप्, लभ् आदि पवर्गान्त अदुपध धातुओं से तथा शक्, सह्, एवं अनुपसर्गक गद्, मद्, चर्, यम् धातुओं से तथा तक्, शस्, चत् आदि धातुओं से यत् प्रत्यय होता है।

"ऋहलोर्ण्यत्" (पा० सू०)

ण्यत् (य)—ऋवर्णान्त तथा हलन्त धातुओं से 'ण्यत्' होता है। यथा—कृ+ण्यत् (य)=कार्यम्। हृ-हार्यम्। धृ-धार्यम्। वृष्-वर्ष्यम् इत्यादि।

"एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्" (पा० सू०)

क्यप् (य)—इ, स्तु, शास्, वृ, दृ, जुष् तथा वृत्, वृध् आदि अन्यान्य धातुओं से क्यप् होता है।

नोट—पित् कृत् प्रत्यय के परे ह्रस्वान्त धातु में तुक् (त्) हो जाता है। यथा—इ+क्यप् (य)=इत्यः। ऐसे ही स्तु—स्तुत्यः। शास्-शिष्यः। वृ—वृत्यः। आ+दृ-आदृत्यः। जुष्-जुष्यः। वृत्यम्, वृध्यम् आदि।

विशेष—राज्ञा सोतव्यः वा राजा (सोमः) सूयते अत्र (राजन्+सू+क्यप्)=राजसूयः, राजसूयम्। सरति आकाशे इति—सूर्यः (सृ+क्यप्)। मृषा+वद्+क्यप्=मृषोद्यम्। रुच्+क्यप्=रुच्यम्। गुप+क्यप्=गुप्यम् (सोना चाँदी से भिन्न धन)। कृष्टे स्वयमेव पच्यन्ते=कृष्टपच्याः (कृष्ट+पच्+क्यप्)। न व्यथते=अव्यथ्यः (न+व्यथ्+क्यप्)[1]।

"ण्वुल्तृचौ" (पा० सू०)

ण्वुल् (वु=अक) तृच् (तृ)—सभी धातुओं से कर्ता में 'ण्वुल् (अक)' और 'तृच्' प्रत्यय होते हैं। यथा—कृ+ण्वुल् (अक)=कारकः। कृ+तृ=कर्ता। पठ्-पाठकः, पठिता। हृ-हारकः, हर्ता। नी-नायकः, नेता। दृश-दर्शकः, द्रष्टा आदि।

---

१. "राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याऽव्यथ्याः" (पा० सू०)

"नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" (पा० सू०)

ल्यु, णिनि, अच्—नन्द्यादि धातुओं से ल्यु (यु=अन), ग्रह्यादि धातुओं से णिनि (इन्) और पचादि धातुओं से अच् (अ) प्रत्यय कर्ता में होते हैं ।

यथा—नन्दयतीति=नन्दनः (नन्दि+ल्यु—अन)। जनम् अर्दयति इति जनार्दनः (जन+अर्दि+अन)। मधुं सूदयति इति मधुसूदनः। विशेषेण भीषयति इति विभीषणः। लवणः।

ग्रह्+णिनि=ग्राही। स्था-स्थायी। मन्त्र-मन्त्री। वि+शी (ङ्)=विशयी। वि+षि (ञ्)=विषयी।

पचतीति पचः (पच्+अच्-अ) स्त्री० पचा। नद्-नदः-नदी। दिव्-देवः-देवी। चुर-चोरः-चोरी। रात्रौ चरति इति रात्रिञ्चरः, रात्रिचरः।

"इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" (पा० सू०)

क (अ)—इगुपध (जिनकी उपधा में इक् है ऐसे) धातुओं और ज्ञा, प्री तथा कृ धातुओं से कर्ता में 'क' होता है। यथा—क्षिपतीति क्षिपः। बुध्-बुधः। ज्ञा-ज्ञः। प्री-प्रियः। कॄ-किरः।

"आतश्चोपसर्गे" (पा० सू०)

क—उपसर्ग पूर्व में रहने पर आकारान्त धातुओं से 'क' होता है। प्र+ज्ञा+क=प्रज्ञः। अधि+पा+क=अधिपः। वि+आ+घ्रा +क=व्याघ्रः।

"पाघ्राध्माधेट्दृशः शः" (पा० सू०)

श (अ) पा, घ्रा, ध्मा, धेट् और दृश् धातुओं से 'श' प्रत्यय होता है। शित्त्वात् सार्वधातुकसंज्ञा होने से 'पा' आदि के स्थान में 'पिब' आदि आदेश होता है। यथा—पिबतीति पिबः (पा+श)। घ्रा-जिघ्रः। ध्मा-धमः। धे-धयः। दृश्-पश्यः।

"आतोऽनुपसर्गे कः" (पा० सू०)

क (अ)—कर्मवाचक शब्द उपपद हो तो उपसर्ग रहित आका-

रान्त धातुओं से 'क' होता है। यथा-धनं ददाति इति धनदः (धन+दा+क)। जलं ददातीति जलदः।

"सुपि स्थः" (पा० सू०)

क (अ)—कोई सुबन्त पद उपपद रहने से 'स्था' प्रभृति आकारान्त धातुओं से क होता है। यथा—गृहे तिष्ठतीति गृहस्थः। द्वाभ्यां पिबतीति द्विपः। आतपात् त्रायते इति आतपत्रम्।

"सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" (पा० सू०)

णिनि (इन्)—जातिवाचक से भिन्न सुबन्त उपपद रहने पर धातु से ताच्छील्य (स्वभाव) अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय होता है यथा—उष्णं भोक्तुं शीलमस्य उष्णभोजी।

"क्तक्तवतू निष्ठा" "निष्ठा" (पा० सू०)

क्त, क्तवतु। त, तवत्—भूतकालिक क्रिया के अर्थ में वर्तमान धातुओं से क्त और क्तवतु प्रत्यय होते हैं। इनमें 'क्त' भाव और कर्म में तथा 'क्तवतु' कर्ता में होते हैं। यथा—मया हसितम्, भक्तेन कृष्णः स्तुतः, विष्णुः विश्वं कृतवान्।

गत्यर्थक, अकर्मक एवं श्लिष्, शीङ्, स्था, आस्, वस्, जन्, रुह, जॄ—इतने (उपसर्ग पूर्वक सकर्मक) धातुओं से भाव और कर्म के साथ कर्ता में भी 'क्त' होता है[1]। यथा—गृहं गतः। बालः भीतः। प्रियामाश्लिष्टः। हरिः शेषमधिशयितः। वैकुण्ठमधिष्ठितः। कृष्णमुपासितः। हरिदिनमुपोषितः। लक्ष्मणो भरतम् अनुजातः। यानमारूढ़ः। विश्वमनुजीर्णः।

इच्छार्थक, ज्ञानार्थक तथा पूजार्थक धातुओं से वर्तमानकाल में 'क्त' प्रत्यय होता है[2]। यथा—मम मतः, इष्टः। मम बुद्धं, विदितमस्ति। पूजितः, अर्चितः आदि।

---

१. "गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च" (पा० सू०)

२. "मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च" (पा० सू०)

कुछ निष्ठा प्रत्ययान्त शब्दों के उदाहरण

धातु	क्त (त)	क्तवतु (तवत्)
घ्रा	घ्राणः, घ्रातः	घ्राणवान्, घ्रातवान्
दा	दत्तः	दत्तवान्
आ+दा	आत्तः	आत्तवान्
धा	हितः	हितवान्
पा	पीतः	पीतवान्
मा	मितः	मितवान्
निर्+वा	निर्वातो वातः	निर्वातवान्
निर+वा	निर्वाणो दीपः	निर्वाणवान्
हा	हीनः	हीनवान्
क्षि	क्षीणः	क्षीणवान्
श्वि	शूनः	शूनवान्
डी	डीनः	डीनवान्
ली	लीनः	लीनवान्
शी	शयितः	शयितवान्
ह्री	ह्रीतः	ह्रीतवान्
	ह्रीणः	ह्रीणवान्
दू	दूनः	दूनवान्
लू	लूनः	लूनवान्
जागृ	जागरितः	जागरितवान्
जॄ[1]	जीर्णः	जीर्णवान्
ह्वे	हूतः	हूतवान्
क्षै	क्षामः	क्षामवान्
गै	गीतः	गीतवान्
ग्लै	ग्लानः	ग्लानवान्
त्रै	त्रातः, त्राणः	त्रातवान्, त्राणवान्

१. ऐसे ही कॄ, तॄ, दॄ, शॄ आदि।

ध्यै	ध्यातः	ध्यातवान्
शकि	शङ्कितः	शङ्कितवान्
लिख्	लिखितः	लिखितवान्
मृज्	मृष्टः	मृष्टवान्
पच्	पक्वः	पक्ववान्
मुच्	मुक्तः	मुक्तवान्
भञ्ज्	भग्नः	भग्नवान्
रञ्ज्	रक्तः	रक्तवान्
नृत्	नृत्तः	नृत्तवान्
गद्	गदितः	गदितवान्
क्लिद्	क्लिन्नः	क्लिन्नवान्
मद्	मत्तः	मत्तवान्
खन्	खातः	खातवान्
जन्	जातः	जातवान्
मन्	मतः	मतवान्
अद्	जग्धः अन्नम्	जग्धवान्
क्षुद्	क्षुण्णः	क्षुण्णवान्
खिद्[1]	खिन्नः	खिन्नवान्
प्याय्	पीनः	पीनवान्
स्फाय्	स्फीतः	स्फीतवान्
धाव्	धौतः	धौतवान्
	धावितः	धावितवान्
सिव्	स्यूतः	स्यूतवान्
भ्रंश्	भ्रष्टः	भ्रष्टवान्
शुष्	शुष्कः	शुष्कवान्
सह्	सोढः	सोढवान्
मुह्	मुग्धः, मूढः	मुग्धवान्, मूढवान्

१. इसी तरह छिद्, तुद्, विद्, भिद्, स्विद्, सद् आदि ।

शतृ (अत्)—कर्तृवाच्य क्रियाबोधक धातुमात्र से परस्मैपद में लट् लकार के स्थान में (वर्तमानकाल में) और लृट् लकार के स्थान में (भविष्यत् काल में) शतृ प्रत्यय होता है।

नोट—शतृ प्रत्यय के साथ धातुओं के रूप वैसे ही हो जाते हैं जैसे लट् और लृट् लकारों के 'झि' ('अन्ति' और 'स्यन्ति') के साथ। यथा भू—भवत्-भवन्-भवन्ती। भविष्यत्-भविष्यन्-भविष्यन्ती। अद्—अदत्-अत्स्यत्। हु—जुह्वत्-होष्यत्। दिव्—दीव्यत्-देविष्यत्। सु—सुन्वत्-सोष्यत्। तुद्—तुदत्-तोत्स्यत्। रुध्—रुन्धत्-रोत्स्यत्। तन्—तन्वत्-तनिष्यत्। क्री—क्रीणत्-क्रेष्यत्। चुर्—चोरयत् चोरयिष्यत्। पाठि—पाठयत्-पाठयिष्यत्। चिकीर्ष—चिकीर्षत्-चिकीर्षिष्यत्। पुत्रीय—पुत्रीयत्-पुत्रीयिष्यत्।

विशेष प्रयोग—विद् (जानना) विदन्-विद्वान्। अधि+इ (पढ़ना) अधीयन् (सुखसे पढ़नेवाला)। द्विषन्=शत्रुः।

शानच् (आन)—कर्तृवाच्य या कर्मवाच्य क्रियाबोधक धातुओं से आत्मनेपद में लट् और लृट् लकारों के स्थान में 'शानच्' होता है। शानच् के योग में भी धातु के स्वरूप वैसे ही होते हैं जैसे लट् और लृट् लकारों के 'झ' के योग में। यथा—

	कर्तृवाच्य		कर्मवाच्य
	लट्	लृट्	लट्
सेव्	सेवमानः;	सेविष्यमाणः	सेव्यमानः
ब्रू	ब्रुवाणः;	वक्ष्यमाणः	उच्यमानः
दा	ददानः;	दास्यमानः	दीयमानः
मन्	मन्यमानः;	मंस्यमानः	मन्यमानः
सु	सुन्वानः;	सोष्यमाणः	सूयमानः
तुद्	तुदमानः;	तोत्स्यमानः	तुप्समानः
रुध्	रुन्धानः;	रोत्स्यमानः	रुध्यमानः
तन्	तन्वानः;	तनिष्यमाणः	तन्यमानः

क्री	क्रीणानः;	क्रेष्यमाणः	क्रीयमाणः
चुर्	चोरयमाणः;	चोरयिष्यमाणः	चोर्यमाणः
पाठि	पाठयमानः;	पाठयिष्यमाणः	पाठ्यमानः
चिकीर्ष	चिकीर्षमाणः	चिकीर्षिष्यमाणः	चिकीर्ष्यमाणः
पापठ्य	पापठ्यमानः;	पापठिष्यमाणः	पापठ्यमानः
पुत्रीय	पुत्रीयमाणः;	पुत्रीयिष्यमाणः	पुत्रीय्यमाणः पुत्रीयिष्यमाणः

नोट—कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य में धातुओं के लृट् स्थानीय शानच् प्रत्ययान्त के रूप नाम-धातु को छोड़कर समान ही होते हैं। विशेष प्रयोग—आस् + शानच् = आसीनः ।

ल्युट् (यु=अन)—धातुओं से नपुंसक और भाव में 'क्त' प्रत्यय के साथ ल्युट् भी होता है। यथा—हसितम्-हसनम् । गतं-गमनम् ।

नोट—'ल्युट्' प्रत्यय का प्रयोग कहीं-कहीं कारकों के अर्थ में भी होता है। तब ल्युडन्त का प्रयोग नपुंसक के अतिरिक्त लिङ्ग में भी होता है। यथा—(कर्म में) भुज्यते इति 'भोजनम्'। श्रूयते अनेन इति 'श्रवणः' 'घ्राणः' आदि करण में। मसिर्धीयते अत्रेति मसिधानी आदि अधिकरण में। इसी तरह सम्प्रदानम् अपादानम् आदि।

क्त्वा (त्वा) ल्यप् [Indeclinable Past Participle]

"समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" (पा० सू०)

एक कर्ता की अनेक क्रियाएँ हों तो पूर्वकालिकक्रियाबोधक धातुओं से क्त्वा प्रत्यय होता है। क्त्वा प्रत्यय के पूर्व धातु का स्वरूप साधारणतः 'क्त' प्रत्यय के पूर्व समान होता है। यथा-स्नात्वा भुङ्क्ते। भुक्त्वा, पीत्वा च विद्यालयं गच्छति ।

प्रतिषेधार्थक 'अलं' और 'खलु' के योग में क्त्वा प्रत्यय होता है। यथा-अलं गत्वा तत्र । यदि तृप्तोऽसि खलु पीत्वा ।

कुछ क्त्वा प्रत्ययान्त शब्द—

दा—दत्त्वा दम्—दमित्वा, दान्त्वा वृत्—वर्तित्वा, वृत्त्वा
तॄ-तीर्त्वा शम्—शमित्वा, शान्त्वा कृष्—कृषित्वा, कर्षित्वा

वस्-उषित्वा	नश्-नशित्वा, नंष्ट्वा, नष्ट्वा	तृष्-तृषित्वा, तर्षित्वा
शास्-शिष्ट्वा	सह्-सहित्वा, सोढ्वा	मृष्-मृषित्वा, मर्षित्वा
धा-हित्वा	लिख्-लिखित्वा, लेखित्वा	भञ्ज्-भङ्क्त्वा, भक्त्वा
अद्-जग्ध्वा	क्लिद्-क्लिदित्वा, क्लेदित्वा	रञ्ज्-रङ्त्वा, रक्त्वा
भिद्-भित्वा	दिव्-देवित्वा, द्यूत्वा	ग्रन्थ्-ग्रन्थित्वा, ग्रथित्वा
बन्ध्-बद्ध्वा	इष्-इषित्वा, इष्ट्वा	स्यन्द्-स्यन्दित्वा, स्यन्त्वा
श्वि-श्वयित्वा	द्युत्-द्युतित्वा, द्योतित्वा	गुम्फ्-गुम्फित्वा, गुफित्वा
डी-डयित्वा	गुप्-गोपायित्वा	मस्ज्-मङ्क्त्वा, मक्त्वा
जॄ-जरीत्वा, जरित्वा	गोपित्वा, गुपित्वा; गुप्त्वा	ग्रह्-गृहीत्वा
खन्-खनित्वा, खात्वा	लुभ्-लोभित्वा, लुभित्वा, लुब्ध्वा	क्षुध्-क्षुधित्वा, क्षोधित्वा
तन्-तनित्वा, तत्वा		वच्-उक्त्वा
क्रम्-क्रमित्वा, क्रान्त्वा, क्रन्त्वा	गुह्-गूहित्वा, गूढ्वा	वप्-उप्त्वा

मृज् मार्जित्वा, मृष्ट्वा क्लिश्-क्लिशित्वा, क्लिष्ट्वा

नृत्-नर्तित्वा

"समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" (पा० सू०)

'नञ्' भिन्न अव्यय के साथ 'क्त्वा' प्रत्ययान्त पद का समास होने पर उसमें 'क्त्वा' के स्थान में 'ल्यप्' (य) हो जाता है।

यथा—आ + नी = आनीय	द्विधा + कृ = द्विधाकृत्य
आ + दा = आदाय	निर् + भिद् = निर्भिद्य
निस् + चि = निश्चित्य	उत् + प्लु = उत्प्लुत्य
परा + जि = पराजित्य	प्र + दिव् = प्रदीव्य
अनु + भू = अनुभूय	अव + कॄ = अवकीर्य
अधि + इ = अधीत्य	आ + पॄ = आपूर्य
प्र + इ + प्रेत्य	प्र + वच् = प्रोच्य

सम् + कृ = संस्कृत्य   प्र + वस् = प्रोष्य
आ + ह्वे = आहूय   वि + ग्रह् = विगृह्य
अनु + वद् = अनूद्य   उद् + तॄ = उत्तीर्य

नोट—'ल्यप्' प्रत्यय के योग में निम्नलिखित विशेष कार्य ध्यान में रखने चाहिए।

१. ह्रस्वान्त धातु के परे 'तुक्' (त्) हो जाता है। यथा—विजित्य।

२. तन्, मन्, हन् धातु के 'नकार' का लोप हो जाता है। यथा—वितत्य, संमत्य, आहत्य इत्यादि।

३. गम्, नम्, यम्, रम् धातुओं के 'मकार' का विकल्प से लोप हो जाता है। यथा—आगत्य, आगम्य, प्रणत्य, प्रणम्य आदि।

४. मूल इकारान्त भिन्न अनुनासिकोपध धातुओं के अनुनासिक का लोप हो जाता है। यथा—परिष्वज्य, किन्तु चुबि से परिचुम्ब्य।

५. ण्यन्त धातुओं के 'णिच्' का लोप हो जाता है, किन्तु पूर्व स्वर लघु हो तो णिच् के स्थान में 'अय्' हो जाता है। यथा—वि + चिन्ति + य = विचिन्त्य। प्रपीड्य। सम्बोध्य। किन्तु विगणय्य। विघटय्य। प्रणमय्य।

पौनःपुन्य (बारबार) अर्थ रहने पर क्त्वा प्रत्यय के अर्थ में 'णमुल्' (अम्) भी होता है[1]। यथा—स्मारं स्मारं नमति कृष्णम्। स्मृत्वा स्मृत्वा इत्यर्थः। इसी तरह पायं पायम्। भोजं भोजम्। श्रावं श्रावम्। गमं गामम्। गमं गमम्।

"तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्" (पा० सू०)

तुमुन्, ण्वुल्—पूर्वक्रिया की निमित्त (उद्देश्य) रूप उत्तरक्रिया के बोधक धातुओं से तुमुन् (तुम्) और ण्वुल् (वु = अक) प्रत्यय होते हैं। यथा—कृष्णं द्रष्टुं याति। कृष्णं दर्शको याति।

इच्छार्थक धातु उपपद में रहने पर (उसके कर्मरूप क्रिया के

---

१. "आभीक्ष्ण्ये णमुल्" (पा० सू०)

बोधक) धातुओं से, यदि दोनों का कर्ता एक ही व्यक्ति हो तो 'तुमुन्' होता है[1]। यथा—स इच्छति भोक्तुम्।

शक्, धृष् आदि धातुओं के योग में,[2] समर्थार्थक शब्द[3] तथा कालार्थक शब्द[4] उपपद रहने पर धातुओं से 'तुमुन्' होता है। यथा—कर्तुं शक्नोति, धृष्णोति आदि। गन्तुं समर्थः, शक्तः, प्रवीणः आदि। भोक्तुं कालः, समयः, वेला आदि।

'तुमुन्' प्रत्यय से पूर्व धातु का स्वरूप 'तव्य' प्रत्यय से पूर्व के समान होता है।

कुछ तुमुन्नन्त शब्द।

भू-भवितुम् अद्-अत्तुम्। हु-होतुम्। दिव्-देवितुम्। सु-सोतुम्। तुद्-तोत्तुम्। रूध्-रोद्धुम्। तन्-तनितुम्। क्री-क्रेतुम्। चुर्-चोरयितुम्। बोधि-बोधयितुम्। चिकीर्ष-चिकीर्षितुम्। बोबुध्य-बोबुधितुम्। पुत्रीय-पुत्रीयितुम्। इ-एतुम्। चि-चेतुम्। जागृ-जागरितुम्। मृ-मर्तुम्। जीव-जीवितुम्। क्षम्-क्षमितुम्, क्षन्तुम्। वस्-वस्तुम्। दह्—दग्धुम्। यज्-यष्टुम्। सह्-सहितुम्, सोढुम्। हन्-हन्तुम्। सिच्-सेक्तुम्। गुप्-गोपायितुम्, गोपितुम्, गोप्तुम्। दुह्-दोग्धुम्। मुह्-मोहितुम्, मोग्धुम्।

"भावे" (पा० सू०)

घञ् (अ)—भाव में धातुओं से 'घञ्' प्रत्यय होता है। कहीं-कहीं कारकों के अर्थों में भी 'घञ्' होता है। घञ् प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा पठनम्-पाठः। पचनम्-पाकः आदि। कारकों में—चित्तं दारयन्ति=विद्रावयन्तीति=दाराः। जरयति=नाशयति कुलमिति=जारः। लभ्यते इति लाभः। रज्यति अनेन इति रागः। उपेत्य अधीयते अस्मात् इति उपाध्यायः। आध्रियते अत्रेति आधारः।

---

१. "समानकर्तृकेषु तुमुन्" (पा० सू०)

२. "शकधृषज्ञाग्लाघटरभलभक्रमसहार्हास्त्यर्थेषु तुमुन्" (पा० सू०)

३. "पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु"

४. "कालसमयवेलासु तुमुन्" (पा० सू०)

"स्त्रियां क्तिन्" (पा० सू०)

क्तिन् (ति)—भाव में धातुओं से स्त्रीलिङ्ग में 'क्तिन्' होता है और कहीं-कहीं कारक के अर्थ में भी। यथा दृष्टिः=दर्शन=देखना और देखने का करण-नेत्र। श्रुति=सुनना और सुनने का कर्म वेद तथा सुनने का करण-कान।

कुछ 'क्तिन्' प्रत्ययान्त शब्द

स्था-स्थितिः। यज्-इष्टिः। जन्-जातिः। वच्-उक्तिः। कम्-कान्तिः। रम्-रतिः। गम्-गतिः। तुष्-तुष्टिः। कृ-कीर्णिः। गॄ-गीर्णिः। लू-लूनिः। धू-धूनिः। पू-पूनिः। अद्-जग्धिः। स्मृ-स्मृतिः। जागृ-जागृतिः इत्यादि।

स्पृहि, गृहि, पति, दयि, निद्रा, तन्द्रा, श्रद्धा इतने से कर्ता के स्वभाव, धर्म वा पटुता के अर्थ में 'आलुच्' (आलु) प्रत्यय होता है। यथा—स्पृहयति तच्छील: तद्धर्मा, तत्साधुकारी वा स्पृहयालुः। ऐसे ही गृहयालुः, पतयालुः दयालुः, निद्रालुः, तन्द्रालुः, श्रद्धालुः।

"सनाशंसभिक्ष उः" (पा० सू०)

उ—सन्नन्त धातु, आ+शंस् तथा भिक्ष् धातु से इच्छा प्रगट करनी हो तो 'उ' प्रत्यय होता है। यथा—पठितुमिच्छुः=पिपठिषुः। द्रष्टुमिच्छुः=दिदृक्षुः। ज्ञातुमिच्छुः=जिज्ञासुः। आशंसुः। भिक्षुः।

ताच्छील्यादि अर्थों में लष्, पत्, पद्, स्था, भू, वृष्, हन्, कम्, गम्, शॄ—इतने धातुओं से 'उकञ्' (उक) प्रत्यय होता है। यथा—लाषुकः, पातुकः, पादुकः, स्थायुकः आदि।

भाव तथा कर्तृवर्जित कारकों में यज्, याच्, यत्, विच्छ्, प्रच्छ्, रक्ष् इतने धातुओं से नङ् (न) प्रत्यय होता है। यथा—यज्ञः, याच्ञा, यत्नः, विश्नः, प्रश्नः, रक्ष्णः।

अनेक शब्दों के लिए एक शब्द

(Give Single Word For)

अनुग्रहीतुमिच्छति = अनुजिघृक्षति ।

अत्तुमिच्छति = जिघत्सति । यष्टुमिच्छुः = यियक्षुः ।

प्रष्टुमिच्छति = पिपृच्छिषति । कर्तुमिच्छति = चिकीर्षति ।

भवितुमिच्छति = बुभूषति । पातुमिच्छति = पिपासति ।

स्थातुमिच्छति = तिष्ठासति । शयितुमिच्छति = शिशयिषते ।

हन्तुमिच्छति = जिघांसति । अध्येतुमिच्छति = अधिजिगांसते ।

आप्तुमिच्छति = ईप्सति । अर्धितुमिच्छति = ईर्त्सति, अर्दिधिषति ।

भ्रष्टुमिच्छति = बिभ्रज्जिषति, बिभर्ज्जिषति, बिभ्रक्षति, बिभर्क्षति ।

नर्तितुमिच्छति = निनर्तिषति, निनृत्सति ।

तर्तुमिच्छति = तितरिषति, तितरीषति, तितीर्षति ।

अध्यापयितुमिच्छति = अध्यापिपयिषति, अधिजिगापयिषति ।

साधयितुमिच्छति = सिषाधयिषति ।

भवन्तं प्रेरयति = भावयति । शयानं प्रेरयति = शाययति ।

पिबन्तं प्रेरयति = पाययति । वान्तं प्रेरयति = वामयति ।

क्रीणन्तं प्रेरयति = क्रापयति । रुहन्तं प्रेरयति = रोपयति, रोहयति ।

सीदन्तं प्रेरयति = सातयति, सादयति ।

गच्छन्तं प्रेरयति = गमयति ।

विस्मयमानं प्रेरयति = विस्मापयते ।

बिभ्यतं प्रेरयति = भाययते, भीषयते ।

पुनः पुनरतिशयेन वा भवति = बोभूयते ।

कुटिलं व्रजति = वाव्रज्यते । गर्हितं लुम्पति = लोलुप्यते ।

गर्हितं चरति = चञ्चूर्यते । गर्हितं फलति = पम्फुल्यते, पम्फुल्यते ।

गर्हितं जपति = जञ्जप्यते । गर्हितं गिलति = जेगिल्यते ।

पुनः पुनरतिशयेन वा ददाति = देदीयते । पुनः...पिबति = पेपीयते ।

पुनः...करोति = चेक्रीयते । पुनः...हन्ति = जेघ्नीयते ।
पुनः...वर्तते = वरीवृत्यते । पुनः...नर्तति = नरीनृत्यते ।
पुनः...पृच्छति = परीपृच्छयते । पुनः...जिघ्रति = जेघ्रीयते ।
पुनः...धमति = देध्मीयते । पुनः...शेते = शाशय्यते ।
पुनः...श्वयति = शोशूयते, शेश्वीयते । कुटिलं क्रामति = चङ्क्रम्यते ।
आत्मनः पुत्रमिच्छति = पुत्रीयति । आत्मनः गामिच्छति = गव्यति ।
आत्मनः नावमिच्छति = नाव्यति ।
बुभुक्षया अशनमिच्छति = अशनायति ।
पिपासया उदकमिच्छति = उदन्यति । गर्धेन धनमिच्छति = धनायति ।
वडवा अश्वमिच्छति = अश्वस्यति । गौः वृषमिच्छति = वृषस्यति ।
बालः लालसया क्षीरमिच्छति = क्षीरस्यति ।
उष्ट्रः लालसया लवणमिच्छति = लवणस्यति ।
शिष्यं पुत्रमिवाचरति = पुत्रीयति ।
कृष्ण इवाचरति = कृष्णायते, कृष्णति ।
कुट्यां प्रासादे इवाचरति = प्रासादीयति ।
ओज इवाचरति = ओजायते । अप्सरा इवाचरति = अप्सरायते ।
यश इवाचरति = यशायते, यशस्यते ।
विद्वानिवाचरति=विद्वायते, विद्वस्यते ।
सपत्नीवाचरति = सपत्नायते, सपत्नीयते, सपतीयते ।
कुमारीवाचरति = कुमारायते । युवतिरिवाचरति = युवायते ।
राजेवाचरति = राजानति । पन्था इवाचरति = पथीनति, पयेनति ।
अभृशो भृशो भवति = भृशायते ।
असुमनाः सुमना भवति = सुमनायते ।
रोमन्थं वतयति = रोमन्थायते । तपश्चरति = तपस्यति ।
बाष्पमुद्वमति = बाष्पायते । ऊष्माणम् उद्वमति=ऊष्मायते ।
फेनमुद्वमति = फेनायते । शब्दं करोति = शब्दायते, शब्दयति ।
सुखं वेदयते = सुखायते । मुण्डं करोति = मुण्डयति ।
वस्त्रैः समाच्छादयति = संवस्त्रयति ।

सत्यं करोति आचष्टे वा=सत्यापयति।
पाशं विमुञ्चति=विपाशयति।
अर्थं करोति आचष्टे वा=अर्थापयति।
वेदं करोति आचष्टे वा=वेदापयति। रूपं पश्यति=रूपयति।
वीणया उपगायत=उपवीणयति। तूलेनानुकुष्णाति=अनुतूलयति।
श्लोकैरुपस्तौति=उपश्लोकयति। सेनया अभियाति=अभिषेणयति।
लोमानि अनुमार्ष्टि=अनुलोमयति। त्वचं गृह्णाति=त्वचयति।
वर्मणा सन्नह्यति=संवर्मयति। वर्णं गृह्णाति=वर्णयति।
चूर्णैः अवध्वंसते=अवचूर्णयति। श्वानमाचष्टे=शावयति, शुनयति।
विद्वांसमाचष्टे=विद्वयति, विदावयति विदयति।
श्रीमतीं श्रीमन्तं वा आचष्टे=श्राययति।
स्थूलमाचष्टे=स्थवयति। दूरमाचष्टे=दवयति।
युवानमाचष्टे=यवयति, कनयति। अन्तिकमाचष्टे=नेदयति।
बाढमाचष्टे=साधयति। प्रशस्यमाचष्टे=प्रशस्ययति।
वृद्धमाचष्टे=ज्यापयति। प्रियमाचष्टे=प्रापयति।
स्थिरमाचष्टे=स्थापयति। स्फिरमाचष्टे=स्फापयति।
उरुमाचष्टे=वरयति, वारयति। बहुलमाचष्टे=वंहयति।
गरूनाचष्टे=गरयति। तृपमाचष्टे=त्रापयति।
दीर्घमाचष्टे=द्राघयति। वृन्दारकमाचष्टे=वृन्दयति।
बहूनाचष्टे=भावयति। कलहं कुर्वन्तः=कलहायमानाः।
स्त्रियमात्मानं मन्यते=स्त्रियम्मन्यः, स्त्रीम्मन्यः।
आत्मानं गां मन्यते=गाम्मन्यः।
आत्मानं पण्डितं मन्यते=पण्डितम्मन्यः।
दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोऽन्तरालम्=दक्षिणपूर्वा।
द्वौ वा त्रयो वा=द्वित्राः। त्रयो वा चत्वारो वा=त्रिचतुराः।
केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तम्=केशाकेशि।
दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तम्=दण्डादण्डि।
हिमस्यात्ययः=अतिहिमम्। मक्षिकाणामभावः=निर्मक्षिकम्।

मद्राणां समृद्धिः=सुमद्रम् । यवनानां व्यृद्धिः=दुर्यवनम् ।
निद्रा सम्प्रति न युज्यते=अतिनिद्रम् । बलमनतिक्रम्य=यथाबलम् ।
चक्रेण युगपत्=सचक्रम् । क्षत्राणां सम्पत्तिः=सक्षत्रम् ।
तृणमप्यपरित्यज्य=सतृणम् । अग्निग्रन्थपर्यन्तम्=साग्नि ।
अलंकुमार्यै=अलंकुमारिः । कोशाम्ब्या निर्गतः=निष्कोशाम्बिः ।
अश्वाश्च वडवा च=अश्ववडवाः । भ्राता च स्वसा च=भ्रातरौ ।
पुत्रश्च दुहिता च=पुत्रौ । अधिज्यं धनुर्यस्य=अधिज्यधन्वा ।
षण्णां मातॄणामपत्यम्=षाण्मातुरः । राजानमतिक्रान्ता=अतिराजी ।
पञ्च गावो धनं यस्य=पञ्चगवधनः । गाण्डीवं धनुर्यस्य=गाण्डीवधन्वा ।
सुष्ठु राजा=सुराजा । अतिशयितः राजा=अतिराजा ।
परमश्चासौ राजा=परमराजः । नास्ति किञ्चन यस्य=अकिञ्चनः ।
सप्तानामह्नां समाहारः=सप्ताहः ।
भ्राता सह वर्तमानः=सभ्रातृकः, सहभ्रातृकः ।
पद्मे इव अक्षिणी यस्य सः=पद्माक्षः । शोभनः गन्धः यस्य तत्=सुगन्धि ।
जनानां समूहः=जनता । प्रावृषि भवम्=प्रावृषेण्यम् ।
मातृष्वसुः पुत्रः=मातृष्वस्रेयः । सायं भवम्=सायन्तनम् ।
प्रावृषि जातः=प्रावृषिकः । पथि जातः=पथिकः ।
सर्वपथं व्याप्नुवती=सर्वपथीना । स्त्रीषु भवम्=स्त्रैणम् ।
धर्मादनपेतम्=धर्म्यम् । न्यायादनपेतम्=न्याय्यम् ।
पथि साधु=पाथेयम् । व्यासस्यापत्यं पुमान्=वैयासकिः ।
वरुडस्यापत्यम्=वारुडकिः । सुधातुरपत्यम्=सौधातकिः ।
शूले संस्कृतम्=शूल्यम् । युवतीनां समूहः=यौवनम् ।
पाकेन निर्वृत्तम्=पाकिमम् । दध्ना संसृष्टम्=दाधिकम् ।
समायां समायां विजायते=समांसमीना ।
अद्य श्वो वा विजायते=अद्यश्वीना ।
तारकाः सञ्जाताः अस्य=तारकितम् । राज्ञः अपत्यानि(जातिः)=राजन्यः ।
दशरथस्यापत्यं पुमान्=दाशरथिः । श्वशुरस्यापत्यं पुमान्=श्वशुर्यः ।
आयुधेन जीवति=आयुधीयः, आयुधिकः ।

पञ्चभिर्गोभिः क्रीतः=पञ्चगुः। पञ्चभिर्नौभिः क्रीतः=पञ्चनौः।
द्वाभ्यां नौभ्यामागतः=द्विनावरूप्यः।
एकः पादः यस्याः ऋचः=एकपदा। द्वौ पादौ यस्याः ऋचः=द्विपदा।
पञ्चभिरश्वैः क्रीता=पञ्चाश्वा। द्वौ विस्तौ पचति=द्विविस्ता।
द्वौ आचितौ वहति=द्व्याचिता। द्वाभ्यां कम्बलाभ्यां क्रीता=द्विकम्बल्या।
द्वे काण्डे प्रमाणमस्याः=द्विकाण्डा (क्षेत्रभक्तिः)
द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्याः=द्विपुरुषी, द्विपुरुषा (परिखा)
कुण्डमिव ऊधो यस्याः=कुण्डोध्नी (धेनुः)।
अन्तरस्ति अस्यां गर्भः=अन्तर्वत्नी।
पतिरस्ति अस्याः=पतिवत्नी (सधवा)।
धीवानमतिक्रान्ता=अतिधीवरी।
समानेऽहनि=सद्यः। समाजं रक्षति=सामाजिकः।
अश्मनो विकारः=आश्मः। ईषज्जलम्=काजलम्।
अश्रेणयः श्रेणयः कृताः=श्रेणिकृताः।
पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य=पाञ्चेन्द्रः। राधा जाया यस्य=राधाजानिः।

व्याकरणोदय समाप्त।

परिशिष्ट (क)

विशिष्टप्रयोग-विचार

अधोलिखित रेखाङ्कित शब्दों को शुद्ध कीजिए अथवा उनका औचित्य बतलाइये :—

१. अजिग्रहत् तं जनको धनुस्तत् । (भट्टिकाव्य)

२. अयाचितारं नहि देवदेवमन्द्रिः सुतां ग्राहयितुं शशाक ।

(कुमारसम्भव १, ५२)

(स धनुः अग्रहीत् तं जनकः प्रैरयत् इति तं जनकः धनुः अजिग्रहत्)

"गति-बुद्धि-प्रत्यवसानार्थ-शब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ" इस सूत्र से गत्यर्थक, बुद्ध्यर्थक, प्रत्यवसानार्थक, शब्दकर्मक तथा अकर्मक धातुओं की ही अण्यन्तावस्था के कर्ता की ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा होती है। अतएव जैसे 'पाचयत्योदनं देवदत्तेन यशदत्तः' यहाँ देवदत्त की कर्मसंज्ञा नहीं होती है, वैसे ही 'ग्रह्' धातु के अणि-कर्ता में णिच् करने पर कर्मत्व न होने के कारण उपर्युक्त उदाहरणों में 'तम्' तथा 'देवदेवम्' पद अशुद्ध हैं ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि 'ग्रह' धातु प्रकृत में बुद्ध्यर्थक माना गया है। अर्थात् तं धनुरजिग्रहत्=तं धनुः बोधितवान्। सुतां ग्राहयितुम् =उद्वाह्यत्वेन बोधयितुम् इत्यादि अर्थ किये जाते हैं। अतएव "स गन्धर्वान् आतोद्यं ग्राहयामास' इत्यादि प्रयोग भी निष्पन्न होते हैं।

३. अद्य प्रातः स ग्राममगच्छत् ।

४. अद्य सायंकाले सभा भविता ।

"अनद्यतने लङ्" इस सूत्र से अनद्यतनभूतकाल में लङ् लकार

होने से अद्यतनभूत अर्थ में लङ् का प्रयोग अशुद्ध है। यहाँ 'अगमत्' यह लङ् का ही प्रयोग करना चाहिए। इसी तरह अनद्यतन भविष्यत्काल में "अनद्यतने लुट्" सूत्र से लुट्-लकार का प्रयोग होने के कारण प्रकृत में 'भविता' प्रयोग भी अशुद्ध है। यहाँ भविष्यति का ही व्यवहार होना चाहिए। अद्यतन का अर्थ है : 'अतीतायाः रात्रेः पश्चार्द्धेन आगामिन्याः पूर्वार्द्धेन च सहितो दिवसः अद्यतनः तद्भिन्नोऽनद्यतनः।'

५. अपश्यती वत्समिवेन्दुबिम्बं तच्छर्वरी गौरिव हुं करोति।

'दृश्' धातु से 'शतृ' प्रत्यय, धातु के स्थान में 'पश्य' आदेश, शप् आदि करने पर "ऋन्नेभ्यो ङीप्" सूत्र से ङीप् के बाद नदीसंज्ञा होने से "शप्श्यनोर्नित्यम्" सूत्र से 'नुम्' होने से 'पश्यन्ती' प्रयोग ही होना चाहिए। यदि यह प्रयोग, जैसा कि कहा जाता है, महर्षि पाणिनि का है, तो आर्ष प्रयोग माना जायगा। ऐसे ही दुर्गासप्तशती में 'कुर्वन्ती व्यचरत्तदा' यह नुम्घटित 'कुर्वन्ती' आर्ष-प्रयोग ही है।

६. अम्यन्धा यान्ति राजानम्, अम्वश्वौ राजमन्दुराम्।

"अदसो मात्" इस सूत्र से 'अदस्' शब्दसम्बन्धी मकार से परे ईत् और ऊत् की प्रगृह्य संज्ञा होती है। "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्" इस सूत्र से प्रकृतिभाव होने से अमी-अन्धाः तथा अमू-अश्वौ ऐसे ही प्रयोग होंगे, न कि यहाँ यण् सन्धि होगी।

७. अरण्यानी स्थानं फलनमितनैकद्रुममिदम्।

नञ् शब्द का एक के साथ नञ् समास करने पर "नलोपो नञः" सूत्र से नकार का लोप करने पर "तस्मान्नुडचि" सूत्र से नुट् होने से 'अनेक' होना चाहिए। परन्तु प्रकृत में निरनुबन्धक 'न' का "सुप्सुपा" से समास हुआ है। अतः नकार का लोप न होने से वृद्धि हुई है। अतः 'नैकधा' इत्यादि की तरह यहाँ 'नैक' प्रयोग भी शुद्ध ही है।

८. अल्पारम्भाः क्षेमकराः।

"क्षेमप्रियमद्रेऽण् च" इस सूत्र से क्षेम, प्रिय तथा मद्र उपपद रहने पर 'कृञ्' धातु से अण् तथा 'खच्' प्रत्यय होने से क्षेमङ्करः तथा क्षेमकारः प्रयोग होते हैं। "क्षेमप्रियमद्रेऽण् च" इस सूत्र से विहित अण् "कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु" सूत्र से विहित 'ट' प्रत्यय का बाधक है, क्योंकि "क्षेमप्रियमद्रे वा" ऐसे ही सूत्र करने पर खच् प्रत्यय के अभाव में "कर्मण्यण्" से अण् प्रत्यय होकर "क्षेमङ्करः, क्षेमकारः" प्रयोग बन ही जाते, 'अण्' प्रत्यय-विधान की यहाँ आवश्यकता नहीं थी। ऐसी स्थिति में 'ट' प्रत्यय नहीं होने से 'क्षेमकराः' यह असंगत है, ऐसा नहीं मानना चाहिए; क्योंकि यहाँ कर्म के स्थान में शेषत्व की विवक्षा से षष्ठी है तथा करोतीति करः पचाद्यच् प्रत्यय है। अतः क्षेमस्य करः क्षेमकरः ऐसा ही विग्रह यहाँ करना चाहिए। 'क्षेमङ्करी' यह प्रयोग "षिद्गौरादिभ्यश्च" इस सूत्र से गौरादि मानकर ङीष् करने से निष्पन्न होता है।

९. अतिसर्वाय तस्मै नमः।

अतिसर्व शब्द से ङे विभक्ति में सर्वनामसंज्ञा करके "सर्वनाम्नः स्मै" इस सूत्र से स्मै आदेश कर 'अतिसर्वस्मै' ऐसा प्रयोग नहीं हो सकता; क्योंकि सर्वनाम इस महासंज्ञा के द्वारा यह ज्ञापित होता है कि संज्ञा और उपसर्जनीभूत सर्वादि की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती है। संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः। प्रकृत में अतिसर्व घटक सर्व शब्द उपसर्जनीभूत है, अतः सर्वनामसंज्ञक न होने से वहाँ स्मै आदेश नहीं होगा।

१० आक्रमते धूमो हर्म्यतलात्।

आङ् पूर्वक 'क्रम्' धातु से "आङ उद्गमने" इस सूत्र से आत्मनेपद "ज्योतिरुद्गमन इस वाच्यम्" इति वार्तिक के अनुसार ज्योति के उद्गमन अर्थ में ही होता है। जैसे सूर्यः आक्रमते = उदयते। परन्तु "धूमः आक्रमते' यहाँ ज्योति का उद्गमन रूप अर्थ न होने के कारण

आत्मनेपद का प्रयोग असंगत है। अतएव दीक्षित ने लिखा है : 'नेह-आक्रामति धूमो हर्म्यतलात्'। इसीलिए 'नभः समाक्रामति कृष्ण-वर्त्मना स्थितैकचक्रेण रथेन भास्करः' यहाँ पर सम् आङ् पूर्वक क्रम् धातु से उद्गमन अर्थ न होने के कारण आत्मनेपद नहीं होता है।

११. आजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः। (भारविः)

१२. आहध्वं मा रघूत्तमम्। (भट्टिः)

'आङो यमहनः'' इस सूत्र से अकर्मक अथवा स्वाङ्गकर्मक ही आङ् पूर्वक 'हन्' धातु से आत्मनेपद होता है। अतः जैसे 'परस्य शिर आहन्ति' यहाँ आत्मनेपद नहीं होता है, वैसे ही उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में अकर्मक तथा स्वाङ्गकर्मक न होने के कारण आत्मनेपद नहीं होना चाहिए। अतः कुछ लोगों ने इन्हें प्रामादिक प्रयोग ही माना है। वस्तुतः 'प्राप्य' इस पद का अध्याहार करके 'विषमविलोचनस्य वक्षः प्राप्य आजघ्ने' तथा 'रघूत्तमम् प्राप्य आहध्वम्' ऐसा मान लेने पर हन् धातु अकर्मक हो जाता है; क्योंकि—

> ''धातोरर्थान्तरे वृत्ते धात्वर्थेनोपसंग्रहात्।
> प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया॥''

इस नियम के अनुसार कर्म की अविवक्षा कर देने से धातु अकर्मक हो जाता है। प्राप्यपद का अध्याहार करने पर 'प्रासादात् प्रेक्षते' इत्यादि की तरह 'वक्षः' पद से ल्यब्लोपे पञ्चमी की आशङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि ल्यब्लोपे पञ्चमी वहीं होती है जहाँ ल्यबन्त पद के अर्थ का अध्याहार होता है; प्रकृत में ल्यबन्तपद का ही अध्याहार किया गया है, अतः पञ्चमी की प्राप्ति नहीं है। अथवा 'भेत्तुम्' इस तुमुन्नन्तपद का अध्याहार करके पूर्ववत् आत्मनेपद की सिद्धि मानी जाय। 'भेत्तुम्' का अध्याहार करने पर ल्यब्लोपे पञ्चमी का प्रसंग नहीं रहता। अथवा 'विषमविलोचनस्य समीपमेत्य स्वीयमेव वक्षो मल्ल इव वीरावेशात् आस्फालयाञ्चक्रे' ऐसा अर्थ मानने से हन् धातु स्वाङ्गकर्मक हो जाता है जिससे आत्मनेपद निर्बाध सिद्ध होता है।

१३. इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि वृत्तयः।

'दुःखेन आप्यते' इस विग्रह में दुर् पूर्वक आप् धातु से "ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्" इस सूत्र से कर्म में खल् प्रत्यय करने से निष्पन्न दुराप शब्द के योग में "कर्तृकर्मणोः कृति" सूत्र से प्राप्त षष्ठी का "न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इस सूत्र से निषेध हो जाने पर 'इक्ष्वाकूणाम्' में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग अशुद्ध है ऐसा नहीं मानना चाहिए; क्योंकि सम्बन्ध-विवक्षा में "शेषे षष्ठी" सूत्र से षष्ठी निर्बाध है। "न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इस सूत्र से कारक षष्ठी का ही निषेध होता है न कि शेषे षष्ठी का।

१४. इत्थं नृपः पूर्वमवालुलोचे ततोऽनुजज्ञे गमनं सुतस्य।

"अनुपसर्गाज्ज्ञः" इस सूत्र से आत्मनेपद अनुपसर्गक 'ज्ञा' धातु से होता है तथा "अकर्मकाच्च" इस सूत्र से अकर्मक ही 'ज्ञा' धातु से आत्मनेपद का विधान किया गया है। प्रकृत में 'सुतस्य गमनमनुजज्ञे' यहाँ ज्ञा धातु सोपसर्गक एवं सकर्मक है, अतः उपर्युक्त सूत्रों से आत्मनेपद न होने के कारण 'अनुजज्ञे' यह प्रयोग असंगत है ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि कर्म में लिट् हुआ है और "भावकर्मणोः" सूत्र से आत्मनेपद का विधान किया गया है। 'अवालुलोचे' के साथ अन्वित प्रथमान्त नृप पद का 'अनुजज्ञे' के साथ 'नृपेण' ऐसा विपरिणाम किया जाता है।

१५. इत्युक्त्वा मैथिली भर्तुरङ्के निविशती भयात्।

'नि' पूर्वक 'विश्' धातु से "नेर्विशः" इस सूत्र से आत्मनेपद होने के कारण शतृप्रत्ययान्त निविशती यह प्रयोग अशुद्ध है। यहाँ 'अङ्गानि विशती भयात्' ऐसा ही पाठ मानना चाहिए। पद-संस्कार पक्ष में अङ्के-नि-विशती ऐसे पाठ में दोष नहीं है यह कहना असंगत है; क्योंकि ऐसा मानने पर 'त्वं करोति, भवान्-करोषि' इत्यादि प्रयोग भी साधु हो जायँगे।

'नवाम्बुदश्यामतनुर्न्यविक्षत' यहाँ नि और विश् के बीच में अट् का व्यवधान होने से आत्मनेपद नहीं होगा ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि 'लावस्थायामडागमः' इस भाष्य-सिद्धान्त के अनुसार आत्मनेपद हो जाने के बाद अडागम होता है। दूसरी बात यह है कि उपसर्ग के बाद अट् का व्यवधान होने पर भी कार्य होता ही है यह वार्तिककार का सिद्धान्त है।

'मधूनि विशन्ति भ्रमराः' यहाँ 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्' तथा 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्' इन परिभाषाओं के अनुसार मधूनिघटक निरर्थक तथा अनुपसर्ग 'नि' से परे विश् से आत्मनेपद नहीं होता है।

१६. उपर्युपरि बुद्धीनां चरन्तीश्वरबुद्धयः। जातकमाला।

आम्रेडितान्त अर्थात् कृतद्विर्वचन उपर्यादि (उपरि, अधि, अधः) शब्दों के योग में "उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु। द्वितीयाऽऽ-म्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते" इस वार्तिक से द्वितीया होने के कारण 'बुद्धीनाम् उपर्युपरि' यहाँ षष्ठी का प्रयोग असंगत है ऐसा नहीं समझना चाहिए; क्योंकि उपरि-बुद्धीनाम् (उदात्तबुद्धीनाम्) ऐसा अर्थ करने से आम्रेडितान्त उपरि के अभाव में द्वितीया की प्राप्ति नहीं है। अथवा "उपर्यध्यधसः सामीप्ये" इस सूत्र से जहाँ द्वित्व होता है उसी प्रतिपदोक्त उपर्युपरि आदि के योग में द्वितीया होती है। प्रकृत में "नित्यवीप्सयोः" सूत्र से द्वित्व होने के कारण द्वितीया नहीं हुई।

१७. एकादशीमुपवसन्ति निरम्बुभक्षाः। हरिदिनमुपोषितः।

उपपूर्वक 'वस्' धातु के आधार की "उपान्वध्याङ्वसः" इस सूत्र से कर्मसंज्ञा "अभुक्त्यर्थस्य न" इस वार्तिक के अनुसार उपवास, अर्थात् भोजन-निवृत्ति रूप अर्थ में नहीं होती है। ऐसी स्थिति में 'एकादशीम्' तथा 'हरिदिनम्' यहाँ उक्त सूत्र से कर्मसंज्ञा नहीं होने के कारण कर्मान्त प्रयोग अशुद्ध है ऐसा नहीं मानना चाहिए; क्योंकि 'एकादश्यां तिथौ निरम्बुभक्षाः उपवसन्ति अर्थात् तिष्ठन्ति' ऐसा अर्थ होने के

कारण वस् धातु का प्रकृत में स्थितिमात्र अर्थ है। भोजन-निवृत्ति आर्थिक है। अतः 'वने उपवसति' इत्यादि प्रयोगों से भेद होने के कारण कर्मसंज्ञा हो जाती है। कुछ लोग "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" सूत्र से द्वितीया मानते हैं।

१८. क्व कर्मप्रध्वंसः फलति पुरुषाराधनमृते।

"अन्यारादितरर्ते दिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते" इस सूत्र से 'ऋते' के योग में पञ्चमी होने के कारण उपर्युक्त प्रयोग आर्ष माना जाता है। कुछ लोग "उभसर्वतसोः" इत्यादि वार्तिक में "ततोऽन्यत्रापि दृश्यते" इससे ऋते के योग में द्वितीया मानते हैं। चान्द्र व्याकरण में "ऋते द्वितीयां च" ऐसा सूत्र भी है। अतएव "ऋतेऽपि त्वाम्" इत्यादि गीतोक्त प्रयोग भी निष्पन्न होता है।

१९. गङ्गा रोधःप्रतनुसलिला गच्छतीव प्रसादम्।

'गम्' धातु से शतृ प्रत्यय, शप्, "इषुगमियमां छः" इस सूत्र से छत्व, "उगितश्च" से ङीप् करने पर "शप्श्यनोर्नित्यम्" नित्य नुम् होने से 'गच्छन्ती' होना चाहिए न कि गच्छती। अतएव वामन ने भी लिखा है :—"गच्छती प्रभृतिष्वनिषेध्यो नुम्"। इसलिए 'हरति हि वनराजिर्गच्छती श्यामभावम्' इत्यादि प्रयोग भी असंगत हैं।

२०. गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी।

'गिरौ शेते' इस विग्रह में "गिरौ डश्छन्दसि" इस वार्तिक से वेद में ही 'ड' प्रत्यय होता है। अतः लोक में 'गिरिशयः' ऐसा ही प्रयोग किया जाता है। ऐसी स्थिति में 'गिरिशमुपचचार' यहाँ गिरिश शब्द में 'गिरिरस्य अस्ति' इस विग्रह में "लोमादिपामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलचः" इस सूत्र से लोमादि मानकर 'श' प्रत्यय मानना चाहिए।

२१. घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः।

'त्रयाणां भुवनानां समाहारः त्रिभुवनम्' यहाँ "तद्धितार्थोत्तरपद-समाहारे च" इस सूत्र से समाहार में द्विगु समास होता है। "पात्राद्यन्तस्य न" इस वार्तिक से निषेध होने के कारण "अकारान्तोत्तरपदो

द्विगुः स्त्रियामिष्टः'' इस वार्तिक से स्त्रीत्व नहीं होता है। 'त्रिभुवनस्य विधाता त्रिभुवनविधाता' ऐसा समास करने से 'त्रिभुवनविधाता' शब्द बनता है। यहाँ कर्त्रर्थ तृजन्त विधातृ-शब्द के योग में ''कर्तृकर्मणोः कृति'' इस सूत्र से अनुक्त कर्म में त्रिभुवन शब्द से षष्ठी मानकर ''कृद्योगा च षष्ठी समस्यते इति वाच्यम्'' इस वार्तिक से समास नहीं माना जा सकता; क्योंकि ''तृजकाभ्यां कर्तरि'' इस सूत्र से कारक-षष्ठी के साथ समास का निषेध हो जाता है अतः कैयट के अनुसार ''शेषे षष्ठी'' सूत्र से षष्ठी मानकर ''षष्ठी'' सूत्र से समास हुआ है। ''जनिकर्तुः प्रकृतिः'' ''तत्प्रयोजको हेतुश्च'' इत्यादि सूत्रों के निर्देश से ज्ञापित होता है कि ''तृजकाभ्यां कर्तरि'' सूत्र कारकषष्ठी के साथ समास का ही निषेधक है न कि 'शेषे षष्ठी' के साथ समास का। न्यासकार के अनुसार 'त्रिभुवनविधातुः' यहाँ विधातृ शब्द 'तृन्' प्रत्ययान्त है। ''त्रकाभ्यां कर्तरि'' लाघवात् ऐसा सूत्र न कर जो ''तृजकाभ्याम्'' ऐसा सूत्र किया गया है उससे ज्ञापित होता है कि ''न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्'' यहाँ तृन् प्रत्यय के योग में षष्ठी-निषेध अनित्य है। अतः कारक-षष्ठी के साथ भी समास निर्बाध है। न्यासकार के कथन का रहस्य यह है कि तृन् प्रत्ययान्त शब्दों के साथ कारकषष्ठी के समास का निषेध न हो इसीलिए 'तृजकाभ्याम्' यहाँ 'तृच्' का निर्देश किया गया, यदि तृन् प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी का नित्य निषेध ही हो जाय तो कारकषष्ठी के साथ समास ही प्राप्त नहीं है। ऐसी स्थिति में वहाँ समास-निषेध का प्रश्न ही नहीं उठता है, तब 'त्रकाभ्यां कर्तरि' ऐसे सूत्र करने में भी कोई आपत्ति नहीं है। तृन्नन्त के योग में षष्ठी-निषेध अनित्य होने पर तो कारक-षष्ठी के साथ समास प्राप्त होता है, अतः उसका निषेध न हो इसलिए 'तृजकाभ्याम्' आवश्यक होता है।

२२. जगत्प्रभोरप्रभविष्णु वैष्णवम्। (माघ)

''भुवश्च'' इस सूत्र से तच्छीलादि में इष्णुच् प्रत्यय वेद में ही होता है, अतः माघ का उपर्युक्त 'अप्रभविष्णु' यह प्रयोग असंगत है।

इसीलिए दीक्षित ने इस प्रयोग के सम्बन्ध में कहा है : 'निरङ्कुशाः कवयः'। इसलिए यह असंगत प्रयोग भी कर दिया है। नागेशभट्ट के अनुसार "आढ्यसुभग" इत्यादि सूत्रस्थ भाष्य के स्वारस्य से "भुवश्च" यह सूत्र लोक-वेद साधारण है। 'अलङ्कृञ्' इत्यादि सूत्र से "भुवश्च" यह पृथग्योग इसलिए किया गया है कि "ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः" इस उत्तरसूत्र में 'भू' का भी सम्बन्ध हो। अतः लोक में भी 'भविष्णु' यह प्रयोग असंगत नहीं है।

२३. तत्र तत्र विजहार सञ्चरन्नप्रमेयगतिना ककुद्मता। कुमार ८, २१।

तृतीयान्त समभिव्याहृत सम् पूर्वक 'चर्' धातु से "समस्तृतीया युक्तात्" इस सूत्र से आत्मनेपद होने के कारण 'सञ्चरन्' यह शतृ प्रत्ययान्त शब्द असंगत है। अतः मल्लिनाथ ने यहाँ 'सम्पतन्' ऐसा पाठ माना है। कुछ लोगों के अनुसार अनन्त मार्गपद का अध्याहार होने से 'सञ्चर' के सकर्मक हो जाने के कारण आत्मनेपद नहीं होता है। परन्तु यह कहना असंगत है; क्योंकि 'तृतीया युक्तात् किम् ?' 'उभौ लोकौ सञ्चरसीमञ्च अमुञ्च लोकम्' इस भाष्यप्रयोग से सकर्मक 'सञ्चर' से भी आत्मनेपद होता है।

२४. तत्रागारं धनपतिगृहादुत्तरेणास्मदीयम्। (उत्तरमेघ)

"एनपा द्वितीया" इस सूत्र से एनप् प्रत्ययान्त के योग में द्वितीया विभक्ति तथा 'एनपा' इस योग-विभाग से षष्ठी विभक्ति होने के कारण 'गृहात् उत्तरेण' यहाँ पञ्चमी का प्रयोग असंगत है। इसीलिए कुछ लोगों ने 'गृहानुत्तरेण' ऐसा पाठ माना है। वस्तुतः 'उत्तरेण' यह उत्तरशब्द के तृतीया में है जो 'सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन' का विशेषण है। अतः दिग्वाचक उत्तरशब्द के योग में "अन्यारादितरर्ते दिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते" इस सूत्र से पञ्चमी हो गयी है।

२५. तपोवनेषु स्पृहयालुरेषा।

"स्पृहेरीप्सितः" इस सूत्र से स्पृह् धातु के प्रयोग में ईप्सित की

सम्प्रदान संज्ञा होती है। अतः 'पुष्पेभ्यः स्पृहयति' की तरह 'तपोवनेभ्यः स्पृहयालुः' ऐसा ही प्रयोग होना चाहिए न कि 'तपोवनेषु' ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि स्पृहयालु का ईप्सित यहाँ तपोवन नहीं है अपितु तपोवन में गमन, वास आदि जो आक्षिप्त है। अतः पुष्पेभ्यो वने स्पृहयति की तरह यहाँ भी तपोवनेषु में सप्तमी ही है।

२६. तुलां यदारोहति दन्तवाससा। कालिदास। स्फुटोपमं भूतिसितेन शम्भुना। (माघ)

"तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्" इस सूत्र से तुला तथा उपमा शब्दों से भिन्न तुल्यार्थक शब्दों के योग में विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है। प्रकृत में तुला और उपमा शब्द के साथ ही योग होने से तृतीया न होने के कारण उपर्युक्त तृतीयान्त प्रयोग अशुद्ध हैं, ऐसी आशङ्का नहीं होनी चाहिए। यहाँ "सहयुक्तेऽप्रधाने" इससे सह शब्द के अप्रयोग में भी सहार्थ में तृतीया हुई है। सहादि शब्दों के अभाव में भी सहार्थ रहने पर "पितामात्रा" इत्यादि सूत्र-निर्देश से तृतीया विभक्ति होती है।

२७. तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात्। (रघुवंश ९, ६१)

२८. संयोजयां विधिवदास समेतबन्धुः। (रघुवंश १६, ८६)

२९. प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार। (रघु० १३, ३६)

३०. उक्षां प्रचक्रुर्नगरस्य मार्गान्। (भट्टि ३, ५)

३१. सा जुगुप्सां प्रचक्रेऽसून्। (भट्टि १४, ५९)

पत् धातु से णिच्, उपधावृद्धि, धातुसंज्ञा, 'पाति' से 'लिट्', "कासप्रत्ययादाममन्त्रे लिटि" से आम्, गुण, अयादेश आदि करने पर 'पातयाम्' आदि निष्पन्न होता है। उसके बाद "कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि" इस सूत्र से आमन्त से अव्यवहित उत्तर कृ, भू, अस् का अनुप्रयोग होता है। अर्थात् 'अनुप्रयुज्यते' यहाँ 'अनु' शब्द से पश्चात् तथा 'प्र' से अव्यवहित ही लिट्परक कृ, भू, अस् का अनुप्रयोग किया जाता है।

ऐसी स्थिति में 'पातयाम्' 'प्रभ्रंशयाम्' आदि आमन्त के उत्तर 'प्रथमम्' 'यो नहुषम्' आदि शब्दों के व्यवधान होने से अस्, कृ आदि का अनुप्रयोग नहीं होने के कारण उपर्युक्त प्रयोग असङ्गत ही हैं। "कृञ्चानुप्रयुज्यते" सूत्र के 'शेखर' में नागेशभट्ट ने लिखा है :-"आमन्तादिति पञ्चम्या निर्दिश्य मानपरिभाषया प्रशब्देन च अव्यवहिते एव प्रयोगः। अनुशब्दात् पश्चादेवेति च बोध्यम्।" अतः भट्टि, कालिदास आदि ने छन्द की पूर्ति के लिए ही वैसे प्रयोग किए हैं।

३२. त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः। (कुमारसम्भव ५, ७७)

"दिक्संख्ये संज्ञायाम्" इस सूत्र से संज्ञा में ही दिग्वाचक तथा संख्यावाचक शब्दों का समानाधिकरण तत्पुरुषसमास होने के कारण 'त्रयो लोकाः त्रिलोकाः' ऐसा समास नहीं हो सकता, क्योंकि त्रिलोक शब्द संज्ञावाचक नहीं है। 'त्रयाणां लोकानां समाहारः' इस विग्रह में "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" सूत्र से समाहार में समास करने पर "अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः" इस वार्तिक से स्त्रीत्व होने पर "द्विगोः" से ङीप् होकर त्रिलोकी शब्द हो जायगा। लोक शब्द को 'पात्रादि' मानकर "पात्राद्यन्तस्य न" से स्त्रीत्व का निषेध नहीं किया जा सकता; क्योंकि 'यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात्' इत्यादि प्रयोग ही असंगत हो जायँगे। 'त्रयाणां लोकानां नाथः' ऐसा 'उत्तरपद' के परे भी समास नहीं हो सकता; क्योंकि यहाँ त्रिपद तत्पुरुष का समास असंभव है। अतः यहाँ 'त्र्यवयवो लोकः त्रिलोकः' इस विग्रह में "शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्" इस वार्तिक से मध्यमपदलोपी समास करने पर त्रिलोक शब्द बनता है। तब 'त्रिलोकस्य नाथः त्रिलोकनाथः' ऐसा शब्द षष्ठीतत्पुरुष समास करने से होता है। ऐसे ही 'षोडशपदार्थानाम्' यहाँ षोडशसंख्याकाः पदार्थाः षोडशपदार्थाः समझना चाहिए।

३३. त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा। दुर्गासप्तशती।

'अद्' धातु परस्मैपदी होने के कारण यहाँ 'अत्स्यन्ते' यह एक पद नहीं है, अपितु अत्सि + अन्ते ऐसा पदभङ्ग होता है।

३४. दिशः सपत्नी भव दक्षिणस्याः।

पूर्वादि शब्दों से व्यवस्था तथा असंज्ञा ही में सर्वनामसंज्ञा होने के कारण पूर्वोक्त उदाहरण में दक्षिणा शब्द संज्ञा है अतः सर्वनामसंज्ञा नहीं हो सकती यह शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि आधुनिक सङ्केत ही संज्ञा है, दिशाओं में वह संज्ञा नहीं पायी जाती है।

३५. दूरयत्यवनते विवस्वति। (कुमारसम्भव ८, ३१)

दूर शब्द से "प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च" इससे णिच् तथा इष्ठवद्भाव करने पर "स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः" इससे यण् का लोप करने पर गुण, अवादेश आदि के द्वारा 'दवयति' प्रयोग होना चाहिए। इसीलिए यहाँ 'धूनयति' पाठान्तर माना गया है। वस्तुतः, 'दूरम् अतति अयते वा' इस विग्रह में अत् अथवा अय् धातु से "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" से क्विप् "लोपो व्योर्वलि" से यलोप, "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" से तुक् तथा सवर्णदीर्घ होकर 'दूरात्' बनता है। तब 'दूरातं कुर्वति' इस विग्रह में णिच् तथा टिलोप करके ण्यन्त 'दूरि' से शतृप्रत्यय, शप्, गुण, अयादेश, सप्तमी के एकवचन में 'दूरयति' निष्पन्न होता है।

३६. दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे।

३६. दृष्टभक्तिर्भवान्या।

'दृढा भक्तिर्यस्य' इस विग्रह में "अनेकमन्यपदार्थे" से बहुव्रीहि समास करने पर "स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु" इस सूत्र से भक्ति शब्द के परे दृढा को पुंवद्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि भक्ति शब्द प्रियादिगण में पठित है। अतः यहाँ 'दृढम्' यह सामान्य में नपुंसक शब्द मानकर प्रयुक्त हुआ है। बाद में भक्ति के साथ अन्वय होने पर भी पूर्व प्रवृत्त नपुंसकत्व नहीं जाता है। इस तरह पदसंस्कार पक्ष में पूर्व पूर्वपद का संस्कार कर दोष नहीं होता है। वाक्यसंस्कार पक्ष में 'दृढा भक्तिः' ऐसा ही होता है। आचार्यवामन ने 'भक्तिश्च भावसाधनायाम्" मानकर दृढ-

भक्तिः में भक्ति शब्द को भजनं भक्तिः ऐसा माना है और 'भज्यते इति भक्तिः' इस प्रकार कर्म में क्तिन्प्रत्यय करने से निष्पन्न भक्ति शब्द का पाठ प्रियादि में स्वीकार किया है। प्रकृत में भाव में क्तिन् है, अतः पूर्वोक्त प्रयोग सिद्ध होते हैं।

३८. देवदत्तो यज्ञदत्तस्य पृष्ठमुत्तपते।

"उद्विभ्यां तपः" यहाँ "अकर्मकाच्च" का सम्बन्ध होने से उत् तथा वि उपसर्ग के परे अकर्मक तप् धातु से आत्मनेपद होता है और "स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्" इस वार्तिक के अनुसार स्वाङ्गकर्मक ही तप् से आत्मनेपद का विधान किया गया है। अतः यज्ञदत्तस्य पृष्ठमुत्तपते यहाँ पराङ्गकर्मक तप् से आत्मनेपद असंगत है। यहाँ उत्तपति ऐसा ही प्रयोग होगा।

३९. धिङ् मूर्ख।

धिक् शब्द के योग में "उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु। द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते।" इस वार्तिक द्वितीया विभक्ति होने से प्रकृति में मूर्खः यह प्रयोग अशुद्ध है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि सम्बोधन पद का क्रिया के साथ सम्बन्ध होता है, अतः धिक् शब्द के साथ सम्बन्ध नहीं है। इसलिए यहाँ "सम्बोधने च" प्रथमा ही हुई है। क्रियापद का आक्षेप होता है।

४०. नभः समाक्रामति कृष्णवर्त्मना स्थितैकचक्रेण रथेन भास्कर। देखिए—आक्रमते धूमो हर्म्यतलात्।

४१. नमस्कुर्मो नृसिंहाय।

"क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इस सूत्र से क्रियार्था क्रिया के वाचक पद के उपपद रहने पर अप्रयुज्यमान तुमुन् के कर्म से चतुर्थी विभक्ति होती है। प्रकृत में अनुकूल व्यापार के लिए नमस्करण व्यापार है, जिसके वाचक 'नमस्कुर्मः' के उपपद रहने पर अप्रयुज्यमान तुमुन्नन्त 'अनुकूलयितुम्' के कर्म नृसिंह से चतुर्थी

विभक्ति हुई है। ऐसे ही 'स्वयंभुवे नमस्कृत्य' में 'स्वयंभुवम् अनुकूलयितुम्' इस अर्थ में इसी सूत्र से चतुर्थी होती है।

४२. मुनित्रयं नमस्कृत्य। (सिद्धान्तकौमुदी)

यहाँ नमस्करण व्यापार के द्वारा कर्ता के ईप्सित 'मुनित्रय' से कर्मसंज्ञा हुई है तथा "कर्मणि द्वितीया" से द्वितीया विभक्ति। प्रकृत में "नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च" इस सूत्र से नमः शब्द के योग में प्राप्त चतुर्थी को "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" सूत्र से प्राप्त कर्मसंज्ञा बाध लेती है; क्योंकि "उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी" ऐसा नियम है। यदि यहाँ भी 'मुनित्रयमनुकूलयितुम्' ऐसा अर्थ किया जाय तो 'स्वयंभुवे नमस्कृत्य' की तरह चतुर्थी होगी ही।

४३. न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः। किरात प्रथम सर्ग।

"सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" इस सूत्र में उपसर्ग भिन्न सुप् का ही ग्रहण हो इसलिए 'सुपि' का वहाँ पुनः ग्रहण किया गया है, अन्यथा "सत्-सू-द्विष-द्रुह-दुह-युज-विद-भिद-च्छिद-जि-नी-राजामुपसर्गेऽपि क्विप्" इस सूत्र से सुपि के अनुवर्तन से ही कार्य सिद्ध होता। (रहस्य यह है कि 'सत्-सू-द्विष' इस सूत्र में 'अनुपसर्गे' की निवृत्ति से ही इष्ट सिद्ध होता। 'उपसर्गेऽपि' यह वचन ज्ञापित करता है कि 'अन्यत्र सुब्ग्रहणे उपसर्गग्रहणं न' इसीलिए "वदः सुपि क्यप् च" यह सूत्र उपसर्ग रूप सुप् के उपपद रहने पर प्रवृत्त नहीं होता है, अतः "सुप्यजातौ" यहाँ भी उपसर्ग भिन्न ही सुप् के उपपद रहने पर णिनि प्रत्यय होगा।) अतः 'उदासारणी, प्रत्यासारणी' इत्यादि में णिनि प्रत्यय के लिए वार्तिककार ने "उत्प्रतिभ्यामाङि सर्तेरुपसंख्यानम्" इस वार्तिक को बनाया। ऐसी स्थिति में अनुपूर्वक जीव धातु से "सुप्यजातौ" इत्यादि सूत्र से णिनि प्रत्यय न होने के कारण अनुजीविभिः यह प्रयोग असंगत है, ऐसी शंका न करनी चाहिए; क्योंकि महाभाष्यकार ने कहा है : 'सुबिति वर्तमाने पुनः सुब्ग्रहणं किमर्थम् अनुपसर्ग इत्येव तद्भूत् इदं तु सुब्मात्र यथास्यात् उदासारिण्यः

प्रत्यासारिण्यः' इति। अर्थात् "सुपि स्थः" से सुप् का अनुवर्तन होता ही। "सुप्यजातौ" में सुपि से ज्ञात होता है कि "सुपिस्थ" अनुपसर्ग में ही लगता है और "सुप्यजातौ" उपसर्ग, अनुपसर्ग, सुब् मात्र में।

४४. नाथसे किमु पतिं न भूभृताम्।

"आशिषि नाथः" इस वार्तिक से आशीर्वाद अर्थ में ही नाथ धातु से आत्मनेपद होता है, अन्यथा अनुदात्त मानकर ही आत्मनेपद सिद्ध था। अतः भूभृतां पतिं किमु न नाथसे = याचसे इस अर्थ में आत्मनेपद असंगत है। अतएव 'नाधसे' ऐसा ही पाठ यहाँ माना गया है। "आशिषि नाथः" यह नियम तवर्ग द्वितीयान्त 'नाथ्' धातु के ही सम्बन्ध में है।

४५. नाहं कलिङ्गान् जगाम।

"परोक्षे लिट्" इस सूत्र से भूतानद्यतन परोक्षार्थवृत्ति धातु से लिट् लकार होता है। प्रकृत में परोक्षार्थवृत्ति न होने के कारण लिट् का प्रयोग अशुद्ध है ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए; "अत्यन्तापह्नवे लिड्वक्तव्यः" इस वार्तिक से अत्यन्त अपह्नव अर्थ मे लिट् हुआ है। यहाँ देवदत्त ने यज्ञदत्त से पूछा—'त्वम् कलिङ्गेष्ववात्सीः' यज्ञदत्त ने उत्तर दिया—'नाहं कलिङ्गाम् जगाम'। तात्पर्य यह है कि—

"अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च।
तीर्थयात्रां विना गत्वा पुनः संस्कारमर्हति ॥"

इस स्मृति के अनुसार वहाँ जाना निषिद्ध है। अतः उत्तर देते हुए यज्ञदत्त ने वहाँ अवस्थान का ही निषेध नहीं किया, अपितु उसके हेतुभूत गमन का भी। इसीलिए यहाँ अत्यन्त अपह्नव है।

४६. पथे गच्छति।

"गत्यर्थकर्मणि द्वितीया चतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि" इस सूत्र से अध्व-भिन्न ही गत्यर्थक धातु के कर्म से द्वितीया तथा चतुर्थी होती हैं। अतः 'पथे गच्छति' यहाँ पर गम् के अध्वरूप कर्म से चतुर्थी नहीं

होनी चाहिए। परन्तु गन्ता से अधिष्ठित मार्ग में ही 'अनध्वनि' यह निषेध लगता है। प्रकृत में उत्पथ से पथ पर आना चाहता है इसलिए चतुर्थी होती है।

४७. पतितं वेत्स्यसि क्षितौ। वेणीसंहार-नाटक।

ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से ऌट् में इडागम होने के कारण 'वेत्स्यसि' प्रयोग नहीं होना चाहिए। अतः वेत्सि+असि ऐसा पदभङ्ग किया जाता है। 'असि' यह 'त्वम्' के अर्थ में अव्ययपद है।

४८. पचेतेऽनुदिनम् अन्नं पाचकौ राजसेविनौ।

"ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्" इस सूत्र से एदन्त द्विवचन पचेते की प्रगृह्यसंज्ञा होने पर "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्" से प्रकृतिभाव हो जाने से 'पचेते अनुदिनम्' में पूर्वरूपसन्धि असंगत है।

४९. पतिना नीयमाना सा पुरः शुक्रो न दुष्यति। सखिना वानरेन्द्रेण।

"शेषोध्यसखि" सूत्र से सखि शब्द-भिन्न इदन्त तथा उदन्त प्रातिपदिक की 'घि' संज्ञा होती है। पति शब्द में "पतिः समास एव" इस नियम के अनुसार समास में ही पति शब्द की 'घि' संज्ञा विहित है अतः उपर्युक्त उदाहरणों में पतिना तथा सखिना प्रयोग असंगत है; क्योंकि घित्व के अभाव में "आङो नाऽस्त्रियाम्" से नात्व भी नहीं होगा। इसलिए कुछ लोगों ने "छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति" इस कथन के अनुसार स्मृति, इतिहास, पुराण आदि में वेद तुल्यत्व मानते हुए सखि शब्द में भी तथा असमस्त पति शब्द में भी घि संज्ञा को स्वीकार किया है। अथवा 'पतिरित्याख्यातः पतिः' इस विग्रह में "तत्करोति तदाचष्टे" से णिच्, टिलोप, "अच इः" से औणादिक इप्रत्यय, णिलोप आदि करने से निष्पन्न पति शब्द लाक्षणिक होने के कारण "पतिः समास एव" यहाँ गृहीत नहीं होता है। अतएव सीतायाः पतये नमः इत्यादि प्रयोग भी सिद्ध होते हैं। ऐसे ही लाक्षणिक सखि शब्द में प्रतिपदोक्त सखि शब्द निमित्तक कार्य नहीं होने से 'कृष्णस्य सखिरर्जुनः' आदि प्रयोग भी निष्पन्न होते हैं।

५०. प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य यः.... । (शिशुपालवध १, ४९)

"नमः-स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च" यहाँ अलम् शब्द से पर्याप्त्यर्थक शब्दों का ग्रहण होता है। अतः जैसे दैत्येभ्यो हरिः प्रभुः समर्थः आदि प्रयोग होते हैं वैसे ही 'प्रभु' के योग में 'भुवनत्रयाय' प्रयोग होना चाहिए था, परन्तु "स एषां ग्रामणीः" इस सूत्र-निर्देश से प्रभ्वादि के योग में षष्ठी भी इष्ट है। प्रभ्वादि के योग में षष्ठी ही हो 'अलम्' पर्याप्ति से इतर अर्थ का वाचक माना जायगा ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती; क्योंकि "तस्मै प्रभवति" इस सूत्र-निर्देश से प्रभ्वादि के योग में चतुर्थी भी होती ही है।

५१. बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन।

'चतुरस्रा चासौ शोभा च चतुरस्रशोभा सा अस्ति अस्य' इस विग्रह में 'चतुरस्रशोभि' ऐसा प्रयोग नहीं हो सकता; क्योंकि व्रीह्यादिगण में शोभा शब्द का पाठ नहीं है। व्रीह्यादि को आकृतिगण मानने पर भी 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति' इस परिभाषा से तदन्तविधि का प्रतिषेध होने से 'चतुरस्रशोभा' शब्द से इनि प्रत्यय नहीं होगा। कथञ्चित् तदन्तविधि का स्वीकार करने पर भी 'न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकरः' इस परिभाषा से मत्वर्थीय इनि प्रत्यय का निषेध ही होगा; क्योंकि बहुव्रीहिसमास के द्वारा प्रयोग-सिद्धि में लाघव है। अतः 'चतुरस्रं शोभितुं शीलमस्य' इस विग्रह में "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" इस सूत्र से तच्छील अर्थ में णिनि प्रत्यय करने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है। अतएव वामनाचार्य ने भी कहा है : "चतुरस्रशोभीति णिनौ"।

५२. बिम्बाधरः पीयते।

अधरः बिम्बम् इव इस विग्रह में "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे" इस सूत्र से समास करने पर उपमित का पूर्व प्रयोग होने से 'अधरबिम्ब' ऐसा प्रयोग होना चाहिए, इसलिए 'बिम्बाधर' आदि प्रयोगों की सिद्धि के लिए बिम्बाकारः अधरः इस विग्रह में "शाक-

पार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्" इस वार्तिक से मध्यमपदलोपीसमास होता है। इसी प्रकार बिम्बोष्ठ आदि प्रयोग भी बनते हैं।

५३. बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलाम्।

५४. वृद्धो जनो दुःखशतानि भुङ्क्ते।

"भुजोऽनवने" इस सूत्र से अवन अर्थात् पालन से भिन्न अभ्यवहार अर्थ में आत्मनेपद का विधान होने से 'बुभुजे पृथिवीपालः' 'दुःखशतानि भुङ्क्ते' इत्यादि में आत्मनेपद नहीं हो सकता; क्योंकि प्रथम उदाहरण में पालन रूप अर्थ है तथा द्वितीय में पालन या अभ्यवहार रूप अर्थ असंभव है ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए; धातूनामनेकार्थत्वात् भुज् का उपभोग अर्थ स्वीकार करने से आत्मनेपद होता है। यहाँ रहस्य यह है कि "भुजोऽवने" ऐसा सूत्र न कर जो "भुजोऽनवने" ऐसा सूत्र किया उसमें 'अनवने' इस पर्युदास के दो प्रयोजन हैं: एक तो यह कि 'संयोगवद् विप्रयोगस्यापि विशेषावधारणहेतुत्वम्' इस सिद्धान्त से रौधादिक ही 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' इसका ग्रहण होता है। दूसरा यह कि अवन से भिन्न उपभोग आदि अर्थ में आत्मनेपद होता है। अतः उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध होते हैं।

५५. भवन्त्यनेके जलधेरिवोर्मयः।

'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा।
साधारणे समानेऽल्पे संख्यायाञ्च प्रयुज्यते ॥'

इसके अनुसार एक शब्द उपर्युक्त आठ अर्थों में प्रयुक्त होता है। इनमें संख्या अर्थ में एक शब्द नित्य एकवचनान्त है और अन्य अर्थों में बहुवचन का भी प्रयोग होता है। अतः 'एके सत्पुरुषाः' 'एकेषाम्' 'नैकेषाम्' आदि प्रयोगों की तरह पूर्वोक्त 'अनेके' प्रयोग संख्या से भिन्न अर्थ में ही होता है।

५६. भाष्याब्धिः क्वातिगम्भीरः।

"उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे" इस सूत्र से सामान्य

धर्म का प्रयोग रहने पर जैसे 'पुरुषो व्याघ्र इव शूरः' यहाँ उपमित समास नहीं होता है, वैसे ही 'भाष्यम् अब्धिरिव' इस विग्रह में 'भाष्याब्धिः' यहाँ उपर्युक्त सूत्र से 'अति गम्भीर' रूप सामान्यधर्म का प्रयोग रहने के कारण समास नहीं होगा। अतः कुछ लोग इस प्रयोग को प्रमाद मानते हैं। मनोरमाकार का कहना है कि यहाँ गाम्भीर्य के साथ सादृश्य विवक्षित नहीं है, अपितु विततदुरवगाहत्व आदि के द्वारा, जो प्रकृत में अनुक्त है, अतः उपमितसमास में कोई बाधा नहीं है।

नागेशभट्ट का कहना है कि विततदुरवगाहत्व रूप अनुपात्तधर्म के साथ साम्यविवक्षा मानकर समास बतलाना उचित नहीं, क्योंकि उपात्त अतिगंभीर का वैयर्थ्य हो जाता है, तथा उपात्तधर्म के रहने पर उसी के साथ साम्य-प्रतीति अनुभव सिद्ध है, इसीलिए 'सकलकलः पुरचन्द्रो राजते' यहाँ उपात्तधर्म से अतिरिक्त धर्म को साम्यप्रयोजक नहीं माना जाता है। अतः भाष्याब्धिः यहाँ पर सामान्यधर्म का प्रयोग रहने पर भी लिङ्ग-भेद रहने पर भी "मयूरव्यंसकादयश्च" इस सूत्र से 'भाष्यमेव अब्धिः' इस विग्रह में रूपकसमास होता है। मयूरव्यंसकादि समास 'राजान्तरम्' इत्यादि में पूर्वपदार्थ प्रधान भी देखा जाता है। विशेषणसमास प्रकृत में नहीं माना जा सकता, क्योंकि उपमान रूप बिशेषण का पूर्व-निपात हो जायगा। अतः रूपकसमास ही मानना उचित है।

भाष्य शब्द अतिगम्भीर शब्द के साथ सापेक्ष होने से असामर्थ्य होने के कारण ही यहाँ समास नहीं होगा ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि 'पुरुषो व्याघ्र इव शूरः' इत्यादि स्थल में पुरुष शब्द शूर शब्द के साथ सापेक्ष होने से असामर्थ्य के कारण ही समासाभाव इष्ट है "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे" इस सूत्र में 'सामान्याप्रयोगे' के वैयर्थ्य से ज्ञापित होता है कि 'प्रधानस्य सापेक्षत्वेऽपि न सामर्थ्यविघातकत्वम्' अर्थात् प्रधान के सापेक्ष रहने पर भी सामर्थ्य का विघात नहीं होता, अतएव 'राजपुरुषः सुन्दरः' इत्यादि में समास

होता ही है। प्रकृत में प्रधान भाष्य शब्द गम्भीर के साथ सापेक्ष रहने पर भी असमर्थ नहीं होता। ऐसे ही 'पुरुषो व्याघ्र इव शूरः' यहाँ प्रधान पुरुष शब्द शूर शब्द के साथ सापेक्ष रहने पर भी असमर्थ नहीं होता। अतः प्राप्तसमास के निषेध के लिए 'सामान्याप्रयोगे' प्रकृत में चरितार्थ होता है। अतः 'भाष्याब्धिः' में नागेश के अनुसार रूपकसमास मानना ही उचित है।

५७. मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम।

मणी + इव यहाँ "ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्" इस सूत्र से प्रगृह्य-संज्ञा तथा "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्" से प्रकृतिभाव करने पर 'मणी इव' ऐसा होना चाहिए। अतः यहाँ इव के अर्थ में 'व' या 'वा' शब्द मानना चाहिए। 'वं प्रचेतसि जानीयादिवार्थे च तदव्ययम्' इस मेदिनीकोश तथा 'ववा यथा तथैवं साम्ये' इस अमरकोश के अनुसार व, वा आदि शब्द इवार्थ में प्रयुक्त होता है। अतएव 'कादम्बखण्डितदलानि व पङ्कजानि' इत्यादि प्रयोग होते हैं।

५८. मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।

"न माङ्योगे" इस सूत्र से माङ् के योग में अट् या आट् का निषेध होने से 'अगमः' यहाँ अडागम नहीं होना चाहिए। अतः यहाँ 'माङ्' शब्द का प्रयोग नहीं है अपितु निषेधार्थक 'मा' शब्द का प्रयोग है, जिससे अडागम हुआ है।

५९. यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम्।

'अग्रम् अग्रे वा सरति' इस विग्रह में "पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः" इस सूत्र से टप्रत्यय के साथ एदन्तत्व निपातन होने के कारण 'अग्रसर' शब्द अशुद्ध है ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि बाहुलकात् एदन्तत्व निपातन यहाँ नहीं होता है यही हरदत्त का मत है। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि अलुक् से ही इष्टप्रयोग सिद्ध होता, एदन्तत्व निपातन में कोई प्रमाण नहीं है। चूँकि अलुक् भी बाहुलकात् होता है, अतः अग्रसर में लुक् हो गया।

६०. यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत् ।

'युध्' धातु आत्मनेपदी होने के कारण 'युध्येत्' यह प्रयोग 'युधमात्मनः इच्छेत्' इस विग्रह में क्यच् प्रत्ययान्त युध्य धातु से विधिलिङ् में होता है ।

६१. लावण्यमुत्पाद्य इवास यत्नः ।

'अस्' धातु से लिट्लकार में "अस्तेर्भूः" इस सूत्र से भू आदेश होने से प्रकृत में 'आस' यह प्रयोग 'अस् गतिदीप्त्यादानेषु' इस धातु से लिट् लकार में होता है ।

६२. विमानना सुभ्रु कुतः पितुर्गृहे । कालिदास ।

६३. हापितः क्वासि हे सुभ्रु । भट्टि ।

"भ्रमतेश्चडूः" इस उणादि सूत्र से डू प्रत्यय करने से भ्रू शब्द निष्पन्न होता है। शोभना भ्रूः यस्याः सा सुभ्रूः यहाँ स्त्रीप्रत्ययान्त 'सुभ्रू' शब्द में "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" से ह्रस्वत्व नहीं होता है । "नेयङुवङ्स्थानावस्त्री" इस सूत्र से नदीसंज्ञा का निषेध होने से "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः" से ह्रस्वत्व न होने के कारण 'सुभ्रु' यह प्रयोग असंगत है । अतएव कुछ लोगों ने इस प्रयोग को प्रामादिक ही कहा है ।

आचार्य वामन ने "ऊकारान्तादप्यूङ्प्रवृत्तेः" कहकर इसका प्रकारान्तर से समाधान किया है । अर्थात् "ऊङुतः" इस सूत्र में 'उतः' यहाँ तपर करण विवक्षित नहीं है; क्योंकि "अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनामुपसंख्यानम्" इस सूत्र से ऊकारान्त से भी ऊङ् प्रत्यय किया जाता है। अतः सुभ्रू शब्द में ऊङ् प्रत्यय करके नदीसंज्ञा तथा ह्रस्वत्व होने से सुभ्रु प्रयोग सिद्ध होता है ।

६४. विगणय्य नयन्ति पौरुषम् ।

"कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि" इस सूत्र से कर्तृस्थ कर्मकारक के रहने पर कर्तृगामी क्रिया-फल में णीञ् धातु से "स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले" इस सूत्र से प्राप्त जो आत्मनेपद है वह कर्मकारक के

शरीरावयव से भिन्न रहने पर ही होता है (कर्म के शरीरावयव होने पर कर्तृगामी फल में भी परस्मैपद ही होता है)। ऐसी स्थिति में जैसे 'क्रोधं विनयते' यहाँ आत्मनेपद होता है, वैसे ही 'विगणय्य नयन्ति पौरुषम्' यहाँ भी पौरुष रूप कर्म के शरीरावयव से भिन्न होने के कारण आत्मनेपद ही होना चाहिए। इस शङ्का का समाधान करते हुए दीक्षित ने "सिद्धान्तकौमुदी" में लिखा है कि प्रकृत में क्रिया-फल में कर्तृगामित्व की विवक्षा नहीं है, अतः आत्मनेपद नहीं होता है। इसका रहस्य यह हुआ कि "कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि" यह सूत्र नियम करता है कि 'कर्तृस्थ कर्म में णीञ् धातु से कर्तृगामी फल में ञित्वात् प्राप्त आत्मनेपद शरीरावयव से भिन्न में ही होता है' अतः फल यदि कर्तृगामी नहीं माना जायगा तो आत्मनेपद भी नहीं होगा।

परन्तु नागेशभट्ट ने बतलाया है कि कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि "कर्तृस्थे" सूत्र परगामी फल में भी आत्मनेपद विधान करने के लिए ही है न कि नियमार्थक है, अतः 'नयन्ति पौरुषम्' यहाँ आत्मनेपद होना ही चाहिए।

६५. विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्। कुमार० २।५५।

तिङ्, कृत्, तद्धित तथा समास से कर्म उक्त होने पर "कर्मणि द्वितीया" सूत्र से द्वितीया विभक्ति नहीं होती है। प्रकृत में इन सभी से अनुक्त संवर्ध्य के कर्म विषवृक्ष शब्द से द्वितीया होनी चाहिए न कि प्रथमा, अतः 'विषवृक्षः' यह असंगत है ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि 'अभिधानं च प्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैः' यह परिगणन प्रायिक है। निपात से भी कर्म का अभिधान होता है। अतः जैसे 'नारद इत्यबोधि सः' यहाँ नारद शब्द से 'तं मूर्ख इति मन्यते' यहाँ मूर्ख शब्द से द्वितीया नहीं होती, वैसे ही 'असाम्प्रतम्' निपात से कर्म उक्त होने के कारण 'विषवृक्षः' यहाँ भी द्वितीया नहीं हुई।

६६. विस्मापयन् विस्मितमात्मवृत्तौ। (कालिदासः)

"नित्यं स्मयतेः" इस सूत्र से प्रयोजक से ही स्मय रहने पर

'स्मि' धातुसम्बन्धी एच् के स्थान में णिच् के परे आत्व होता है। प्रकृत में 'राजा विस्मयते तं सिंहः मनुष्यवाचा विस्माययति' यहाँ करण से स्मय होने के कारण आत्व नहीं होगा। आत्व के अभाव में पुक् भी नहीं होगा। अतः 'विस्मापयन्' यह प्रयोग अनुपपन्न है। यदि 'मनुष्यवाक्' को ही प्रयोजक माना जाय तो "भीस्म्योर्हेतुभये" इस सूत्र से आत्मनेपद होने से 'शानच्' भी होना चाहिए। अतः कुछ लोगों ने 'विस्माययन्' ऐसा ही कालिदास का प्रयोग माना है। पकार वाला पाठ लेखक के प्रमाद से हो गया है। कुछ लोगों ने 'विस्मापयन्' इस रूप को भी शुद्ध मानते हुए बतलाया है कि 'राजा विस्मयते तं सिंहोच्चारिता मनुष्यवाक् प्रयोजयति इति विस्मापयते मनुष्यवाक् राजानम्' यहाँ मनुष्यवाक् प्रयोजक कर्त्री है और राजा प्रयोज्य कर्ता। इसमें प्रयोजककर्तृभूत-मनुष्यवाक्मूलक स्मय होने के कारण आत्व, पुक् तथा आत्मनेपद होते हैं। 'तां विस्मापयमानां मनुष्यवाचं प्रयोजककर्त्री सिंहः प्रयोजयति इति विस्मापयति।' यहाँ ण्यन्त विस्मापि से पुनः णिच् प्रथम णिच् का लोप 'स्मापि' धातु से शतृ, गुण, अयादेश आदि करने से 'विस्मापयन्' ऐसा रूप बनता है। अब प्रयोजककर्ता (वाक्) से तृतीया हो गयी। णिजन्त 'भी' और 'स्मि' से ही आत्मनेपद का विधान होने के कारण ण्यन्तप्रकृतिक ण्यन्त से आत्मनेपद नहीं हुआ। सिद्धान्तकौमुदी में दीक्षित ने जो लिखा है कि मनुष्यवाक् प्रयोज्यकर्त्री उसका भी तात्पर्य प्रयोजककर्त्री ही है; क्योंकि 'प्रयोज्यः कर्ता यस्याः सा प्रयोज्यकर्त्री' इस बहुव्रीहिसमास के द्वारा प्रयोज्यकर्त्री का अर्थ प्रयोजककर्त्री ही होगा।

६७. व्यथां द्वयेषामपि मेदिनीभृताम्। (माघ १२, १३)

द्वौ अवयवौ यस्य इस विग्रह में द्वि शब्द से "संख्याया अवयवे तयप्" सूत्र से तयप् तथा तयप् के स्थान में "द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा" से अयच् आदेश करने से द्वय शब्द निष्पन्न होता है। द्वय शब्द में स्थानिवद्भाव करने से तयप्प्रत्ययान्ततया "प्रथमचरमतयाल्पार्ध-

कतिपयनेमाश्च" इस सूत्र से जस् विभक्ति में विकल्प से सर्वनामसंज्ञा होने पर भी आम् विभक्ति में सर्वनामत्व के अभाव से सुट् की अप्राप्ति होने से 'द्वयेषाम्' यह प्रयोग प्रायः प्रामादिक है।

६८. व्याददते पिपीलिकाः पतङ्गस्य मुखम्।

आङ् पूर्वक दा-धातु से मुख-विकसन से भिन्न अर्थ में "आङो दोऽनास्यविहरणे" सूत्र से आत्मनेपद होता है। जैसे 'विद्यामादत्ते' इत्यादि। प्रकृत में 'पिपीलिकाः पतङ्गस्य मुखं व्याददते' यहाँ आस्य-विहरण रूप ही अर्थ रहने के कारण आत्मनेपद का प्रयोग असंगत है ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए; क्योंकि "पराङ्गकर्मकान्न निषेधः" इस वार्तिक से पराङ्गकर्मक मुखविकसन में आत्मनेपद का निषेध नहीं होता है, अतः प्रकृत में 'व्याददते' ठीक ही है।

६९. शक्यं श्वमांसादिभिरपि क्षुत्प्रतिहन्तुम्।

शक् धातु से "शकिसहोश्च" इस सूत्र से "तयोरेव कृत्यक्त खलर्थाः" इस नियम से कर्म में यत् प्रत्यय करने से विशेष्य 'क्षुत्' के अनुसार लिङ्ग और वचन होने के कारण 'शक्या क्षुत्प्रतिहन्तुम्' ऐसा ही प्रयोग होना चाहिए, 'शक्यम्' यह प्रयोग अशुद्ध है ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि 'कर्माभिधायामपि लिङ्गवचनयोः सामान्योपक्रमः' इस नियम के अनुसार लिङ्ग सामान्य नपुंसक और वचन सामान्य एकवचन का प्रयोग विशेष्य के निरपेक्षरूप में भी होता है। अतएव 'शक्यमञ्जलिभिः पातुं वाताः केतकगन्धिनः' 'शक्यमोषधिपतेर्नवोदयाः' (कु० स० ८, ६८) इत्यादि प्रयोग होते हैं। सर्वत्र सामान्य में एकवचन तथा नपुंसक ही नहीं होते। अतः "शक्या भङ्क्तुं झटिति बिसिनीकन्दवच्चन्द्रपादाः" इत्यादि प्रयोग भी होते हैं।

७०. सुवर्णमुत्तपते।

"उद्विभ्यां तपः" इस सूत्र से अकर्मक तथा स्वाङ्गकर्मक तप् धातु से आत्मनेपद होने के कारण 'सुवर्णमुत्तपते' यहाँ आत्मनेपद असंगत है। यहाँ 'उत्तपति' ही प्रयोग होगा।

७१. संक्रीडते चक्रमितस्ततो भ्रमत् ।

"समोऽकूजने" इस वार्तिक से सम्पूर्वक क्रीड धातु से आत्मनेपद अकूजन अर्थ में होता है। प्रकृत में कूजन अर्थ होने के कारण आत्मनेपद असंगत है ।

७२. सन्ध्यावधू गृह्य करेण भानुः । (पाणिनिः)

"समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" इस सूत्र से अव्ययपूर्वपदक अनञ् समास में क्त्वाप्रत्यय के स्थान में ल्यप् आदेश होता है। अतः पूर्वोक्त गृह्य प्रयोग आर्ष ही है। कुछ लोगों का कहना है कि "विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वक्तव्यः" इससे अव्ययरूप पूर्वपद का लोप हो गया हैं, अतः केवल ल्यबन्त का प्रयोग है। किन्तु नमिसाधु ने रुद्रटालङ्कार की व्याख्या में इस प्रयोग को अशुद्ध माना है ।

७३. सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वाम् ।

स्थल शब्द से "जानपदकुण्डगोणस्थल" इत्यादि सूत्र से अकृत्रिम अर्थ में ङीष् विधान होने से प्रकृत में स्थली प्रयोग शुद्ध ही है। कृत्रिम अर्थ में स्थला शब्द होता है। इदानीन्तनपुरुषपरिष्कृतभूमि कृत्रिम कहलाती है और तद्भिन्न अकृत्रिम ।

७४. हीयमानमहरत्ययातपं पीवरोरु पिबतीव बर्हिणः । कुमार० ८।३६ ।

'पीवरौ ऊरू यस्याः' इस विग्रह में बहुव्रीहिसमास करने के बाद पीवरोरु शब्द से "ऊरूत्तरपदादौपम्ये" सूत्र से उपमानवाची पूर्वपद के अभाव में उङ् नहीं होने से "ह्रस्वस्य गुणः" से गुण तथा "एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः" से सम्बुद्धि का लुक् होकर 'पीवरोरो' ऐसा प्रयोग होना चाहिए 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' के अनुसार कुछ लोगों ने सम्बुद्धिगुण का अभाव मानकर 'पीवरोरु' को साधुत्व बतलाया है।

परिशिष्ट (ख)

वैदिक-व्याकरण

'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयत्वम्' के अनुसार मन्त्र तथा ब्राह्मण वेद कहलाते हैं। ब्राह्मण के ही अंश आरण्यक और उपनिषद् हैं अतः मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् में प्रयुक्त संस्कृत वैदिक-संस्कृत है। उससे भिन्न संस्कृत को लौकिकसंस्कृत कहते हैं। लौकिक-संस्कृत से वैदिकसंस्कृत की विशेषताएँ संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

(क) ध्वनिसम्बन्धी विशेषता—

वेद में अज्मध्यस्थ डकार तथा ढकार क्रमशः ळकार तथा ळ्हकार रूप में उच्चरित होते थे जो ध्वनियाँ लौकिकसंस्कृत में नहीं पायी जाती हैं। तथा 'अग्निमीळे', 'मीह्ळुषे' आदि।

(ख) विषयसम्बन्धी विशेषता पर ध्यान देने से यह स्पष्ट दीखता है कि वैदिकसाहित्य में मुख्यतः यज्ञ तथा उससे सम्बद्ध विषयों का विचार हुआ है। उपनिषदों में आध्यात्मिक विचार प्रमुख रहा है। परन्तु लौकिकसंस्कृत में ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सभी विषयों का प्रतिपादन हुआ है।

(ग) भाषासम्बन्धी विशेषता—

वैदिक शब्दराशि में पीछे चलकर परिशोधन होने के कारण शब्द-प्रयोग भी नियमित हो गये हैं। वैदिकसाहित्य का अत्यन्त प्रचलित लेट् लकार लौकिकसंस्कृत में सर्वथा लुप्त हो गया है। क्त्वा प्रत्यय के अर्थ में जो त्वि, त्वीन, त्या, या आदि प्रत्यय तथा तुमुन् के अर्थ में जो से, असे, ध्यै आदि अनेक प्रत्यय वेद में उपलब्ध थे वे लौकिकसंस्कृत में अप्रचलित हो गये।

१. अवर्णान्त शब्दों के प्रथमा बहुवचन में देवाः तथा देवासः, तृतीया एकवचन में देवेन तथा देवा एवं तृतीया बहुवचन में देवैः

और देवभिः रूप मिलते हैं जिनमें द्वितीय रूप लौकिकसंस्कृत में अप्राप्य हैं।

२. अवर्णान्त शब्दों के प्रथमा, द्वितीया तथा सम्बोधन के द्विवचन में औकारान्त के साथ आकारान्त रूप भी मिलते हैं। जैसे द्वा सुपर्णा इत्यादि।

३. अदन्त नपुंसक शब्द के प्रथमा बहुवचन में आकारान्त रूप भी उपलब्ध होते हैं। यथा—येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि इत्यादि।

४. इकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द के तृतीया एकवचन में दीर्घ ईकारान्त रूप भी मिलते हैं। जैसे—धीती, मती, सुष्टुती इत्यादि।

५. नकारान्त शब्द के परे सप्तमी एकवचन का प्रायः लोप हो जाता है। यथा—परमे व्योमन्।

६. उवर्णान्त शब्द के द्वितीया एकवचन में तनुम्, तन्वम् तथा तनुवम् एवं तृतीया एकवचन में आ, इया, या प्रत्ययान्त जैसे तन्वा, उर्विया, साधुया आदि रूप होते हैं।

७. युष्मद् तथा अस्मद् के चतुर्थी और सप्तमी बहुवचन म एकारान्त रूप भी होते हैं। यथा—युष्मे, अस्मे।

८. उत्तमपुरुष के बहुवचन में मः के साथ मसि भी पाया जाता है। यथा—नमो भरन्त एमसि, भवामसि आदि।

९. अन्यपुरुष बहुवचन 'झ' में 'रे' और 'रते' से समन्वित रूप होते हैं। यथा—दुह्रे, दुह्रते।

१०. आत्मनेपदी त का लोप भी हो जाता है। यथा—शेते के स्थान में शये। ध्वम् की जगह ध्वात् का भी प्रयोग मिलता है। जैसे—वारयध्वात्।

११. लोट् लकार में मध्यमपुरुष बहुवचन त के स्थान में त, तन, थन तथा तात् का प्रयोग होता है। यथा—शृणोत, दधातन, यतिष्ठन, कृणुतात् इत्यादि।

१२. लेट् लकार तो वैदिकसंस्कृत का ही वैशिष्ट्य है। लेट् में भवाति, मादयैते, तारिषत्, जोषिषत् आदि अनेक रूप होते हैं।

१३. धातु गण-विशेष में ही नियत नहीं है। अतः नाध्वम्, हनति, कृणोति, करति आदि भी प्रयोग मिलते हैं।

१४. तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में लगभग बाइस प्रत्यय होते हैं जिनका विचार वैदिक Infinitives में किया गया है।

१५. क्त्वा प्रत्यय के अर्थ में त्वा के अतिरिक्त त्वि, त्वी, त्वीन, त्वाय आदि अनेक प्रत्यय होते हैं। देखिए वैदिक Gerund.

१६. लौकिकसंस्कृत में जिन शब्दों का प्रयोग लुप्त हो गया, वे वनु, अमीवा आदि शब्द वेद में बहुधा प्रयुक्त हैं।

१७. उपसर्गों का प्रयोग लौकिकसंस्कृत में धातु से अव्यवहित पूर्व ही नियत रूप से होता है परन्तु वेद में पर तथा व्यवहित होकर भी होता है। द्र० वैदिक Preposition।

१८. इस प्रकार के वैशिष्टचों का संग्रह "व्यत्ययो बहुलम्" पा० सू० ३।१।८५। पर सिद्वान्तकौमुदी में भी किया गया है;

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिद्ध्यति बाहुलकेन॥

सुप्—दक्षिणस्याम् के स्थान में—सुप् का व्यत्यय-धुरि दक्षिणायाः। ङि की जगह ङस्।

तिङ्—तक्षन्ति के स्थान में 'ये अश्वयूपाय तक्षति। झि के स्थान में तिप्।

उपग्रह = परस्मैपद-आत्मनेपद—इच्छति के स्थान में इच्छते, युध्यते के स्थान में युध्यति।

लिङ्ग—मधुनः के स्थान में मधोः।

नर=पुरुष- वियूयात् के स्थान में ऊधासवीरैर्दशभिर्वियूयाः, प्रथमपुरुष के स्थान में मध्यमपुरुष।

काल=कालवाची प्रत्यय—श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन—लुट् के विषय में लृट्।

हल्—अधुक्षत् के स्थान में अदुक्षत्।

अच्—मित्रावयम् के स्थान में मित्र वयं च सूरयः।

स्वर—गवामिव श्रियसे यहाँ आद्युदात्त की जगह मध्योदात्तता।

कर्तृकारकमात्र—कारकवाची कृत्, तद्धित आदि प्रत्ययों का व्यत्यय। अन्नमत्ति इति अन्नादः यहाँ अण् के विषय में अच्। अतः अवग्रह में अन्न+अदाय न कि अन्न+आदाय।

यङ्—यङ् के यशब्द को लेकर "लिङ्याशिष्यङ्" के ङकार से यङ् प्रत्याहार होता है। अतः तन्मध्यपाती सभी का व्यत्यय होता है। यथा भिन्नति की जगह भेदति, म्रियते की जगह मरते, इन्द्रोवस्तेन नेषतु यहाँ नयतु के स्थान में शप् तथा सिप् दो विकरण हुए हैं। तरुषेम वृत्रम् यहाँ तरेम के स्थान में उ, सिप्, शप् तीन विकरणों का व्यत्यय हुआ है। इस तरह लौकिकसंस्कृत से वैदिकसंस्कृत में अगणित विशेषताएँ पायी जाती हैं।

वैदिक सन्धि (Euphonic Combination)

लौकिकसंस्कृत में एकपद में, धातु तथा उपसर्ग में और समास में संहिता नित्य होने के कारण सन्धि आवश्यक मानी गयी है, परन्तु वेद में पूर्वोक्त स्थलों में भी सन्धि अनिवार्य नहीं है। साधारणतः वेद में भी लौकिकसंस्कृत के समान ही सन्धि होती है। यण्, दीर्घ, गुण, वृद्धि आदि के अतिरिक्त "उपसर्गादृति धातौ" सूत्र के भी उदाहरण मिलते हैं। यथा आर्ति (आ+ऋति), आर्च्छति (आ+ऋच्छति), उपार्च्छति (उप+ऋच्छति) इत्यादि। 'प्रैषयुः' में वृद्धि भी लौकिकसंस्कृत के समान ही है। औनत् (आ+∠उन्दी), आर्त (आ+ऋ) इत्यादि में "आटश्च" सूत्र से वृद्धि लौकिकप्रक्रिया के समान ही है। 'ॐ इति' हरी ऋतस्य, साधू अस्मे, अमी इति इत्यादि स्थलों में सन्ध्यभाव, अर्थात् प्रगृह्यसंज्ञा, प्रकृतिभाव आदि में भी कोई अन्तर नहीं है। ऐसे ही रोदसी उभे ऋघायमाणम्, परिमम्नाथे अस्मान्, अस्मे

आयुः, युष्मे इत्था (शे १।१।१३। सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा) इत्यादि में भी प्रगृह्यसंज्ञा और प्रकृतिभाव होते हैं।

अभ्र आँ अपः, गभीर आँ उग्रपुत्रे इत्यादि में "आङोऽनुनासिकश्छन्दसि" सूत्र के अनुसार स्वर के पूर्व में आङ् (आ) के स्थान में अनुनासिक होकर प्रकृतिभाव होना खास वैदिक-सन्धि है। ऐसे ही ईषा अक्षो हिरण्ययः, ज्या इयम्, पुषा अविष्टु इत्यादि में (ईषा अक्षादीनां छन्दसि प्रकृतिभावो वक्तव्यः) प्रकृतिभाव वैदिक सन्धि है।

दीर्घस्वर के उत्तर तथा अट् के पूर्व में स्थित नकार के स्थान में "दीर्घादटि समानपादे" से रुत्व होता है जिसके स्थान में यत्व और यलोप हो जाता है। "आतोऽटि नित्यम्" से अनुनासिक होता है। यथा सर्गाँ इव, देवाँ अच्छा सुमती, महाँ इन्द्रो य ओजसा इत्यादि।

मत्वन्त तथा वस्वन्त प्रातिपदिक की सम्बुद्धि में नकार के स्थान में रुत्व होता है, "मतुवसोरु सम्बुद्धौ छन्दसि"। यथा इन्द्र मरुत्व इह पाहि सोमम्, हरिवो मेदिनं त्वा, इत्यादि। हल्सन्धि, विसर्गसन्धि आदि में यत्र तत्र कुछ विशेषताओं के अतिरिक्त कोई खास अन्तर नहीं है।

वैदिक तुमर्थ प्रत्यय
(Vedic Infinitives)

लौकिकसंस्कृत में जिस अर्थ में तुमुन् प्रत्यय होता है उसी अर्थ में वेद में "तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः" इस सूत्र से सेन् आदि पन्द्रह प्रत्यय होते हैं। यथा वच् + से = वक्षे (वक्तुमित्यर्थः), जीव + असे = जीवसे (जीवितुम् इत्यर्थः) इत्यादि। तुमर्थ में ही "प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै" ये तीन निपातित होते हैं। अर्थात् प्रयातुम् के अर्थ में प्र + या + कै = प्रयै, रोढुम् के अर्थ में रुह् + इष्यै = रोहिष्यै तथा अव्यथितुम् के अर्थ में नञ्

पूर्वक व्यथ् से इष्यै। द्रष्टुं तथा विख्यातुं के अर्थ में के प्रत्ययान्त दृशे तथा विख्ये ये दो शब्द बनते हैं। शक् धातु के उपपद रहने पर तुमर्थ में ही णमुल् और कमुल् प्रत्यय होते हैं। यथा 'विभाजं नाशकत्, अपलुपं नाशकत्' विभक्तुमपलोप्तुमित्यर्थः। इसी प्रकार "ईश्वरे तोसुन्कसुनौ" से ईश्वर उपपद रहने पर तुमर्थ में ही धातु से तोसुन् और कसुन् प्रत्यय होते हैं। जैसे 'ईश्वरो विचरितोः, ईश्वरो विलिखः' विचरितुम्; विलेखितुम् इत्यर्थः।

मैकडोनल महोदय ने Infinitives को चार भागों में विभक्त किया है—

१. चतुर्थ्यन्त तुमर्थ प्रत्यय—Dative Infinitives,

२. द्वितीयान्त तुमर्थ प्रत्यय—Accusative Infinitives,

३. पञ्चम्यन्त-षष्ठयन्त तुमर्थप्रत्यय—Ablative. Genitive Infinitives,

४. सप्तम्यन्त तुमर्थप्रत्यय—Iocative Infinitives,

1. Dative Infinitive—

वीरं दानौकसं वन्द-ध्यै,···सहसे सह-ध्यै···अघसवने मन्दध्यै, इन्द्रे-वोदय वातने मघम्···पुनः जीवसे···सूर्यं दृशे, रक्षसे विनिक्षे, सद्यश्चिन्महिदावने, अमित्रान् पृत्सुतुर्वणे, उश्मसि गमध्यै, दाधृभिर्भरध्यै, चिकिद् नाशयध्यै, अग्नि द्वेषो योतवै, भियसे मृगं कः, जजनुश्च राजसे आदि।

2. Accusative Infinitive—

उपो एमि चिकितुषो विपृचम्, इयेष बर्हि रासदम्, शकेमत्वा समिधम्, को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतम्, भूयो वा दातुमर्हसि इत्यादि।

3. Ablative Genitive Infinitive—

तोसुन् (तोः) तथा कसुन् (अः) प्रत्यय को उन्होंने पञ्चम्यन्त-षष्ठयन्त तुमर्थ प्रत्यय माना है। इन प्रयोगों में ऋते, पुरा आदि अव्ययपदों का तथा पा, त्रा, भी, ईश आदि धातुओं का साधारणतः

प्रयोग पाया जाता है। यथा—ऋते चिद् अभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः, त्राध्वं कर्तादिषपदः, नहि त्वदारे निमिषश्च न ईशे, स ईश्वरो यजमानस्य पशून् निर्दहः, पुरा हन्तोर्भयमानो व्यार, युयोतनो अनपत्यानि गन्तोः, ईशे शयः सुवीर्यस्य दातोः, मानोमध्यारीरिषत आयुर्गन्तोः इत्यादि।

4. Locative Infinitive—

'सनि' प्रत्यय को मैकडोनल ने सप्तम्यन्त तुमर्थ प्रत्यय कहा है। जैसे—विश्वा आशा स्तरीषणि, नयिष्ठा उनो नेषणि, पर्षिष्ठा उनः पर्षण्यतिद्विषः, प्रियं वोअतिथिं गृणीषणि, ईजानं भूमि रमि प्रभूषणि इत्यादि।

मैकडोनल आदि पाश्चात्त्य विद्वानों के अनुसार तुम्, तवे, तवै, तोः आदि रूप 'तु' शब्द के तत् तद् विभक्ति के अवशिष्ट रूप हैं, अतः उन्होंने पूर्वोक्त प्रकार से विभाजन किया है। परन्तु महर्षि पाणिनि की परम्परा के अनुसार यह उपर्युक्त विभाजन समुचित नहीं है।

वैदिक क्त्वादि प्रत्ययान्त अव्ययपद

(Vedic Gerund or Indeclinable Participle)

"समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" इस सूत्र के अनुसार जैसे लोक में एक कर्ता की अनेक क्रियाएँ होने पर पूर्वकालिक क्रियाबोधक धातुओं से क्त्वा प्रत्यय होता है, वैसे ही वेद में भी उसी अर्थ में त्वी, त्वा, त्वाय, त्वीन, य, या, अम् (णमुल्) आदि प्रत्यय होते हैं। मैकडोनल प्रभृति पाश्चात्त्य विद्वानों का मत है कि त्वी, त्वा आदि 'तु' प्रातिपदिक के ही विभिन्न रूप हैं जो पीछे चलकर अव्यय हो गये हैं।

१. त्वी—

ऋग्वेद में 'त्वी' प्रत्यय ही उपर्युक्त सभी प्रत्ययों में सबसे अधिक प्रयुक्त हुआ है। क्त प्रत्यय के साथ साधारणतः धातु का जो रूप

रहता है वही रूप क्त्वा, क्त्वी आदि प्रत्यय करने पर होता है। यथा —कृत्वी, गत्वी, गूढ्वी, भूत्वी, वृक्त्वी, हित्वी, जनित्वी इत्यादि। पाणिनि के अनुसार "स्नात्व्यादयश्च" सूत्र से 'त्वा' के आकार के स्थान में ईकार हो जाता है। स्नात्वा से स्नात्वी, पीत्वा से पीत्वी आदि।

२. त्वा—

ऋग्वेद में प्रायः नौ धातुओं से बने त्वा प्रत्ययान्त पद मिलते हैं और अथर्ववेद में प्रायः और तीस धातुओं से बने। यथा—पीत्वा, भित्वा, भूत्वा, मित्वा, युक्त्वा, वृत्वा, श्रुत्वा, हत्वा तथा हित्वा ऋग्वेद में और इष्ट्वा, जग्ध्वा, तीर्त्वा, तृढ्वा, दत्त्वा, पक्त्वा, बद्ध्वा, भक्त्वा, रूढ्वा, वृष्ट्वा, सुप्त्वा, चायित्वा, हिंसित्वा, गृहीत्वा कल्पयित्वा आदि अथर्ववेद में।

३. त्वाय—

त्वाय का प्रयोग ऋग्वेद में प्रायः आठ-धातुओं से हुआ है। यथा-गत्वाय, जग्ध्वाय, दत्त्वाय, दृष्ट्वाय, भक्त्वाय, युक्त्वाय, हत्वाय, हित्वाय। यजुर्वेद में कृत्वाय, तत्वाय, वृत्वाय आदि भी मिलते हैं। पाणिनि के अनुसार "क्त्वो यक्" सूत्र से यक् (य) का आगम हो जाता है।

४. त्वीन—

त्वीन का एक ही प्रयोग इष्ट्वीनम् मिलता है। महर्षि पाणिनि के "इष्ट्वीनमिति च" सूत्र के अनुसार क्त्वा के अन्त में 'ईनम्' का निपातन होता है।

५. य, या, त्य, त्या—

(क) य तथा या—जब उपसर्ग आदि के साथ धातु समस्त हो जाता है तो त्वा के स्थान में य, या का प्रयोग होता है। यथा—(अभि+वप्+य) अभ्युप्य, अभिक्रम्य, आदाय, अतिदीव्य, अनुदृश्य, आरभ्य, संगीय, सम्भूय, उत्थाय, संसीव्य, विभाज्य (वि+भज्+णिच्+य) आदि तथा आच्या (आ+अच्), अधिगूर्या, संगृभ्या,

निचाय्या, वितूर्या, निषद्या इत्यादि। ऋग्वेद में पुनर्दाय, मिथस्पृध्य, कर्णगृह्य, पादगृह्य, हस्तगृह्य आदि भी प्रयोग मिलते हैं।

(ख) त्य, त्या—अभिजित्य, अपमित्य, उपश्रुत्य, अख्खलीकृत्य, नमस्कृत्य इत्यादि तथा एत्या (आ+इ), आदृत्या, अरंकृत्या, विहृत्या, आगत्या इत्यादि। पाणिनि के अनुसार क्त्वा के स्थान में "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" सूत्र से ल्यप् (य) होता है और धातु के ह्रस्वान्त रहने पर तुक् (त्) का आगम हो जाता है।

६. अम्—

क्त्वा प्रत्यय के अर्थ में ही णमुल् (अम्) प्रत्यय से बने हुए शब्दों का ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रयोग मिलता है। यथा—शाखासमालभ्यम्, महानागमभिसंसारम् इत्यादि। लौकिकसंस्कृत में णमुल् का प्रयोग पौनःपुन्य अर्थ में साधारण रूप से होता है।

उपसर्ग (Preposition)

क्रिया अथवा कारक के वैशिष्टच बतलाने वाले प्र, परा, सम्, अनु आदि अव्यय उपसर्ग कहलाते हैं। अत एव उपसर्ग के दो वर्ग हो जाते हैं : (१) क्रियाविशेषकया क्रियावैशिष्टचोत्पादक उपसर्ग (Adverbial Preposition) तथा कारक विशेषक या कारक वैशिष्टचोत्पादक उपसर्ग (Adnominal Preposition) अर्थात् जो उपसर्ग क्रिया से सम्बद्ध होकर उसके वैशिष्टच को बतलाते हैं वे प्रथम वर्ग में आते हैं और जो कारकों से सम्बद्ध होकर उनकी विशेषताओं को व्यक्त करते हैं वे द्वितीय वर्ग में। प्रथम वर्ग के प्र, परा आदि बाइस उपसर्गों में प्र, परा, अप, सम्, नि, निस्, उद् तथा वि ये आठ उपसर्ग कारक विशेषक या Adnominal होकर प्रयुक्त नहीं होते। अच्छ, तिरस्, तथा पुरस् का प्रयोग Adnominally और Adverbially कारक और क्रिया के विशेषण रूप में होता है। कारक-विशेषक रूप में 'अच्छ' का प्रयोग केवल कर्मकारक के साथ होता है। यथा—'उपप्रागात्

'...अच्छा पितरं मातरम् च' अर्थात् वह पिता और माता के अभिमुख उपस्थित हुआ है। 'कमच्छा युञ्जाथे रथम्' अर्थात् किसके अभिमुख आप दोनों रथ को जोत रहे हैं ? इत्यादि। कारक विशेषकतया 'तिरस्' का भी प्रयोग कर्मकारक के साथ ही होता है। यथा नयन्ति दुरिता तिरः अर्थात् खतरे से बचाने के लिए आगे ले जा रहे हैं इत्यादि। 'पुरस्' कारक-विशेषकतया कर्म, अपादान तथा अधिकरण कारकों के साथ प्रयुक्त होता है जैसे—असदन् मातरं पुरः (वे माता के सामने बैठे); न गर्दभम् पुरो अश्वात् नयन्ति (वे 'अश्वात् पुरः' अश्व के आगे गधे को नहीं रखते) तथा यः सृञ्जये पुरः...समिध्यते (कौन सृञ्जय के आगे प्रदीप्त हुआ है। 'अच्छ' क्रियाविशेषकतया गत्यर्थक तथा वद् धातुओं के साथ, 'तिरस्' धा एवं भू धातुओं के साथ और 'पुरस्' कृ तथा धा धातुओं के साथ ही प्रयुक्त होता है। अतिरिक्त अति, अमि, अनु, अन्तर्, अपि, अभि, अव, आ, उप, परि, प्रति ये ग्यारह उपसर्ग दोनों ही रूप में (कारक तथा क्रिया विशेषकतया) प्रयुक्त होते हैं।

लोक में उपसर्ग का प्रयोग "ते प्राग्धातोः" इस सूत्र के अनुसार नियमतः धातु से अव्यवहित पूर्व में ही होता है। परन्तु वेद में "छन्दसि परेऽपि" "व्यवहिताश्च" के अनुसार व्यवहित होकर तथा धातु के परे भी होता है। यथा—'आ सायकं मघवा अदत्त' यहाँ आ उपसर्ग अदत्त से व्यवहित होकर प्रयुक्त है तथा 'जयेम सं युधि स्पृधः' यहाँ सम् जयेम से पर होकर।

कहीं पर केवल उपसर्ग ही क्रियापद का भी काम करता है 'आतू न इन्द्र' यहाँ आ से ही 'आगच्छ' का बोध होता है। कहीं पर वाक्य के एक भाग में प्रयुक्त केवल उपसर्ग उस वाक्य के अपर भाग में प्रयुक्त क्रिया के साथ सम्बद्ध होकर अर्थ को बतलाता है। यथा—'परिमां, परिमेप्रजां, परिनः पाहि यद् धनम्' यहाँ

पाहि का सम्बन्ध वाक्य के पूर्वभाग में प्रयुक्त पारे के साथ भी होता है। परन्तु लोक में उपसर्ग का प्रयोग नहीं होता है।

लेट् लकार (Subjunctive mood)

वेद में, विशेषकर ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में, लेट् लकार का अधिक प्रयोग हुआ है। "लिङर्थे लेट्" इस सूत्र के अनुसार लेट् लकार लिङ् के अर्थ में होता है। अर्थात् विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट (सत्कारपूर्वक व्यापार), संप्रश्न तथा प्रार्थना अर्थों में लिङ् के समान लेट् लकार भी होता है। इन अर्थों के अतिरिक्त उपसंवाद-पणबन्ध (अर्थात् 'यदि आप मेरा यह काम कर दें तो आप को मैं यह दूँगा' इस प्रकार की व्यवस्था को पणबन्ध कहते हैं) तथा आशङ्का अर्थों में भी लेट् लकार होता है। यथा उपसंवाद अर्थ में—अहमेव पशूनामीशै और आशङ्का अर्थ में नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम।

लेट् लकार के प्रयोगों की बनावटः—

(क) लट् लकार की प्रकृति में ("लेटोऽडाटौ") अ (ट्) अथवा आ (ट्) को जोड़कर इसके रूप बनाये जाते हैं। तिप् झि (अन्ति) और सिप् के इकार का तथा वस् और मस् के सकार का विकल्प से लोप होता है। यथा—भवाति-भवात्, भवातः, भवान्, भवासि-भवाः, भवाथः, भवाथ, भवानि, भवाव-भवावः, भवाम-भवामः। ऐसे ही √दुह् से दोहति आदि, √युज् से युनजति आदि, √कृ से कृण्वत् आदि रूप होते हैं।

(ख) लुङ् लकार की प्रकृति से "सिब् बहुलं लेटि" से सिप् (स्) का आगम होता है जो "सिब् बहुलं णिद् वक्तव्यः" के अनुसार णिद्वत् होकर प्रकृति की वृद्धि में प्रयोजक होता है। इसमें प्रायशः ति, सि आदि प्रत्ययों के स्थान में त्, स् आदि का ही प्रयोग होता है। जैसे—√तॄ से तारिषत्, √जुष् से जोषिषत्, √आ + षु से आसाविषत् इत्यादि।

(ग) यदि उपर्युक्त सिप् वाला स् णिद्वत् नहीं होता है तो प्रकृति में गुण ही होता है। जैसे—

स्तोषति-स्तोषत्, स्तोषतः, स्तोषन्
स्तोषसि-स्तोषः, स्तोषथः, स्तोषथ
स्तोषाणि, स्तोषाव-स्तोषावः, स्तोषाम-स्तोषामः

(घ) कभी तो लुङ् लकार की प्रकृति में 'सिष्' को जोड़कर लेट् लकार के रूप बनाये जाते हैं। यथा—गासिषत्, यासिषत् इत्यादि।

आत्मनेपद में आताम् तथा आथाम् सम्बन्धी आकार के स्थान में "आत ऐ" से ऐत्व हो जाता है। जैसे—मादयैते, बिभरैथे आदि। "आत ऐ" सूत्र के विषय को छोड़कर लेट् लकार-सम्बन्धी एकार के स्थान में ऐत्व होता है। यथा पशूनाम् ईशै, गृह्यान्तै इत्यादि। इस प्रकार लेट् लकार के विभिन्न प्रयोग होते हैं।

Injunctive

भूतकालिक लकारों में Augment (अट् आट्) के बिना जो प्रयोग होता है उसे ही Injunctive कहते हैं। इसका अर्थ लेट् और विधिलिङ् से मिलता-जुलता है। ऋग्वेद में इसका बहुत प्रयोग पाया जाता है, किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में निषेधार्थक 'मा' के साथ ही प्रायः यह प्रयुक्त हुआ है। कहीं कहीं तो इसको Subjunctive से पृथक् करना कठिन हो जाता है। पाश्चात्त्य विद्वानों का कहना है कि Injunctive क्रिया के उन आदि प्रयोगों को बतलाता है जिनमें काल तथा मूड का व्यवहार स्पष्टतः नहीं हो पाया है। इसमें अट् का सम्बन्ध होने से भूतकाल का बोध होने लगा और उसका सम्बन्ध नहीं होने से लोट्, लेट् आदि का।

(अ) उत्तमपुरुष में इन्जंक्टिव के द्वारा ऐसी प्रबल इच्छा प्रकट की जाती है जिसको कार्यरूप में लाना वक्ता की शक्ति पर अवलम्बित है। जैसे इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम् अर्थात् मैं इन्द्र के वीर्यों को प्रकट करूँगा ही।

(ब) मध्यम तथा प्रथम पुरुषों में आदेश, प्रार्थना आदि की प्रबल भावना रहती है। यथा अग्निर्जुषत नो गिरः, अर्थात् अग्नि हमारी स्तुतियों को अवश्य सेवें इत्यादि।

(स) जहाँ निषेधरूप अर्थ अभिप्रेत रहता है वहाँ 'मा' के साथ केवल Injunctive का ही प्रयोग होता है। जैसे 'माभूत्', 'मान इन्द्र परावृणक्' इत्यादि।

शब्दरूप

अकारान्त पुंल्लिङ्ग प्रिय शब्द—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	प्रियः	प्रिया, प्रियौ	प्रियाः, प्रियासः
द्वि०	प्रियम्	,, ,,	प्रियान्
तृ०	प्रियेण, प्रिया	प्रियाभ्याम्	प्रियैः, प्रियेभिः
च०	प्रियाय	,,	प्रियेभ्यः
प०	प्रियात्	,,	,,
ष०	प्रियस्य	प्रिययोः	प्रियाणाम्
स०	प्रिये	,,	प्रियेषु
सम्बो०	प्रिय	प्रिया, प्रियौ	प्रियाः, प्रियासः

प्रिया स्त्रीलिङ्ग

प्र०	प्रिया	प्रिये	प्रियाः प्रियासः
द्वि०	प्रियाम्	प्रिये	प्रियाः
तृ०	प्रियया, प्रिया	प्रियाभ्याम्	प्रियाभिः

शेष लौकिक रमावत्।

प्रिय नपुंसक

प्र०	प्रियम्	प्रिये	प्रिया, प्रियाणि
द्वि०	प्रियम्	प्रिये	प्रिया, प्रियाणि
तृ०	प्रियेण, प्रिया	प्रियाभ्याम्	प्रियैः, प्रियेभिः

शेष पुंल्लिङ्ग प्रियवत्।

शुचि पुंल्लिङ्ग

प्र०	शुचिः	शुची	शुचयः
द्वि०	शुचिम्	शुची	शुचीन्
तृ०	शुच्या, शुचिना	शुचिभ्याम्	शुचिभिः
च०	शुचये	,,	शुचिभ्यः
प०	शुचेः	,,	,,
ष०	शुचेः	शुच्योः	शुचीनाम्
स०	शुचा, शुचौ	,,	शुचिषु
सम्बो०	शुचे	शुची	शुचयः

शुचि नपुंसक

प्र०	शुचि	शुची	शुची, शुचि, शुचीनि
द्वि०	,,	,,	,, ,, ,,

शेष पुंल्लिङ्ग शुचिवत् ।

शुचि स्त्रीलिङ्ग

प्र०	शुचिः	शुची	शुचयः
द्वि०	शुचिम्	शुची	शुचीः
तृ०	शुच्या, शुची, शुचि	शुचिभ्याम्	शुचिभिः

शेष पुंल्लिङ्ग शुचिवत् ।

मधु पुंलिङ्ग

प्र०	मधुः	मधू	मधवः
द्वि०	मधुम्	मधू	मधून्
तृ०	मध्वा, मधुना	मधुभ्याम्	मधुभिः
च०	मधवे	,,	मधुभ्यः
प०	मधोः	,,	,,
ष०	मधोः मध्वः	मध्वोः	मधूनाम्
स०	मधवि, मधौ	,,	मधुषु
सम्बो०	मधौ	मधू	मधवः

मधु नपुंसक

प्र०	मधु	मध्वी	मधू, मधु, मधूनि
द्वि०	,,	,,	,, ,, ,,
तृ०	मधुना	मधुभ्याम्	मधुभिः
च०	मधवे, मधुने	,,	मधुभ्यः
प०	मधोः, मधुनः	,,	,,
ष०	मधोः, मधुनः	मधुनोः	मधूनाम्
स०	मधवि, मधौ, मधुनि	,,	मधुषु
सम्बो०	मधु	मध्वी	मधू, मधु, मधूनि

मधु-स्त्रीलिङ्ग

प्र०	मधुः	मधू	मधवः
द्वि०	मधुम्	मधू	मधूः
तृ०	मध्वा	मधुभ्याम्	मधुभिः
च०	मधवे	,,	मधुभ्यः
प०	मधोः	,,	,,
ष०	मधोः	मध्वोः	मधूनाम्
स०	मधौ	मध्वोः	मधुषु
सम्बो०	मधो	मधू	मधवः

देवी शब्द

प्र०	देवी	देवी, देव्यौ	देवीः, देव्यः
द्वि०	देवीम्	,, ,,	देवीः
तृ०	देव्या	देवीभ्याम्	देवीभिः
च०	देव्यै	,,	देवीभ्यः

शेष लौकिक देवी शब्दवत् ।

धी स्त्रीलिङ्ग

प्र०	धीः	धिया, धियौ	धियः
द्वि०	धियम्	,, ,,	,,
तृ०	धिया	धीभ्याम्	धीभिः

च०	धिये	धीभ्याम्	धीभ्यः
प०	धियः	,,	,,
ष०	,,	धियोः	धीनाम्, धियाम्
स०	धियाम्	,,	धीषु
सम्बो०	धीः	धिया, धियौ	धियः

दातृ पुंलिङ्ग

प्र०	दाता	दातारा, दातारौ	दातारः
द्वि०	दातारम्	,, ,,	दातॄन्

शेष लौकिक दातृवत्।

पितृ शब्द

प्र०	पिता	पितरा, पितरौ	पितरः
द्वि०	पितरम्	,, ,,	पितॄन्

शेष लौकिक पितृवत्।

ऐसे ही मातृ शब्द के प्र० और द्वि० के द्विवचन में मातरा, मातरौ शेष रूप लौकिक मातृवत्।

त्रिवृत् पुंल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग

प्र०	त्रिवृत्	त्रिवृता, त्रिवृतौ	त्रिवृतः
द्वि०	त्रिवृतम्	,, ,,	त्रिवृतः
तृ०	त्रिवृता	त्रिवृद्भ्याम्	त्रिवृद्भिः
च०	त्रिवृते	,,	त्रिवृद्भ्यः
प०	त्रिवृतः	,,	,,
ष०	,,	त्रिवृतोः	त्रिवृताम्
स०	त्रिवृति	,,	त्रिवृत्सु
सम्बो०	त्रिवृत्	त्रिवृता त्रिवृतौ	त्रिवृतः

त्रिवृत् नपुंसक

प्र०द्वि०	त्रिवृत्	त्रिवृती	त्रिवृन्ति

शेष पुंवत्।

पाद्

प्र०	पात्	पादा, पादौ	पादः
द्वि०	पादम्	,, ,,	पदः
तृ०	पदा	पद्भ्याम्	पद्भिः
च०	पदे	,,	पद्भ्यः
प०	पदः	,,	,,
ष०	पदः	पदोः	पदाम्
स०	पदि	,,	पत्सु

इसी प्रकार दृषद्, धृषद्, त्रसद्, शरद्, ककुद्, काकुद् आदि शब्दों के रूप होते हैं।

अ॑पस् (work कर्म) नपुंसक, य॑शस् (ख्याति) नपुंसक आदि के रूप लौकिक यशस् के समान। अप॑स् (active कर्म-कर) पुंल्लिङ्ग अथवा स्त्रीलिङ्ग, यश॑स् (यशस्वी) पुंल्लिङ्ग आदि के रूप वेधस् के समान होते हैं।

नोट—अ॑पस् (work) तथा अप॑स् (active) आदि के स्वर पर ध्यान देना चाहिए।

महत् पुंल्लिङ्ग

प्र०	महान्	महान्ता, महान्तौ	महान्तः
द्वि०	महान्तम्	,, ,,	महतः

शेष रूप लौकिक महत् के समान।

राजन्

प्र०	राजा	राजाना, राजानौ	राजानः
द्वि०	राजानम्	,, ,,	राज्ञः
तृ०	राज्ञा	राजभ्याम्	राजभिः
च०	राज्ञे	,,	राजभ्यः
प०	राज्ञः	,,	,,
ष०	राज्ञः	राज्ञोः	राज्ञाम्

स०	राजनि, राजन्, राज्ञि	राज्ञोः	राजसु
सम्बो०	राजन्	राजाना-नौ	राजानः

कर्मन् नपुंसक

प्र०	कर्म	कर्मणी	कर्माणि, कर्मा, कर्म
द्वि०	,,	,,	,, ,, ,,

सप्तमी एकवचन में कर्मणि तथा कर्मन् शेषरूप लौकिक कर्मन् के समान।

ग्रावन् (पुंल्लिङ्ग) के रूप ग्रावा, ग्रावाणौ, ग्रावाणा, ग्रावाणः सप्तमी एकवचन ग्रावणि तथा ग्रावन् शेष लौकिकवत्। वृत्रहन्, मघवन् आदि शब्दों के रूप प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन में वृत्रहणा-णौ, मघवाना-नौ के अतिरिक्त लौकिकवत्।

अस्मद्

प्र०	अहम्	वाम्, आवम्, आवाम्,	वयम्
द्वि०	माम्, मा	आवाम्, नौ	अस्मान्, नः,
तृ०	मया	आवाभ्याम्	अस्माभिः
च०	मह्यम्, मह्य, मे	,, नौ	अस्मभ्यम्, अस्मे, नः
प०	मत्	,, आवत्	अस्मत्
ष०	मम, मे	आवयोः, नौ	अस्माकम्, अस्माक, नः
स०	मयि	आवयोः	अस्मासु, अस्मे

युष्मद्

प्र०	त्वम्	युवम्	यूयम्
द्वि०	त्वाम्, त्वा	युवाम्, वाम्	युष्मान्, वः
तृ०	त्वया, त्वा	युवभ्याम्, युवाभ्याम्	युष्माभिः
च०	तुभ्यम्, तुभ्य, ते	,, ,,	युष्मभ्यम्, वः
प०	त्वत्	युवत्	युष्मत्
ष०	तव, ते	युवोः, युवयोः	युष्माकम्, युष्माक, वः
स०	त्वे, त्वयि	युवयोः	युष्मे, (युष्मासु)

तत् पुंल्लिङ्ग

प्र०	सः	ता, तौ	ते
द्वि०	तम्	ता, तौ	तान्
तृ०	तेन	ताभ्याम्	तैः, तेभिः
च०	तस्मै	"	तेभ्यः
प०	तस्मात्	"	"
ष०	"	तयोः	तेषाम्
स०	तस्मिन्, सस्मिन्	"	तेषु

तत् स्त्रीलिङ्ग

सा, ते, ताः आदि लौकिक रूप के समान।

तत् नपुंसक

प्र०	तत्	ते	ता, तानि
द्वि०	तत्	ते	ता, तानि

शेष पुंल्लिङ्गवत्।

इदम् पुंल्लिङ्ग

प्र०	अयम्	इमा, इमौ	इमे
द्वि०	इमम्	इमा, इमौ	इमान्
तृ०	एना, एन	आभ्याम्	एभिः
च०	अस्मै	आभ्याम्	एभ्यः
प०	अस्मत्	"	"
ष०	अस्य	अयोः	एषाम्
स०	अस्मिन्	अयोः	एषु

इदम् स्त्रीलिङ्ग में तृतीया एकवचन में 'आया' शेष रूप लौकिक स्त्रीलिङ्ग रूप के समान।

इदम् नपुंसक प्रथमा तथा द्वितीया में इदम्, इमे, इमा, इमानि शेष रूप पुंल्लिङ्ग इदम् के समान।

किम् शब्द के पुंल्लिङ्ग में तृ० ब० में कैः तथा केभिः अवशिष्ट

लौकिक रूप के समान। नपुंसक में कद्, किम्, के, का, कानि शेष पुंल्लिङ्ग के समान। स्त्रीलिङ्ग में कोई विशेषता नहीं।

यत् पुंल्लिङ्ग

प्र०	यः	या, यौ	ये
द्वि०	यम्	या, यौ	यान्
तृ०	येना, येन	याभ्याम्	येः, येभिः
च०	यस्मै	,,	येभ्यः
प०	यस्मात्	,,	,,
ष०	यस्य	ययोः	येषाम्
स०	यस्मिन्	ययोः, योः	येषु

नपुंसक में यत्, ये, या, यानि शेष पुंवत्
स्त्रीलिङ्ग में लौकिक रूप के समान।

धातुरूप

भू लट् (Present active)

प्र०	भवति	भवतः	भवन्ति
म०	भवसि	भवथः	भवथ
उ०	भवामि	भवावः	भवामः, भवामसि

लङ् (Imperfect)

प्र०	अभवत्	अभवताम्	अभवन्
म०	अभवः	अभवतम्	अभवत
उ०	अभवम्	अभवाव	अभवाम

लोट् (Imperative)

प्र०	भवतु, भवतात्	भवताम्	भवन्तु
म०	भव, भवतात्	भवतम्	भवत
उ०	[भवानि	भवाव	भवाम]

लेट् (Subjunctive)

प्र०	भवाति, भवात्	भवातः	भवान्

म०	भवासि, भवाः	भवाथः	भवाथ
उ०	भवानि, भवा	भवाव-भवावः	भवाम-भवामः

विधिलिङ् (Optative)

प्र०	भवेत्	भवेताम्	भवेयुः
म०	भवेः	भवेतम्	भवेत
उ०	भवेयम्	भवेव	भवेम

'भू' आत्मनेपद—लट् (Middle)

प्र०	भवते	भवेते	भवन्ते
म०	भवसे	भवेथे	भवध्वे
उ०	भवे	भवावहे	भवामहे

लङ्

प्र०	अभवत	अभवेताम्	अभवन्त
म०	अभवथाः	अभवेथाम्	अभवध्वम्
उ०	अभवे	अभवावहि	अभवामहि

लोट्

प्र०	भवताम्	भवेताम्	भवन्ताम्
म०	भवस्व	भवेथाम्	भवध्वम्
उ०	[भवै	भवावहै	भवामहै]

लेट्

प्र०	भवाते, भवातै	भवैते	भवान्ते
म०	भवासे, भवासै	भवैथे	भवाध्वे
उ०	भवै	भवावहै	भवामहै

विधिलिङ्

प्र०	भवेत	भवेयाताम्	भवेरन्
म०	भवेथाः	भवेयाथाम्	भवेध्वम्
उ०	भवेय	भवेवहि	भवेमहि

अदादिगणीय 'इण्' गतौ, परस्मैपदी—लट्

प्र०	एति	इतः	यन्ति

म०	एषि	इथः	इथ, इथन
उ०	एमि	इवः	इमः, इमसि

लङ्

प्र०	ऐत्	ऐताम्	आयन्
म०	ऐः	ऐतम्	ऐत, ऐतन
उ०	आयम्	ऐव	ऐम

लोट्

प्र०	एतु	इताम्	यन्तु
म०	इहि, इतात्	इतम्	इत, इतन
उ०	[अयानि	अयाव	अयाम]

लेट्

प्र०	अयति, अयत्	अयतः	अयन्
म०	अयसि, अयः	अयथः	अयथ
उ०	अयानि, अया	अयाव-वः	अयाम-मः

विधिलिङ्

प्र०	इयात्	इयाताम्	इयुः
म०	इयाः	इयातम्	इयात
उ०	इयाम्	इयाव	इयाम

ब्रू आत्मनेपदी लट् (Midle present)

प्र०	ब्रूते, ब्रुवे	ब्रुवाते	ब्रुवते
म०	ब्रूषे	ब्रुवाथे	ब्रूध्वे
उ०	ब्रुवे	ब्रूवहे	ब्रूमहे

लङ्

प्र०	अब्रूत	अब्रुवाताम्	अब्रुवत
म०	अब्रूथाः	अब्रुवाथाम्	अब्रूध्वम्
उ०	अब्रुवि	अब्रूवहि	अब्रूमहि

लोट्

प्र०	ब्रूताम्	ब्रुवाताम्	ब्रुवताम्

म०	ब्रूष्व	ब्रुवाथाम्	ब्रूध्वम्
उ०	[ब्रवै	ब्रवावहै	ब्रवामहै]

लेट्

प्र०	ब्रवते	ब्रवैते	ब्रवन्त
म०	ब्रवसे	ब्रवैथे	ब्रवध्वे
उ०	ब्रवै	ब्रवावहै	ब्रवामहै

विधिलिङ्

प्र०	ब्रुवीत	ब्रुवीयाताम्	ब्रुवीरन्
म०	ब्रुवीथाः	ब्रुवीयाथाम्	ब्रुवीध्वम्
उ०	ब्रुवीय	ब्रुवीवहि	ब्रुवीमहि

जुहोत्यादिगणीय 'भृ' धातु, परस्मैपदी—लट्

प्र०	बिभर्ति	बिभृतः	बिभ्रति
म०	बिभर्षि	बिभृथः	बिभृथ
उ०	बिभर्मि	बिभृवः	बिभृमः, बिभृमसि

लङ्

प्र०	अबिभः	अबिभृताम्	अबिभ्रन्, अबिभरुः
म०	अबिभः	अबिभृतम्	अबिभृत, अबिभृतन
उ०	अबिभरम्	अबिभृव	अबिभृम

लोट्

प्र०	बिभर्तु	बिभृताम्	बिभ्रतु
म०	बिभृहि-बिभृतात्	बिभृतम्	बिभृत-बिभृतन
उ०	[बिभराणि	बिभराव	बिभराम]

लेट्

प्र०	बिभरत्	बिभरतः	बिभरन्
म०	बिभरः	बिभरथः	बिभरथ
उ०	बिभराणि	बिभराव-वः	बिभराम-मः

विधिलिङ्

प्र०	बिभृयात्	बिभृयाताम्	बिभृयुः

म०	बिभृयाः	बिभृयातम्	बिभृयात
उ०	बिभृयाम्	बिभृयाव	बिभृयाम

'भृ' आत्मनेपदी—लट्

प्र०	बिभृते	बिभ्राते	बिभ्रते
म०	बिभृषे	बिभ्राथे	बिभृध्वे
उ०	बिभ्रे	बिभृवहे	बिभृमहे

लङ्

प्र०	अबिभृत	अबिभ्राताम्	अबिभ्रत
म०	अबिभृथाः	अबिभ्राथाम्	अबिभृध्वम्
उ०	अबिभ्रि	अबिभृवहि	अबिभृमहि

लोट्

प्र०	बिभृताम्	बिभ्राताम्	बिभ्रताम्
म०	बिभृष्व	बिभ्राथाम्	बिभृध्वम्
उ०	[बिभरै	बिभरावहै	बिभरामहै]

लेट्

प्र०	बिभरते	बिभरैते	बिभरन्त
म०	बिभरसे	बिभरैथे	बिभरध्वे
उ०	बिभरै	बिभरावहै	बिभरामहै

विधिलिङ्

प्र०	बिभ्रीत	बिभ्रीयाताम्	बिभ्रीरन्
म०	बिभ्रीथाः	बिभ्रीयाथाम्	बिभ्रीध्वम्
उ०	बिभ्रीय	बिभ्रीवहि	बिभ्रीमहि

स्वादिगणीय 'कृ' धातु, परस्मैपद—लट्

प्र०	कृणोति	कृणुतः	कृण्वन्ति
म०	कृणोषि	कृणुथः	कृणुथ
उ०	कृणोमि	कृण्वः	कृण्मः, कृण्मसि

लङ्

प्र०	अकृणोत्	अकृणुताम्	अकृण्वन्

म०	अकृणोः	अकृणुतम्	अकृणुत
उ०	अकृणवम्	अकृण्व	अकृण्म

लोट्

प्र०	कृणोतु	कृणुताम्	कृण्वन्तु
म०	कृणुहि, कृणु, कृणुतात्	कृणुतम्	कृणुत, कृणोत, कृणोतन
उ०	कृणवानि	कृणवाव	कृणवाम

लेट्

प्र०	कृणवम्	कृणवतः	कृणवन्
म०	कृणवः	कृणवथः	कृणवथ
उ०	कृणवा, कृणवानि	कृणवाव-वः	कृणवाम-मः

विधिलिङ्

प्र०	कृणुयात्	कृणुयाताम्	कृणुयुः
म०	कृणुयाः	कृणुयातम्	कृणुयात
उ०	कृणुयाम्	कृणुयाव	कृणुयाम

'कृ' आत्मनेपद—लट्

प्र०	कृणुते, कृण्वे	कृण्वाते	कृण्वते
म०	कृणुषे	कृण्वाथे	कृणुध्वे
उ०	कृण्वे	कृण्वहे	कृण्महे

लङ्

प्र०	अकृणुत	अकृण्वाताम्	अकृण्वत
म०	अकृणुथाः	अकृण्वाथाम्	अकृणुध्वम्
उ०	अकृण्वि	अकृण्वहि	अकृण्महि

लोट्

प्र०	कृणुताम्	कृण्वाताम्	कृण्वताम्
म०	कृणुष्व	कृण्वाथाम्	कृणुध्वम्
उ०	[कृणवै	कृणवावहै	कृणवामहै

लेट्

प्र०	कृणवते	कृणवैते	कृणवन्त

म०	कृणवसे	कृणवैथे	कृणवध्वे
उ०	कृणवै	कृणवावहै	कृणवामहै

विधिलिङ्

प्र०	कृण्वीत	कृण्वीयाताम्	कृण्वीरन्
म०	कृण्वीथाः	कृण्वीयाथाम्	कृण्वीध्वम्
उ०	कृण्वीय	कृण्वीवहि	कृण्वीमहि

रुधादिगणीय 'युज्' धातु, परस्मैपद—लट्

प्र०	युनक्ति	युङ्क्तः	युञ्जन्ति
म०	युनक्षि	युङ्थः	युङ्थ
उ०	युनज्मि	युञ्ज्वः	युञ्ज्मः

लङ्

प्र०	अयुनक्	अयुङ्क्ताम्	अयुञ्जन्
म०	अयुनक्	अयुङ्क्तम्	अयुङ्क्त
उ०	अयुनजम्	अयुञ्ज्व	अयुञ्ज्म

लोट्

प्र०	युनक्तु	युङ्क्ताम्	युञ्जन्तु
म०	युङ्ग्धि	युङ्क्तम्	युङ्क्त, युङ्क्तन
उ०	[युनजानि	युनजाव	युनजाम]

लेट्

प्र०	युनजत्	युनजतः	युनजन्
म०	युनजः	युनजथः	युनजथ
उ०	युनजानि	युनजाव	युनजाम

विधिलिङ्

प्र०	युञ्ज्यात्	युञ्ज्याताम्	युञ्ज्युः
म०	युञ्ज्याः	युञ्ज्यातम्	युञ्ज्यात
उ०	युञ्ज्याम्	युञ्ज्याव	युञ्ज्याम

युज् आत्मनेपद, लट्

प्र०	युङ्क्ते	युञ्जाते	युञ्जते

म०	युङ्क्षे	युञ्जाथे	युङ्ग्ध्वे
उ०	युञ्जे	युञ्ज्वहे	युञ्ज्महे

लङ्

प्र०	अयुङ्क्त	अयुञ्जाताम्	अयुञ्जत
म०	अयुङ्क्थाः	अयुञ्जाथाम्	अयुङ्ग्ध्वम्
उ०	अयुञ्जि	अयुञ्ज्वहि	अयुञ्ज्महि

लोट्

प्र०	युङ्क्ताम्	युञ्जाताम्	युञ्जताम्
म०	युङ्क्ष्व	युञ्जाथाम्	युङ्ग्ध्वम्
उ०	[युनजै	युनजावहै	युनजामहै]

लेट्

प्र०	युनजते	युनजैते	युनजन्त
म०	युनजसे	युनजैथे	युनजध्वे
उ०	युनजै	युनजावहै	युनजामहै

विधिलिङ्

प्र०	युञ्जीत	युञ्जीयाताम्	युञ्जीरन्
म०	युञ्जीथाः	युञ्जीयाथाम्	युञ्जीध्वम्
उ०	युञ्जीय	युञ्जीवहि	युञ्जीमहि

क्र्यादिगणीय 'गृह्' (ग्रभ्) धातु, परस्मैपद—लट्

प्र०	गृभ्णाति	गृभ्णीतः	गृभ्णन्ति
म०	गभ्णासि	गृभ्णीथः	गृभ्णीथ, गृभ्णीथन
उ०	गृभ्णामि	गृभ्णीवः	गृभ्णीमः, गृभ्णीमसि

लङ्

प्र०	अगृभ्णात्	अगृभ्णीताम्	अगृभ्णन्
म०	अगृभ्णाः	अगृभ्णीतम्	अगृभ्णीत
उ०	अगृभ्णाम्	अगृभ्णीव	अगृभ्णीम

लोट्

प्र०	गृभ्णातु	गृभ्णीताम्	गृभ्णन्तु
म०	गृभ्णीहि, गृभ्णीतात्, गृभाण	गृभ्णीतम्	गृभ्णीत, गृभ्णीतन
उ०	[गृभ्णानि	गृभ्णाव	गृभ्णाम]

लेट्

प्र०	गृभ्णाति, गृभ्णात्	गृभ्णातः	गृभ्णान्
म०	गृभ्णाः	गृभ्णाथः	गृभ्णाथ
उ०	गृभ्णानि	गृभ्णाव-वः	गृभ्णाम-मः

विधिलिङ्

प्र०	गृभ्णीयात्	गृभ्णीयाताम्	गृभ्णीयुः
म०	गृभ्यीयाः	गृभ्णीयातम्	गृभ्णीयात
उ०	गृभ्णीयाम्	गृभ्णीयाव	गृभ्णीयाम

'गृह्' (ग्रभ्), आत्मनेपद—लट्

प्र०	गृभ्णीते	गृभ्णाते	गृभ्णते
म०	गृभ्णीषे	गृभ्णाथे	गृभ्णीध्वे
उ०	गृभ्णे	गृभ्णीवहे	गृभ्णीमहे

लङ्

प्र०	अगृभ्णीत	अगृभ्णाताम्	अगृभ्णत
म०	अगृभ्णीथाः	अगृभ्णाथाम्	अगृभ्णीध्वम्
उ०	अगृभ्णि	अगृभ्णीवहि	अगृभ्णीमहि

लोट्

प्र०	गृभ्णीताम्	गृभ्णाताम्	गृभ्णताम्
म०	गृभ्णीष्व	गृभ्णाथाम्	गृभ्णीध्वम्
उ०	[गृभ्णै	गृभ्णावहै	गृभ्णामहै]

लेट्

प्र०	गृभ्णाते	गृभ्णैते	गृभ्णान्त

म०	गृभ्णासे	गृभ्णैथे	गृभ्णाध्वे
उ०	गृभ्णै	गृभ्णावहै	गृभ्णामहै

विधिलिङ्

प्र०	गृभ्णीत	गृभ्णीयाताम्	गृभ्णीरन्
म०	गृभ्णीथाः	गृभ्णीयाथाम्	गृभ्णीध्वम्
उ०	गृभ्णीय	गृभ्णीवहि	गृभ्णीमहि

परिशिष्ट (ग)

छन्द

व्याकरणशास्त्र में जैसे प्रत्याहार के आधार पर लक्षण बनाये गये हैं, वैसे ही छन्दःशास्त्र में मगण, यगण आदि गणों के आधार पर लक्षण बने हुए हैं, अतः गणों का परिचय आवश्यक हो जाता है।

आदिमध्यावसानेषु भजसा यान्ति गौरवम्।
यरता लाघवं यान्ति मनौ तु गुरुलाघवम्॥

अर्थात् भगण, जगण और सगण के क्रमशः आदि, मध्य तथा अन्त गुरु होते हैं, यगण, रगण तथा तगण के क्रमशः आदि, मध्य और अन्त लघु होते हैं एवं मगण के तीनों अक्षर गुरु और नगण के तीनों अक्षर लघु होते हैं। इन गणों को निम्नलिखित प्रकार से व्यक्त किया जाता है :

भगण—SII, जगण—ISI सगण—IIS, यगण—ISS, रगण—SIS, तगण—SSI, मगण—SSS, नगण—III। 'S' यह चिह्न गुरु अक्षर को प्रकट करता है और 'I' यह चिह्न लघु अक्षर को। या यों समझिए—

मस्त्रिगुरुस्त्रिलघुश्च नकारो भादिगुरुः पुनरादिलघुर्यः।
जो गुरुमध्यगतो रलमध्यः सोऽन्तगुरुः कथितोऽन्तलघुस्तः॥

अनुस्वार से युक्त, विसर्ग से युक्त, दीर्घ तथा संयोग से पूर्व वर्ण गुरु होते हैं और पाद के अन्तिम ह्रस्व भी विकल्प से गुरु होते हैं।

कतिपय छन्दों के लक्षण तथा उदाहरण—

१. इन्द्रवज्रा—स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः।

अर्थात् दो तगण, एक जगण के बाद दो गुरु वर्ण होने से इन्द्रवज्रावृत्त होता है। इसके पाद में विराम होता है। यथा—

गोष्ठे गिरिं सव्यकरेण धृत्वा, रुष्टेन्द्रवज्राहतिमुक्तवृष्टौ।
यो गोकुलं गोपकुलञ्च सुस्थं चक्रे स नो रक्षतु चक्रपाणिः॥

२. **उपेन्द्रवज्रा**—उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ।

प्रत्येक चरण में जगण, तगण और जगण के बाद दो गुरु हों तो उपेन्द्रवज्रा-छन्द होता है। इसमें भी पाद में ही यति होती है। यथा—

उपेन्द्र ! वज्रादिमणिच्छटाभिर्विभूषणानां छुरितं वपुस्ते।
स्मरामि गोपीभिरुपास्यमानं सुरद्रुमूले मणिमण्डपस्थम्॥

३. **उपजाति**—अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः।

अर्थात् इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा के एक-एक चरण होने से उपजातिनामक वृत्त होता है। जैसे—

तोयेषु तस्याः प्रतिबिम्बितासु, व्रजाङ्गनानां नयनावलीषु।
स्वबन्धुपङ्क्तिभ्रमतोऽतिमुग्धा गोष्ठीं शफर्यो रचयाम्बभूवुः॥

४. **शालिनी**—शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः।

अर्थात् प्रत्येक चरण में एक मगण, दो तगण और दो गुरु होने से एवं चार और सात पर विराम होने पर शालिनी-वृत्त होता है। यथा—

अंहो हन्ति ज्ञानवृद्धिं विधत्ते धर्मं दत्ते काममर्थं च सूते।
मुक्तिं दत्ते सर्वदोपास्यमाना पुंसां श्रद्धाशालिनी विष्णुभक्तिः॥

५. **वंशस्थ**—जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।

अर्थात् प्रत्येक पाद में जगण, तगण, जगण और रगण होने से वंशस्थ होता है। इसमें पाद में यति होती है। यथा—

श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम्।
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः॥

६. **द्रुतविलम्बित**—द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।

जिसके प्रत्येक पाद में नगण, दो भगण और एक रगण हो उसे द्रुतविलम्बित कहते हैं। यहाँ भी पाद में ही विराम होता है। यथा—

नवपलाशपलाशवनं पुरः स्फुटपरागपरागतपङ्कजम् ।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत् ससुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ॥

७. **भुजङ्गप्रयात**—भुजङ्गप्रयातं चतुर्भिर्यकारैः ।

जिसके प्रत्येक पाद में चार यगण हों, उसे भुजङ्गप्रयात कहते हैं । यथा—

न याचे गजालिं न वा वाजिराजं न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदापि ।
इयं सुन्दरी मस्तकन्यस्तहस्ता लवङ्गी कुरङ्गीदृगङ्गीकरोतु ॥

८. **प्रहर्षिणी**– म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम् ।

जिससे पाद में मगण, नगण, जगण, रगण तथा एक गुरु हो उसे प्रहर्षिणी कहते हैं । इसमें तीन और दश वर्णों पर विराम होता है । यथा—

गोपीनामधरसुधारसस्य पानैरुत्तुङ्गस्तनकलशोपगूहनैश्च ।
आश्चर्यैरपि रतिविभ्रमैर्मुरारेः संसारे मतिरभवत् प्रहर्षिणीह ॥

९. **मालिनी**—न न म य ययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ।

जिसके प्रत्येक चरण में दो नगण, एक मगण और दो यगण हों तथा आठ और सात वर्णों पर विराम हो उसे मालिनी कहते हैं । जैसे—

विधिसमयनियोगाद्दीप्तिसंहारजिह्मं,
शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ ।
रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ,
दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः ॥

१०. **शिखरिणी**—रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी ।

जिसके प्रत्येक पाद में क्रमशः यगण, मगण, नगण, सगण, भगण तथा एक लघु और एक गुरु हों एवं छः तथा ग्यारह पर यति हो, उसे शिखरिणीवृत्त कहते हैं यथा—

न मन्त्रं नो यन्त्रं तदपि च न जाने स्तुतिमहो
न चाह्वानं ध्यानं तदपि च न जाने स्तुतिकथाम् ।

न जाने मुद्रास्ते तदपि च न जाने विलपनं,
परं जाने मातस्त्वदनुशरणं क्लेशहरणम् ।।

११. वसन्ततिलका—उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ।

जिसके प्रत्येक चरण में क्रमशः तगण, भगण, दो जगण और दो गुरु हों उसे वसन्ततिलकावृत्त कहते हैं। यथा—

फुल्लं वसन्ततिलकं तिलकं वनाल्या,
लीलापरं पिककुलं कलमत्र रौति ।
वात्येष पुष्पसुरभिर्मलयाद्रिवातो
यातो हरिः स मधुरां विधिना हताः स्मः ।।

१२. मन्दाक्रान्ता -मन्दाक्रान्ता जलधि षडगैम्भौं नतौ ताद् गुरू चेत् ।

मन्दाक्रान्ता के प्रत्येक चरण में मगण, भगण, नगण, दो तगण और दो गुरु होते हैं तथा चार, छः एवं सात वर्णों पर विराम होता है। यथा—

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात् प्रमत्तः, इत्यादि ।

१३. स्रग्धरा—म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा ... तेयम् ।

... सके प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण, रगण, भगण, नगण ... यगण हों एवं सात-सात पर तीन बार यति हो उसे ... त्त कहते हैं। यथा—

... वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री, इत्यादि ।

... नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ

... ें क्रमशः दो नगण, एक रगण ... र्थ पादों में एक नगण, ... तो पुष्पिताग्रा वृत्त

न समयपरिरक्षणं क्षमन्ते निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः ।
अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधिसन्धिदूषणानि ।।

१५. पृथ्वी जसौ जसयलावसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः ।

जिसके प्रत्येक पाद में जगण, सगण, जगण, सगण, यगण, के बाद एक लघु तथा एक गुरु हो एवं आठ तथा नौ वर्णों पर विराम हो, उसे पृथ्वी छन्द कहते हैं । यथा—

स्मृतापि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणाम् ,
अभङ्गुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम् ।
कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी ,
मदीयमतिचुम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी ।।

१६. शार्दूलविक्रीडित—सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूल-विक्रीडितम् ।

जिसके प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण, सगण, जगण, सगण और दो तगण के बाद एक गुरु हो तथा बारह एवं सात पर यति हो उसे शार्दूलविक्रीडित कहते हैं । यथा—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।
आदौ वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ।।

१७. हरिणी—रसयुगहयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गौ यदा हरिणी अथवा नसमरसला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता ।

अर्थात् जिसके प्रत्येक चरण में क्रमशः ... यगण
रगण, सगण तथा एक लघु और एक ...सभला गः शिखरिणी ।
सात वर्णों पर विराम हो तो उसे हरि... यगण, मगण, नगण, सगण,
व्यधित स विधिर्नेत्रं नी...गुरु हों एवं छः तथा ग्यारह पर यति
व्रजमृगदृशां ... हैं यथा—
यदयमनिशं ...न्त्रं तदपि च न जाने स्तुतिमहो
व्यकिरद... ध्यानं तदपि च न जाने स्तुतिकथाम् ।

१८. **रथोद्धता** – रान्नराविह रथोद्धता लगौ।

जिसके प्रत्येक पाद में रगण, नगण, रगण के बाद एक लघु और एक गुरु हो उसे रथोद्धता कहते हैं। यथा—

राधिका दधिविलोडनास्थिता कृष्णवेणुनिनदै रथोद्धता।
यामुनं तटनिकुञ्जमञ्जसा सा जगाम सलिलाहृतिच्छलात्॥

१९. **अनुष्टुप्**—

पञ्चमं लघु सर्वत्र, सप्तमं द्विचतुर्थयोः।
गुरु षष्ठं च जानीयाच्छेषेष्वनियमो मतः॥
प्रयोगे प्रायिकं प्राहुः केऽप्येतद् वृत्तलक्षणम्।
लोकेऽनुष्टुबिति ख्यातं तस्याष्टाक्षरता मता॥

अर्थात् वक्त्र नामक वृत्त में सब चरणों में पञ्चम वर्ण लघु तथा द्वितीय और चतुर्थ पाद में सप्तम वर्ण लघु एवं षष्ठ वर्ण गुरु होते हैं। अवशिष्ट वर्णों में कोई नियम नहीं है, कुछ विद्वानों ने इस लक्षण को भी प्रायिक ही माना है। उनके अनुसार प्रत्येक पाद में आठ वर्णों का होना ही आवश्यक है। यही छन्द लोक में अनुष्टुप् नाम से प्रसिद्ध है। यथा—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

कीर्ति· **आर्या**—

जि लक्ष्मैतत् सप्तगणा गोपेता भवति नेह विषमे जः।
और ती षष्ठो जो नलघू वा समेऽर्धे नियतमार्यायाः॥

में अन्तिम गुरु से युक्त सात गण होते हैं जिनमें प्रथम,
स्रग्धरा वृ ... आदि विषम गणों में जगण नहीं होता है। इसका
या सृष्टि... ष्टुराद्या ... है या नगण और एक लघु। इसके

१४. **पुष्पिताग्रा**—अयुजि ... अनेक भेद-प्रभेद हैं। आर्या का
जरगाश्च पुष्पिताग्रा।

अर्थात् प्रथम और तृतीय पादों में ... ड्भिर्हितततनुयष्टिः।
और एक यगण हो एवं द्वितीय और चतु ... सि कु स्वर्गा...
दो जगण, एक रगण के बाद एक गुरु हो
होता है। यथा—